प्रास्ताविक दो शब्द.

श्रीमान् **पं. अजितकुमारजीने** इस पुस्तकको तयार कर समाजकी एक कमीको बहुत अंशोंमें पूरा कर दिया है। इसमें कौन कौनसी बातोंपर प्रकाश डाला गया है यह ज्ञान प्रकरणसूचीके देखनेसे हो जायगा; उन प्रकरणोंको पृष्ठवार आगे दिखाया है। उन प्रकरणोंके बीच बीचमें और भी उपप्रकरण हैं वे पुस्तक पढते समय नजर आवेंगे। इस परिश्रमकेलिये हम लेखकको धन्यवाद देते हैं और इस धार्मिक निःस्वार्थ सेवाका आदर समाजमें भी हुए विना न रहेगा ऐसी हमें आशा है।

आजकल प्रेमके और एकताके गीत बहुत कुछ गाये जाते हैं। तथा हम भी खास कर श्वेतांबर समाजके साथ अपना प्रेमपूर्ण व्यवहार रखनेकी आवश्यकता समझते हैं और सारे समाजसे ऐसी ही अपील करते हैं। परंतु गलतीको जताना भी प्रेमके बाहिरका कर्तव्य नहीं है। दिखाये विना, गलती अपने आप नजरमें नहीं आती। इसलिये गलतीको दिखाना एक सुधारका तरीका हैं। हम आशा करते हैं कि इसपरसे समाज नाखुश न होकर लेखकके श्रमका आदर ही करेगा।

\+ × +

लेखककी इच्छा है कि जो प्रमादसे अथवा अज्ञानवश लिखनेमें गलती हुई हों उन्हे जो भाई सूचित करेंगे उनको हम आगामी सुधार देंगे। लेखककी इस सदिच्छा का भी विद्वान् लोग सदुपयोग करेंगे ऐसी हमें आशा है। 'सर्वः सर्वं न जानाति' यह ठीक है; परंतु इस पुस्तक पर से यह भी पता चल जायगा कि श्वेतांबर समाजने जैन धर्मके उच्च आदर्श को मलिन कर दिया है, इसमें संदेह नहीं है।

उत्कृष्ट ध्येयमें अपवाद रहना भी संभव है; परंतु अपवादों की भी सीमा होती है। अपवादके नामपर विरुद्ध आचार का समावेश कर डालना निष्पक्ष वृत्ति नहीं कहावेगी। जैन साधुको उत्कृष्ट दर्जेका जिनकल्पी नाम दिया वह तो स्वरूपानुरूप है। परंतु दूसरे स्थविर कल्पकी कल्पनाको खडी कर उसको गृहस्थसे भी अधिक कपडे और आहार व्यवहार में घेर देना यह सीमाका अतिरेक है। इसका पुस्तकमें काफी खुलासा किया है।

बाणभट्टने ' श्रीहर्षचरित ' काव्य लिखा है. उसके दूसरे उच्छ्वास पृष्ठ ३१ में, क्षमा धारियोंमें जिनको श्रेष्ठ दिखाते हुए ' जिनं क्षमासु ' ऐसा लिखा है। और आगे ८ वें उच्छ्वास पृष्ठ ७२ में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर साधुओंको दिखाते हुए श्वेताम्बरोंको ' श्वेतपट ' शब्दसे लिखा है और दिगम्बरोंको ' आर्हत ' शब्दसे लिखा है। देखो, ' तेषां तरूणां मध्ये नानादेशीयैः स्थानस्थानेषु स्थाणुनाश्रितैः......तरुमूलानि निषेवमाणैर्वीतरागैरार्हतैर्मस्करिभिः श्वेतपटैः पाण्डुरभिक्षुभिर्भागवतैर्वर्णिभिः......... '

अर्थात् राजाने जंगलमें जुदेजुदे धर्मवाले तपस्वियोंको देखा; उनमें वीतराग आर्हत थे और श्वेतपट भी थे। आर्हत तथा श्वेतपटके बीचमें मस्करी नाम आजानेसे ' आर्हत ' साधु श्वेतपटोंसे एक जुदे ठहरते हैं। अर्थात् बाणभट्टके समयमें श्वेताम्बर भी थे परन्तु वे आर्हत न कहाकर श्वेतपट कहाते और अर्हतका वारसा दिगम्बरोंको ही प्राप्त था, यह अर्थ सामर्थ्यप्राप्त हो जाता है। विद्वानोंकी अब भी यही समझ है।

× + ×

लेखकका परिचय दिगंबर जैन समाजको है। हालमें वे मुलतान रहते हैं और व्यापार करते हैं। आपका जन्मस्थान आगराके पास चावली ग्राम है. आपने धर्मशास्त्रका अध्ययन मोरेनामें रहकर अच्छा किया है और संस्कृत भाषाके अच्छे विद्वान् हैं। कुछ दिन जैन गजटका संपादन किया है और कुछ दिन बंबईमें रहकर एक मासिक पत्र स्वतंत्रासे चलाया था। मुलतानकी तरफ श्वेतांबर साधुओंका आना जाना अधिक रहता है। उनके द्वारा दिगंबर संप्रदायपर झूठे आक्षेप किये जाते हैं। और कुछ श्वेतांबर ग्रंथकारोंने भी दिगंबर मतकी बहुतसी बातोंका यद्वा तद्वा खंडन कर संकुचित बुद्धिका परिचय दिया है। यह बात इस पुस्तकके बाचनेसे मालूम होगी। इस लिये भी यह समीक्षा लिखनेका कारण उपस्थित होगया जान पड़ता है। परंतु इस निमित्तसे सारे ही समाज को लेखकने जो यह उपकार पहुंचाया है वह स्तुत्य है।

वंशीधर पंडित.

पुस्तक लेखकका अन्तिम-निवेदन.
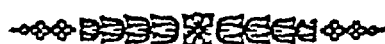
इस संसाररूपी गहन वनमें इस संसारी जीवका भला करने वाला केवल एक धर्म है। धर्मके अवलम्बनसे ही आत्मामें अच्छे गुणोंका विकाश होता है और अशान्ति, अधीरता, ईर्ष्या, दम्भ, कपट आदि कुत्सित भाव भाग जाते हैं व शान्ति, धैर्य, सत्य, उपकार आदि उज्वल गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। इस कारण आत्मिक उन्नति करनेके लिये धर्मका साधन एक बहुत आवश्यक कार्य है।

संसारकी अनेक योनियोंकी अपेक्षा इस मनुष्य योनिके भीतर आकर आत्माको धर्मसाधनके लिये सबसे अच्छा, सुलभ मौका मिलता है क्योंकि धर्मसाधनके सभी साधन जीवको इस योनि में मिल जाते हैं जो कि देवयोनिमें भी दुर्लभ हैं। इस कारण मानवशरीर पाकर धर्मसाधन सरीखा आवश्यक कार्य अवश्य करना चाहिये।

किन्तु; जहां पर जिस वस्तुकी बिक्री बहुत होती है वहां पर असली मालके साथ नकली झूठे भी सस्ते भावमें बिकनेके लिये आजाते हैं। सस्तेपनका प्रलोभन लोगोंको अन्धा बना देता है। इस कारण असली मालको छोडकर झूठे मालको भी लोग खरीदने लग जाते हैं। धर्मके विषयमें भी ठीक ऐसी ही बात है। धर्मकी खपत (बिक्री) भी मानव शरीर धारियोंमें ही बहुतसी होती है इस कारण धर्मके नामपर नकली माल भी यहां बिकता रहता है।

इस दशामें बुद्धिमान पुरुषका मुख्य कार्य यह होता है कि वह प्रलोभन जालमें न फसे. खरे खोटेकी परीक्षा करे. सदा प्रकाशमान उज्वल जवाहिरातका ग्राहक बने, वह चाहे उसको कुछ महंगा ही क्यों न दीखे। हां ! यदि शक्ति न हो तो थोडा ही खरीद करे किंतु खरीद सच्चे मालकी ही करे जिससे कभी छोडने, पछताने, धोखा खानेकी आवश्यकता न हो।

परख करनेपर जब धर्मोंमें जैनधर्म सच्चा जवाहिर ठहरता है तो बुद्धिमानका काम है कि इसी धर्मका अनुयायी बनें। कठिन आचरण प्रतीत हो तो थोडा ही शक्ति अनुसार पालन करें।

विकराल काल प्रवाहसे इस उज्वल जैनधर्मके भीतर भी विभाग हो गये हैं जो कि प्रारम्भमें तो केवल साधुओंके नग्न रहने तथा वस्त्र पहननेके ही पक्षपर खडे हुए थे किन्तु आगे आगे होनेवाले कुछ महाशयोंकी ऐसी कृपा हुई कि उन्होंने जैनग्रंथोंको निन्दापात्र बनानेके लिये अनेक जैनग्रंथोंमें उन खराब बातोंको मिला दिया जो कि न केवल जैनधर्मकी दृष्टिसे ही किंतु इतर धर्मोंकी दृष्टिसे भी अनुचित ठहरती हैं।

अब बुद्धिमान पुरुष वह है जो जैनग्रंथोंमेंसे उन बातोंको खोज निकाले जिनसे जैनधर्मको धब्बा लगता है।

हमने यह पुस्तक इसी कारण तयार की है कि हमारे श्वेताम्बर भाई जो बहुत दिनोंसे बिछुडे हुए हैं वे अपने उन ग्रंथोंका ध्यानसे निष्पक्ष होकर अवलोकन करें। जो बातें उन्हें उसमें अनुचित दीखें, पाखण्ड-प्रेमियोंकी मिलाई हुई मालूम हों उन्हें ग्रंथोंमेंसे दूर करनेका उद्योग करें। यदि किसी बातको हमने गलत समझा हो तो हमको समझावें।

यह समय धार्मिक प्रचारके लिये अच्छा उपयुक्त है, इस समय मिलकर प्रचार करें और जैन धर्मको एक बार फिरसे विश्वधर्म बनानेका शुभ उद्योग करें।

मेरी स्वल्प बुद्धिमें जो कुछ आप श्वेताम्बर भाइयोंको सुधारने और विचारनेके लिये उपयुक्त एवं आवश्यक दीख पडा वह आपके सामने रक्खा है। मेरे लिये भी यदि आपको इस प्रकारकी कोई सुधारणीय एवं विचारणीय बात मालूम हो तो आप मेरे सामने रक्खें। दृष्टिगोचर भूलोंको सुधारना और सुधरवाना ही बुद्धि और हितैषी लि॰ विचारका सदुपयोग है।

सारे ही

इति शम्.

—०—

प्रकरणसूची.

आद्य-वक्तव्य

विचारचतुरचेता पाठक महानुभाव ! जैनधर्मका प्रखर प्रतापशाली सूर्य किसी समय न केवल इस भारतवर्षमें किन्तु अन्य देशोंमें भी कुपथविनाशक प्रकाश पहुंचा रहा था। जिस यूनान देशमें आज जैन धर्मका नामोनिशान भी शेष नहीं, किसी समय उस यूनान देशमें जैन ऋषिवरोंने जैन धर्मका अच्छा प्रचार किया था। जैन धर्मका वह मध्यान्ह समय बीत चुका अब वह जैनधर्मकी गरिमापूर्ण महिमा केवल सत्यान्वेषी विद्वानोंके निर्माण किये हुए ऐतिहासिक ग्रंथोंमें ही नेत्रगोचर हो सकती है।

जैन धर्मका आधुनिक मंद प्रकाश उसके सायंकालीन प्रकाशको प्रकाशित कर रहा है। इस समय उस दिवाकरमें इतना भी प्रताप नहीं दीख पडता कि वह अपने जैन मंडलको भी पूर्ण तौरसे अपने प्रकाशका परिचय दे सके। जैनधर्मके इस शोचनीय प्रसंगके यद्यपि अनेक निमित्त पिछले समयमें सफलता पा चुके हैं। किन्तु अधः—पतनका प्रधान एवं प्रथम कारण यह हुआ कि आजसे लगभग २१००—२२०० वर्ष पहले संगठित जैन समुदायमें द्वादश-वर्षीय दुष्कालका निमित्त पाकर दिगम्बर तथा श्वेतांबर रूप दो विभाग हो गये। कोई भी संगठित संघ जब पारस्परिक विरोध लेकर दो विभागोंमें उठ खडा होता है उस समय उस संघकी गरिमा, महिमा, विस्तार, प्रचार प्रभाव, प्रकाश, कीर्ति आदि गुण सदाके लिये कितने फीके पड जाते हैं इसको सब कोई समझता है। तदनुसार जैन समुदायकी क्रमशः हीन अवस्था होते हुए यह अवनत दशा हो गई है कि जो अपने पहले समयमें संसारके कलह, विवाद, झगडोंको शान्त करनेके लिये न्यायाधीश का काम करता था, विश्वको शांतिप्रदान करता था वह जैन संघ आज पारस्परिक अशांतिका गणनीय क्षेत्र बना हुआ है अपने धार्मिक अधिकारोंका निर्णय करानेके लिये दूसरोंके द्वार खट-खटाता फिरता है।

अवनतिके इस (संघभेद) निमित्तपर प्रकाश डालनेके लिये तथा श्वेतांबर सम्प्रदायके निष्पक्ष निर्णयेच्छु सज्जनोंके अवलोकनार्थ कुछ लिखनेकी इच्छा पहले से ही थी जो कि तीन कारणोंसे और भी जाग्रत हो उठी थी।

१—अनेक श्वेतांबरीय विद्वानोंने निष्पक्ष युक्तियोंसे नहीं किंतु अनुचित असत्य कुयुक्तियोंसे दि० जैन सिद्धांतोंपर अपने ग्रंथोंमें आक्षेप किए हैं जो कि श्वेतांबरी भोली जनतामें भ्रांति उत्पन्न कर रहे हैं।

२—कतिपय अजैन विद्वानोंने श्वेतांबरीय ग्रंथोंमें मांसभक्षण आदि अनुचित विधान देखकर जैन धर्मकी निंदा करना प्रारंभ कर दिया था जिनका कि खुलासा उत्तर देकर जैन धर्मसे कलंक दूर करना भी आवश्यक था।

३—हमारे अनेक दिगम्बरी भ्राता भी, श्वेतांबरीय दिगम्बरीय सिद्धांतोंके विवादापन्न भेदसे अनभिज्ञ हैं उनको परिचय करानेके लिए स्थानीय दिगम्बरी ओसवाल भाइयोंकी प्रबल प्रेरणा थी।

इनके सिवाय तात्कालिक कारण एक यह भी हुआ कि सोलापुरसे वहांके प्रधानपुरुष धर्मवीर रा. रा. श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशी की सम्पादकीमें प्रकाशित होनेवाले मराठी भाषा के जैनबोधकमें (वीर सं २४५३ चैत्र मासके अंकमें) श्रीमान् पं. जिनदासजी न्यायतीर्थ सोलापुरका एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने एक अजैन विद्वान्के लेखका प्रतिवाद करते हुए लिखा था कि " दिगम्बर जैन शास्त्रोंमें मांस भक्षण विधान नहीं है "। उस अजैन विद्वान्ने अपनी लेखमालामें एक स्थानपर श्वेताम्बरीय आचारांग सूत्र ग्रंथ के ६२९ वें तथा ६३० वें सूत्रका प्रमाण देते हुए यह लिखा था कि अहिंसा धर्मके कट्टर पक्षकार जैनधर्मके धारक साधु भी पहले समयमें मांसभक्षण करते थे।

अजैन विद्वानोंद्वारा श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके आधारसे जैनधर्मकी ऐसी निन्दा होते देखकर हमारी वह इच्छा और भी प्रबल हो गई कि जनताके समक्ष सत्य समाचार रखना परम आवश्यक है जिससे कि जैनधर्मका असत्य अपवाद न होने पावे।

इन कारणोंसे बाध्य होकर ही यह ग्रंथ लिखा गया है। जैन धर्मके सत्य स्वरूपके जिज्ञासु तथा निष्पक्ष हृदयसे धार्मिक तत्वकी खोज करनेवाले हमारे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायके सज्जन शान्तिपूर्वक इस ग्रंथका अवलोकन करके गुणग्रहण और दोषवर्जन करेंगे ऐसी प्रार्थना तथा आशा है।

इस ग्रंथके निर्माणमें निम्नलिखित ग्रंथोंसे सहायता प्राप्त हुई है।

१– संशयवदन विदारण
२– गोम्मटसार
३– षटपाहुड
४– कल्पसूत्र (श्वेताम्बरीय)
५– भगवतीसूत्र ,,
६– आचारांगसूत्र ,,
७– प्रवचनसारोद्धार ,,
८– तत्वार्थाधिगमभाष्य ,,
९– तत्वनिर्णयप्रासाद ,,
१०– जैनतत्वादर्श ,,
११– भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध
१२– बंगाल बिहार प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक
१३– जैनसिद्धान्त भास्कर

श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनका तथा उसके भूतपूर्व दशम प्रतिमाधारी ब्र० ज्ञानचंदजी प्रबन्धक श्रीमान् पं. नन्दनलालजी वैद्यका भी बहुत आभार है क्योंकि आपकी कृपासे ही भगवतीसूत्र, तत्वार्थाधिगमभाष्य (श्वेताम्बर) ग्रंथोंके अवलोकनका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अलीगंज निवासी श्रीमान् बाबू कामताप्रसादजी को भी अनेक धन्यवाद हैं। आपने भी समयपर प्राचीन जैन स्मारक पुस्तक भेजनेका कष्ट उठाया था।

सबसे अधिक सहायता हम [स्थानीय] उस स्वर्गीय (श्रीमान् ला० देवीदासजी गोलच्छके उदारचेता सुपुत्र) ला० शंभुरामजी

समझते हैं जो कि स्थानीय दि० जैन मंदिरजीके शास्त्र भंडारमें प्रख्यात श्वेताम्बरीय ग्रंथोंको रख गये हैं और उनपर अनेक द्रष्टव्य विषयोंको चिन्हित कर गये हैं।

इन सबके सिवाय हम स्थानीय जैन सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता श्रीमान् ला० चौथरामजी सिंघीका नाम भी नहीं भुला सकते जिनकी सतत तीव्र प्रेरणासे यह ग्रंथ प्रारम्भ किया गया था। आप इस समय दिगम्बर जैन ओसवाल समाजके गणनीय नररत्न हैं। आपने दिगम्बर जैन ओसवाल समाजके प्रधान वृद्धिकर्ता स्वर्गीय पं० घनश्यामदासजी सिंघीके अनुरोधसे दिगम्बर जैनधर्मकी परीक्षा की तदनन्तर श्वेताम्बर जैनधर्मको छोडकर दिगम्बर जैनधर्म धारण किया है।

यह ग्रंथ सत्य असत्य निर्णयके लिये लिखा गया है इस कारण प्रत्येक सज्जन चाहे वह दिगंबर हो या श्वेतांबर, इस ग्रंथका एक बार अवश्य अवलोकन करें, परनिंदा को हम दुर्गतिका कारण समझते हैं और असत्य निंदाको अनन्त संसारका कारण घृणित कार्य मानते हैं किंतु सत्य असत्यका निर्णय सम्यग्ज्ञान एवं सुगतिका कारण मानते हैं इसी लक्ष्यसे इस ग्रंथको लिखा है। यदि कोई सदाशय विद्वान् किसी स्थलपर हमारी कोई त्रुटि बतला देंगे तो हम उनके कृतज्ञ होंगे।

उस अनंत सुखराशिमें विराजमान, विश्वप्रकाशक अचल ज्ञान ज्योतिसे विभूषित, अपारशक्तिसम्पन्न श्री १००८ जिनेंद्र भगवान्के भक्तिप्रसादसे एवं उनके स्मरण और ध्यानसे प्रारब्ध ग्रंथ समाप्त हुआ है।

ग्रंथका प्रारंभ चैत्र शुक्ला पंचमी वीर सं० २४५३ के दिन श्री दि० जैन मंदिर डेरा गाजीखानमें हुआ था और समाप्ति स्थानीय (मुलतानके) दि० जैन मंदिरमें आज मगसिर शुक्ला ५ मंगलवार वीर सं. २४५४ के प्रातः समय हुई है।

अजितकुमार शास्त्री

चावली-(आगरा), वर्तमान-मुलतान नगर

श्रीजिनदेवाय नमः

श्वेताम्बर मत समीक्षा.

देव वंदना.

तज रागद्वेष क्षुधा तृषादिक ध्यानसे खल कर्म हन,
अर्हन्तपद पाया अतुल जो अरु अनन्त सुशर्मधन ।
वैराग्य रससे पूर्ण केवलज्ञानयुत अभिराम है,
उस अजितवीर जिनेशको मम वार वार प्रणाम है ॥ १ ॥

शारदाविनय.

सब युक्तियोंसे जो अखंडित दयाधर्म प्ररूपिणी,
पूर्वपर अविरोधभूषित सर्व तत्व निरूपिणी।
संसारभ्रांत सुभव्य जनको दे सदा शुभ धाम है,
उस वीरवाणी शारदाको वार वार प्रणाम है ॥ २ ॥

गुरुस्तवन.

संसार व्याधि उपाधि सब आमूल से जो त्याग कर,
निज आत्ममें लवलीन रहते श्रेय समता भाव धर ।
लवलेश भी जिनके परिग्रह का नहीं संघर्ष है,
वो ही दिगम्बर वीतरागी पूज्य गुरु आदर्श है ॥ ३ ॥

आचार्य श्री शान्तिसागर.

उत्कृष्ट तप चारित्र धारी ज्ञानसिन्धु अगाध हैं,
मुनिरत्न जिनके शिष्य निरुपधि वीरसागर आदि हैं ।
भवसिन्धुतारक तमनिवारक शान्तिके आगार हैं,
आचार्यवर श्रीशान्तिसागर धर्मके पतवार हैं ॥ ४ ॥

उद्देश.

सत असत निर्णयहेतु इस सद्ग्रंथका प्रारंभ है,
निंदा प्रशंसासे न मतलब, नहीं द्वेष रु दंभ है ।

सन्मार्ग तो आदेय अरु है हेय जो उत्पथ सदा,
कर्तव्य सज्जनका यही जो, गहे शुभ मग सर्वदा ॥ ५ ॥

प्रथम परिच्छेद.

पीठिका.

समस्त संसारके वंदनीय, समस्त जगतके कल्याणविधाता, अनंत-शक्तिसम्पन्न, विश्वदर्शक बोध विभूषित, अनुपमसुखमंडित, अनन्तगुण-गण कलित, जिनेन्द्र, अर्हन्त, भगवान, परमेश्वर आदि अनेक नामोंसे सम्बोधित परमपवित्र आप्तप्रारक देवका अन्तःकरणसे स्मरण, वन्दना करके मैं ग्रंथ प्रारम्भ करता हूं।

इस विकट संसार अटवीके भीतर जन्म, जरा, मरण आदि व्याधियोंके द्वारा रातदिन सताये गये सांसारिक जीवोंका उद्धार करनेके लिये यद्यपि शरणदायक अनेक धर्म विद्यमान हैं, किन्तु वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध मार्ग बतलाते हैं इस कारण उनमें से सच्चा कल्याण दायक धर्म कोई एक ही हो सकता है, सभी नहीं। धर्मोंकी सत्यताकी परीक्षा करलेनेपर मालूम होता है कि प्रत्येक जीवको सच्ची शांति, एवं सच्चा सुख देनेवाला यदि कोई धर्म है तो वह जैनधर्म है इस कारण वह ही सच्चा धर्म है। 'अहिंसा' मात्र जो कि समस्त संसारका माननीय प्रधान धर्म है, इसी जैनधर्मके भीतर पूर्ण तौरसे विकसित रूपमें पाया जाता है।

कालकी कराल कुटिल प्रगतिसे इस जैनधर्मके भी अनेक खंड हो गये हैं और वे भी परस्पर दूसरेके विरुद्ध मोक्षसाधनकी प्रक्रिया बतलाते हैं। इस कारण जैनधर्मके भीतर भी सत्य, असत्य मार्ग खोज करनेकी आवश्यकता सामने आ खडी हुई है। विना परीक्षा किये ही यदि कोई मनुष्य जैनधर्मका धारक बनजावे तो संभव है कि वह भी सत्य मार्ग से बहुत दूर रह जावे।

इस कारण इस ग्रंथमें जैनधर्मपरिपालक संप्रदायोंकी सत्यता, असत्यताका दिग्दर्शन कराया जायगा।

जैन समाज इस समय तीन संप्रदायोंमें विभक्त (बटा हुआ) है। दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी। इनमेंसे श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायके भीतर सिद्धान्तकी दृष्टिसे कुछ विशेष भेद नहीं है। स्थूल भेद केवल यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूर्तिपूजक है अतएव जिनमंदिर, जिनप्रतिमा तथा तीर्थक्षेत्रोंको मानता है, पूजता है। किन्तु स्थानकवासी समाज जो कि लगभग ३०८ वर्ष पहले श्वेताम्बर सम्प्रदायसे प्रगट हुआ है जिनमंदिर, जिनप्रतिमा, और तीर्थक्षेत्रको न तो मानता है और न पूजता ही है, वह केवल गुरु और शास्त्रको मानता है।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायके साथ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायोंका सिद्धान्तकी दृष्टिसे बहुत भारी मतभेद है। इसलिये उसकी परीक्षा करना जरूरी है।

सच्चे देवका स्वरूप.

धर्मकी सत्यता, असत्यताकी खोज करनेके लिये तीन बातें जाच लेनी आवश्यक हैं; देव, शास्त्र और गुरू। जिस धर्मका प्रवर्तक देव, उस देवका कहा हुआ शास्त्र तथा उस धर्मका प्रचार करनेवाला, गृहस्थ पुरुषों द्वारा पूजनीय गुरु सत्य साबित हो वह धर्म सत्य है और जिस के ये तीनों पदार्थ असत्य साबित हों वह धर्म झूठा है। इस कारण यहांपर इन तीनों जैन सम्प्रदायोंके माने हुए देव, शास्त्र, गुरूकी परीक्षा करते हैं। उनमें से प्रथम ही इस प्रथम परिच्छेदमें देवका स्वरूप परीक्षार्थ प्रगट करते हैं।

दिगम्बर, श्वेतांबर, स्थानकवासी ये तीनों संप्रदाय अर्हंत और सिद्धको अपना उपास्य (उपासना करने योग्य) देव मानते हैं। तथा " आठ कर्मोंको नष्ट करके शुद्ध दशाको पाए हुए जो परमात्मा लोकशिखरपर विराजमान हैं वे सिद्ध भगवान हैं और जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अंतराय इन चार घाती कर्मोंका नाश करके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतबल यह अनंतचतुष्टय पा लिया है ऐसे जीवन्मुक्तिदशाप्राप्त परमात्माको अर्हन्त कहते हैं " यहांतक भी तीनों सम्प्रदाय निर्विवाद रूपसे स्वीकार करते हैं।

किंतु साथ ही अर्हंत भगवानके विशेष स्वरूप के विषयमें तीनों सम्प्रदायोंका परस्पर मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय अर्हंत भगवान्के भूख, प्यास, राग, द्वेष, जन्म, बुढापा, मरण, आश्चर्य, पीडा, रोग, खेद, (थकावट) शोक, अभिमान, मोह, भय, नींद, चिंता, पसीना ये १८ दोष नहीं मानता हैं और न उनपर किसी प्रकारके उपसर्गका होना मानता हैं। यानी— दिगम्बर सम्प्रदायका यह सिद्धांत है कि अर्हंत भगवान्में १८ दोषरूप बातें नहीं पाई जाती हैं और न उनपर कोई मनुष्य, देव, पशु किसी प्रकारका उपद्रव ही कर सकता हैं।

श्वेतांबर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायमें अर्हंत भगवान्पर यद्यपि सिद्धांतकी अपेक्षा उपसर्गका अभाव बतलाया है यानी इन दोनों संप्रदायोंके सिद्धांत ग्रंथ भी "अर्हंत भगवान् पर कोई उपद्रव नहीं हो सकता है" ऐसा कहते हैं किन्तु प्रथमानुयोगके कथा ग्रंथ इस नियमके विरुद्ध भी प्रगट करते हैं जिस को हम आगे बतलावेंगे। तथा १८ दोषोंका अभाव भी अर्हंत भगवानके बतलाते हैं किन्तु वे उन दोषोंके नाम दिगम्बर सम्प्रदायसे भिन्न कहते हैं। प्रवचनसारोद्धार (शा० भीमसिंह माणक द्वारा बंबईसे वि. सं. १९३४ में प्रकाशित तीसरा भाग) के १२० वें पृष्ठपर उनका नाम यों लिखा है—

> अन्नाण कोह मय माण लोह माया रईय अरईय।
> निद्द सोय अलिय वयण चोरीया मच्छर भयाय ॥ ४५७ ॥
> पाणिवह पेम कीला पसंग हासाइ जस्स इय दोसा।
> अट्ठारसवि पणट्ठा, नमामि देवाहिदेवं तं ॥ ४५८ ॥

अर्थात् अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभ, माया, [कपट] रति (राग) अरति, (द्वेष) नींद, शोक, असत्य वचन, चोरी, ईर्ष्या, भय, हिंसा, प्रेम, क्रीडा और हास्य ये अठारह दोष अर्हन्तके नहीं होते हैं।

इस विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायके मान्य १८ दोष इस कारण ठीक ठहरते हैं कि अर्हन्त भगवान्के ज्ञानावरणकर्म नष्ट होकर जो अनंतज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हुआ है उसके निमित्तसे आश्चर्य (अचंभा यानी

कोई अद्भुत बात जान कर अचरज होना) दोष नहीं रहता है। दर्शनावरण कर्मका नाश होकर अनन्तदर्शन उत्पन्न होनेके कारण नींद (निद्रा) दोष नहीं रहता है। मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेसे अर्हन्त के मोहकी सब दशाएं नष्ट होजातीं हैं तथा अनंत सुख प्रगट होता है जिससे कि रंचमात्र दुःख नहीं रहने पाता है। इस निमित्तसे जन्म, भूख, प्यास, पीडा, रोग, शोक, अभिमान, मोह, भय, चिन्ता, राग, द्वेष, मरण ये १५ दोष अर्हन्तके नहीं होते हैं और अन्तराय नष्ट होकर अर्हन्तके जो अनन्तबल प्रगट होता है उसके कारण खेद स्वेद, बुढापा ये दोष नहीं रह पाते हैं।

परन्तु-श्वेताम्बर, स्थानकवासी संप्रदायके बतलाये हुए १८ दोषोंके भीतर प्रथम तो मद, मान ये दोनों तथा रति, प्रेम ये दोनों एक ही हैं। मद तथा मानका एक ही " अभिमान करना " अर्थ है। रति (राग) और प्रेम इनमें भी कुछ अन्तर नहीं। इस कारण दोष वास्तवमें १६ ही ठीक बैठते हैं। तथा असत्य वचन, चोरी और हिंसा ये तीन दोष ऐसे हैं जो कि अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थानमें भी नहीं रहते हैं। वैसे तो मुनि दीक्षा ले लेनेपर ही हिंसा, झूठ बोलना, चोरी करना इन तीनों पापोंको पूर्ण रूपसे मुनि त्याग कर देते हैं किंतु प्रमाद विद्यमान रहनेके कारण कदाचित् अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रतमें कुछ दोष भी लगता हो तो वह प्रमाद न रहनेसे सातवें गुणस्थानमें बिलकुल नहीं रह पाता है। इस कारण जब कि सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिके ही मन, वचन, कायकी अशुभ प्रवृत्तिका त्याग हो जानेसे हिंसा, असत्य वचन और चोरी नहीं रहने पाती है तो इन तीनों बातोंका अभाव अर्हंत भगवान् में बतलाना व्यर्थ है। अर्हंत भगवानके तो उन दोषोंका अभाव बतलाना चाहिए जो कि उनसे ठीक नीचेके गुणस्थानवाले मुनियोंके विद्यमान, मौजूद हों। जो बात सातवें गुणस्थानवाले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) मुनियोंके भी नहीं हैं उस बातका अभाव केवली भगवानके कहना निरर्थक है।

तथा— अठारह दोषोंमें भूख, प्यास, रोग आदि दोषोंकी उद्भूति माननेके कारण श्वेतांबर, स्थानकवासी संप्रदायके माने हुए अर्हंत भगवानके अनंतसुख, अनंतबल नहीं हो सकते हैं। इनको आगे सिद्ध करेंगे। इस कारण १८ दोषोंका श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ठीक नहीं बनता है।

अर्हन्त भगवान्में अनन्त चतुष्टयके सद्भाव और अठारह दोषोंके अभाव होने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता प्रगट होती है।

यानी—अर्हन्त भगवान् राग, द्वेष, मोह, आदि दोष न रहनेके कारण वीतराग कहलाते हैं। तदनुसार वे किसी पदार्थपर राग, द्वेष यानी प्रेम और वैर नहीं करते हैं। केवलज्ञान हो जानेसे वे समस्त लोक, समस्त कालकी सब बातोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं इस कारण वे सर्वज्ञ कहलाते हैं। और इच्छा न रहनेपर भी वचनयोगके कारण तथा भव्यजीवोंके पुण्य कर्मोंके निमित्तसे उन जीवोंको कल्याण करनेवाला उपदेश देते हैं इस कारण हितोपदेशी कहलाते हैं।

ये तीनों बातें दिगम्बरीय अभिमत अर्हन्तमें तो बन जाती हैं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायानुसार अर्हन्त भगवानमें वीतरागता तथा सर्वज्ञता नहीं बनती है। सो आगे दिखलावेंगे।

इस प्रकार अर्हन्तदेवका ठीक-सच्चा स्वरूप दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धान्त अनुसार तो ठीक बन जाता है किन्तु श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदायके सिद्धान्त अनुसार अर्हन्तदेवका सच्चा स्वरूप ठीक नहीं बनता।

क्या केवली कवलाहार करते हैं ?

अब यहां इस विषयपर विचार चलता है कि अर्हन्त भगवान् जो कि मोहनीय कर्मका समूल नाश करके वीतराग हो चुके हैं, केवलज्ञान हो जानेसे जिनको केवली भी कहते हैं कवलाहार (हमारे तुम्हारे समान ग्रासवाला भोजन) करते हैं या नहीं!

इस विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायका यह सिद्धान्त है कि केवली भगवान् वीतरागी और अनन्त सुखधारी होनेके कारण कवलाहार नहीं करते हैं। क्योंकि उनके 'भूख' नामक दोष नहीं रहा है। श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदायका यह कहना है कि केवली भगवानके वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है इस कारण उनको भूख लगती है जिससे कि उनको भोजन करना पड़ता है। विना भोजन किये केवली भगवान् जीवित नहीं रह सकते।

ऐसा परस्पर मतभेद रखते हुए भी तीनों सम्प्रदाय केवली भगवान्को वीतरागी और अनंतसुखी निर्विवादरूपसे मानते हैं।

इस समय सामने आये हुए प्रश्नका समाधान करनेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि भूख लगती क्यों है? किन किन कारणोंसे जीवोंके उदरमें भूख आकुलताको उत्पन्न कर देती है? इस विषयमें सिद्धान्तग्रंथ गोम्मटसार जीवकाण्डमें यों लिखा है,

आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए।
सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णाओ ॥ १३४ ॥

अर्थात्— अच्छे अच्छे भोजन देखने से, भोजन का स्मरण कथा आदि करने से, पेट खाली हो जानेसे और असाता वेदनीयकी उदीरणा होनेपर आहारसंज्ञा यानी भूख पैदा होती है।

इन चार कारणोंमेंसे अंतरंग मुख्य कारण असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा (अपकपाचन उदीरणा—यानी—आगामी समयमें उदय आनेवाले कर्मनिषेकोंको बलपूर्वक वर्तमान समयमें उदय ले आना। जैसे वृक्षपर आम बहुत दिनमें पकता; उसे तोडकर भूसेके भीतर रखकर जल्दी पहलेही पका देना) है। विना असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा हुए भूख लगती नहीं है।

इस कारण अर्हन्त भगवान्को यदि भूख लगे तो उनके असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा अवश्य होनी चाहिये। किन्तु वेदनीय कर्मकी उदीरणा तेरहवें गुणस्थान में विराजमान अर्हन्त भगवान्के है नहीं। क्योंकि वेदनीय कर्मकी उदीरणा छट्टे गुणस्थान तक ही है, आगे नहीं है।

श्वेताम्बरीय ग्रंथ प्रकरणरत्नाकर चतुर्थ भागके षडशीतिनामक चौथे खंडकी ६४ वीं गाथा ४०२ पृष्ठपर लिखी है कि—

उइरंति पमत्तंता सगट्ठ मीसट्ठ वेअ आउ विणा।
छग अपमत्ताइ तऊ छ पंच सुदुमो पणु वसंतो। ६४।

अर्थात्– मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले से छठे गुणस्थान तक आठों कर्मोंकी उदीरणा है। उसके आगे अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय और आयुकर्मके विना ६ कर्मोंकी उदीरणा होती है। दशवें तथा ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीय, वेदनीय, आयुके विना शेष पांच कर्मोंकी उदीरणा होती है।

आगेकी ६५ वीं गाथा इसी पृष्ठपर यों है—

" पण दो खीण दुजोगीऽणुदीरगु अजोगिथोव उवसंता ।

यानी· बारहवें गुणस्थानमें अंत समयसे पहले ग्यारहवें गुणस्थानकी तरह पांच कर्मोंकी उदीरणा होती है। अंतसमयमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय मोहनीय, वेदनीय, आयु इन ६ कर्मोंके सिवाय शेष नाम, गोत्र इन दो कर्मोंकी ही उदीरणा होती है। सयोग केवली १३ वें गुणस्थानमें भी नाम, गोत्र कर्मकी ही उदीरणा होती है। १४ वें गुणस्थानमें उदीरणा नहीं होती है।

इस प्रकार जब कि वेदनीय कर्मकी उदीरणा छटवें गुणस्थान तक ही होती है तो नियमानुसार यह भी मानना पडेगा कि भूख भी छठे गुणस्थान तक ही लगती है। उसके आगेके गुणस्थानोंमें न तो उदीरणा है और न इस कारण उनमें भूख ही लगती है।

तदनुसार जब कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त भगवान्को वेदनीय कर्मकी उदीरणा न होने से भूख ही नहीं लगती फिर उस भूखको मिटानेके लिये वे भोजन ही क्यों करेंगे? यानी नहीं करेंगे; क्योंकि कवलाहार (भोजन) भूख मिटानेके लिये ही भूख लगनेपर ही किया जाता है। अन्यथा नहीं।

इस कारण कर्मग्रंथोंके सिद्धान्त अनुसार तो केवली भगवान्के

कवलाहार सिद्ध नहीं होता है। यदि फिर भी श्वेताम्बरी भाई वेदनीय कर्मके उदय से ही भूख लगती बतला कर केवली भगवान्के कवलाहार सिद्ध करेंगे क्यों कि केवली भगवानके साता या असाता वेदनीय कर्मका उदय रहता है। तो भी नहीं है; क्योंकि वेदनीय कर्मका उदय प्रत्येक जीवको प्रत्येक समय रहता है। सोते जागते कोई भी ऐसा समय नहीं कि वेदनीय कर्मका उदय न होवे; इस कारण आपके कहे अनुसार हर समय क्षुधा लगी ही रहनी चाहिये और उसको मिटानेके लिये प्रत्येक जीवको प्रत्येक समय भोजन करते ही रहना चाहिये। इस तरह सातवें गुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक जो मुनियोंके धर्मध्यान, शुक्लध्यानकी दशा है उस समय भी वेदनीय कर्मके उदय होनेसे आपके कहे अनुसार भूख लगेगी। उसको दूर करनेके लिये उन्हें आहार करना आवश्यक होगा। इसीलिये उनके ध्यान भी नहीं बन सकेगा।

तथा—केवली भगवानके भी हर समय वेदनीय कर्मका उदय रहता है इस लिये उनको भी हरसमय भूख लगेगी जिसके लिये कि उन्हें हर समय भोजन करना आवश्यक होगा। बिना भोजन किये वेदनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई क्षुधा उन्हें हर समय व्याकुल करती रहेगी। ऐसा होनेपर श्वेताम्बरी भाइयोंका यह कहना ठीक नहीं रहेगा कि केवली भगवान् दिनके तीसरे पहरमें एक बार भोजन करते हैं।

इस लिये मानना पडेगा कि भूख असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेपर लगती है। यदि फिर भी इस विषय में कोई महाशय यह कहें कि वेदनीय कर्मके तीव्र उदय होनेपर ही भूख लगती है। वेदनीय कर्मका जबतक मंद उदय रहता है तबतक भूख नहीं लगती।

तो इसका उत्तर यह है कि भूख लगानेवाले वेदनीय कर्मका उदय केवली भगवानके तीव्र हो नहीं सकता क्योंकि वे यथाख्यात चारित्रके धारक हैं तदनुसार उनके परिणाम परम विशुद्ध हैं। विशुद्ध-परिणामोंसे दुख देनेवाले अशुभ कर्मोंका उदय मंद रहता है यह कर्म-सिद्धांत अटल है। इसलिये केवली भगवान्के मोहनीय कर्म न रहने

परम पवित्र परिणाम रहते हैं और इस कारणसे (आपके कहे अनुसार) भाव पैदा करनेवाले अशुभ कर्मका बहुत मंद उदय रहता है। इसलिये भी केवली भगवान्को भूख नहीं लग सकती जिससे कि वे कवलाहार भी नहीं कर सकते।

इसका उदाहरण यह है कि छठे, सातवें, आठवें तथा नवम गुणस्थानमें (कुछ स्थानोंमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक भाव वेदोंका मंद उदय है इस कारण उन गुणस्थानवाले मुनियोंके विषय सेवन करनेकी इच्छा नहीं होती है। यदि वेदनीय कर्मके मंद उदयसे केवली भगवान्को भूख लग सकती है तो श्वेताम्बरी भाइयोंको यह भी कहना पड़ेगा कि वेदोंके मंद उदय होनेसे छठे, सातवें आठवें, नववें, गुणस्थानवर्ती साधुओंके भी विषय सेवन की (मैथुन करनेकी) इच्छा उत्पन्न होती है। और इसी कारण उनके धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नहीं है।

वेदनीयकर्म केवलीके भूख उत्पन्न नहीं कर सकता २

असाता वेदनीय कर्म के उदयसे केवली भगवान् को भूख इस लिये भी नहीं लग सकती कि उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है। वेदनीय कर्म अपना फल मोहनीय कर्मकी सहायतासे ही देता है। मोहनीय कर्मके विना वेदनीय कर्म वेदना उत्पन्न नहीं कर सकता। गोमटसार कर्मकांडमें लिखा है-

घादिव वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्मि पढिदंतु ॥ १८ ॥

अर्थात्—वेदनीय कर्म घाती कर्मोंके समान जीवके अव्याबाध गुणको मोहनीय कर्मकी सहायतासे घातता है। इसी कारण वेदनीय कर्म मोहनीय कर्मके पहले एवं घातिया कर्मोंके बीचमें तीसरी संख्यापर रक्खा गया है।

जबकि केवली भगवानके मोहनीय कर्म बिल्कुल नहीं रहा तब वेदनीय कर्म को सहायता भी कहां से मिल सकती है। और जब कि वेदनीय कर्मको मोहनीय कर्मकी सहायता न मिले तब वह वेदना भी कैसे उत्पन्न कर सकता है ? यानी-नहीं कर सकता।

मोहनीय कर्म जब रहता है तब साता वेदनीय के उदयसे इन्द्रिय-जनित सुख होता है जो कि राग भावसे वेदन किया जाता है। और असाता वेदनीय कर्म के उदयसे जो दुख होता है उसका द्वेष भावसे वेदन किया जाता है। केवली भगवान्के जब कि राग, द्वेष ही नहीं रहा तब इंद्रियसुखदुखरूप वेदन ही कैसे होवे? और जब दुःखरूप वेदन नहीं, फिर भूख कैसे लगे? जिससे कि केवलीको भोजन अवश्य करना पडे। भूख का शुद्ध रूप बुभुक्षा है जिसका कि अर्थ "खानेकी इच्छा" होता है। केवली के जब मोहनीय कर्म नहीं तब उसके खानेकी इच्छा भी नहीं हो सकती। खानेकी इच्छा उत्पन्न हुए विना उनके भूखका कहना व्यर्थ तथा असंभव है। इस लिये भी केवली के कवलाहार नहीं बनता है।

भूख लगे दुख होय अनंतसुखी
कहिये किमि केवलज्ञानी. ३

अन्य सब बातोंको एक ओर छोडकर मूल बातपर विचार चलाइये कि अनंतसुखके स्वामी अर्हत भगवान्को भूख लग भी कैसे सकती है? क्योंकि भूख लगनेपर जीवोंको बहुत भारी दुःख होता है। केवल ज्ञानीको दुःख लेशमात्र भी नहीं है। इस कारण हमारे श्वेताम्बरी भाई या तो केवली भगवान्को "अनंतसुखधारी" कहें-भूख वेदनासे दुखी न बतलावें। अथवा केवलीको भूख की वेदनासे दुखी होना कहें इस लिए अनन्तसुखी न कहें। बात एक बनेगी दोनों नहीं।

भूखकी वेदना कितनी तीव्र दुःखदायिनी होती है इसको किसी कविने अच्छे शब्दोंमें यों कहा है—

आदौ रूपविनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वंसिनी,
ज्ञानभ्रंशकरी तपःक्षयकरी धर्मस्य निर्मूलिनी।
पुत्रभ्रातृकलत्रभेदनकरी लज्जाकुलच्छेदिनी,
सा मां पीडति विश्वदोषजननी प्राणापहारी क्षुधा।

अर्थात्—क्षुधा पीडित मनुष्य कहता है कि भूख पहले तो

बिगाड देती है यानी मुखकी आकृति फीकी कर देती है, फिर शरीर कृश (दुबला) कर देती है, काम वासनाका नाश कर देती है, भूखसे ज्ञान चला जाता है, भूख तपको नष्ट कर देती है, धर्मका निर्मूल क्षय कर देती है, भूख के कारण पुत्र, भाई, पत्नीमें भेदभाव (कलह) हो जाता है, भूख लज्जाको भगा देती है, अधिक कहांतक कहें प्राणोंका भी नाश कर देती है। ऐसे समस्त दोष उत्पन्न करनेवाली क्षुधा (भूख) मुझे व्याकुल कर रही है।

भूख जीव की क्या दशा होती है इसको एक कविने इन मार्मिक शब्दोंमें यों प्रगट किया है।

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥

यानी–भूखसे तडफडाती हुई माता अपने उदर से निकाले हुए प्रियपुत्रको छोड देती है। भूखसे व्याकुल सर्पिणी अपने ही अंडोंको खा जाती है। विशेष क्या कहें भूखा मनुष्य कौनसा पाप नहीं कर सकता ? (यानी–सभी अनर्थ कर सकता है) क्योंकि भूखे मनुष्य निर्दय होजाते हैं।

ऐसी घोर दुखदायिनी भूख परिषह यदि केवलज्ञानीको वेदना उत्पन्न करे तो फिर केवलीका अनन्तसुख क्या कार्यकारी होगा ? इसका उत्तर श्वेताम्बरी भाई देवें,

भूख अपनी दुखवेदना केवलीको भी आपके अनुसार कष्ट तो देती है क्योंकि आप उनके क्षुधापरीषह नाममात्रको ही नहीं किन्तु कार्यकारिणी भी बतलाते हैं। फिर जब कि केवली भूखकी वेदनासे दुखी होते हैं व तब उनको पूर्ण सुखी बतलाना व्यर्थ है। हमारे तुम्हारे समान अल्पसुखी एहु। जैसे हमको भूख, प्यास लगती है खा पी लेने पर शान्त हो जाती है आपके कहे अनुसार केवलीकी भी ऐसी ही दशा रही।

खात विलोकन लोकालोक,
देखि कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी ?

तथा अर्हंत भगवान्‌को समस्त लोक अलोक को हाथकी रेखा समान विना उपयोग लगाये ही स्पष्ट जानने वाला केवलज्ञान प्राप्त हो चुका है जिसके कारण वे लोकमें भोजनके अन्तराय उत्पन्न करने वाले अनन्त अपवित्र पदार्थोंको प्रत्येक समय विना कुछ प्रयत्न किये साफ देख रहे हैं फिर वे भोजन कर भी कैसे सकते हैं ?

साधारण मुनि भी मांस, रक्त, पीव, गीला चमडा, गीली हड्डी किसी दुष्ट के द्वारा किसी जीवका मारा जाना देखकर, शिकारी आततायी आदि द्वारा सताये गये जीवोंका रोना विलाप सुनकर भोजन को छोड देते हैं फिर भला उनसे बहुत कुछ ऊंचे पदमें विराजमान, यथाख्यात चारित्रधारी केवलज्ञानी अपवित्र पदार्थोंको तथा दुःखी जीवोंको केवलज्ञानसे स्पष्ट जान कर भोजन किस प्रकार कर सकते हैं ? अर्थात् अंतराय टालकर निर्दोष आहार किसी तरह नहीं कर सकते ।

मांस, खून, पीव, निरपराध जीवका निर्दयतासे कत्ल (वध) आदि देखकर भोजन करते रहना दुष्ट मनुष्यका कार्य है, क्या केवलज्ञानी सब कुछ जान देख कर भी भोजन-करते हैं सो क्या वे भी वैसे ही हैं ?

केवलज्ञानीके असाताका उदय कैसा है ?

कोई भी कर्म हो अपना अच्छा बुरा फल बाह्य निमित्त कारणोंके मिलनेपर ही देता है। यदि कर्म की प्रकृति अनुसार बाहरी निमित्त कारण न होवें तो कर्म विना फल दिये झड जाता है। जैसे किसी मनुष्य ने विष खाकर उसको पचा जाने वाली प्रबल औषध भी खाली हो तो वह विष अपना काम नहीं करने पाता है ।

कर्मसिद्धान्तके अनुसार इस बातको यों समझ लेना चाहिये कि देवगतिमें (स्वर्गोंमें) असाता वेदनीय कर्मका भी उदय होता है । अहमिन्द्र आदि उच्च पद प्राप्त देवोंके भी पूर्व बंधे हुए असाता वेदनीय कर्मका स्थिति अनुसार उदय होता है किन्तु

उनके पास बाहरके समस्त कारणकलाप सुखजनक हैं इस कारण वह असाता वेदनीय कर्म भी दुख उत्पन्न नहीं करने पाता। साता वेदनीय रूप होकर चला जाता है।

तथा नरकोंमें नारकी जीवोंके समय अनुसार कभी साता वेदनीय कर्मका भी उदय होता है किन्तु वहांपर द्रव्य क्षेत्रादिकी सामग्री दुःख-जनक ही है इस कारण वह सातावेदनीय कर्म नारकियोंको सुख उत्पन्न नहीं कर पाता; दुख देकर ही चला जाता है।

एवं तेरहवें गुणस्थानमें यानी केवलज्ञानियोंके ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय होता जिनमें से अस्थिर, अशुभ, दुःस्वर, अप्रशस्त विहायोगति तथा तैजसमिश्र आदि अनेक ऐसी अशुभ प्रकृतियां हैं जो कि उदयमें तो आती हैं किन्तु बाहरी कारण अपने योग्य न मिल सकनेके कारण विना बुरा फल दिये चली जाती हैं। क्योंकि अस्थिर प्रकृतिके उदयसे केवलज्ञानीके धातु उपधातु अपने स्थानसे चलायमान होकर शरीरको बिगाडते नहीं हैं। (श्वेताम्बरीय सिद्धांत अनुसार) न अशुभ नाम कर्मके उदयसे केवलज्ञानीका शरीर खराब हो जाता है और न दुःस्वर प्रकृतिके उदयसे केवलज्ञानीका असुन्दर स्वर हो पाता है। इत्यादि.

इसी प्रकार केवली भगवानके यद्यपि असाता वेदनीय कर्मका उदय होता है किन्तु केवलज्ञानी के निकट दुःख उत्पन्न करनेवाला कोई निमित्त नहीं होता है, सब सुख उत्पन्न करनेवाले ही कारण होते हैं। अनन्त सुख प्रगट हो जाता है। इसी कारण वह असाता वेदनीय निमित्त कारणोंके अनुसार सातारूपमें होकर विना दुख दिये चला जाता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रंथकी २७४-२७५ वीं गाथाओंमें कहा है कि—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि॥ २७४॥
एदेण कारणेणदु सादस्सेव हु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि॥ २७५॥

अर्थात्— क्योंकि केवलज्ञानीके सिर्फ साता वेदनीय कर्मका बंध एक समय स्थितिवाला होता है जो कि उस ही समय उदय आजाता है। इस कारण उस साता वेदनीयके उदयके समय, पहले बंधे हुए असाता वेदनीय कर्मका यदि उदय हो तो वह भी साता वेदनीयके निमित्तसे सातारूप होकर ही चला जाता है। इसी कारण केवलज्ञानी के सदा सातावेदनीयका उदय रहता है। अत एव असाता वेदनीयके उदयसे होने योग्य क्षुधा आदि ११ परीषह नहीं हो पाती हैं।

इस प्रकार कर्मसिद्धान्तसे भी स्पष्ट सिद्ध हो गया कि केवलज्ञानी-को न तो भूख लग सकती है और न वे उसके लिये भोजन ही करते हैं।

——:०:——

भोजन करना आत्मिक दुःखका प्रतीकार है।

केवलज्ञानके प्रगट होनेपर अर्हत भगवान्में अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है जिससे कि केवलज्ञानी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शनधारी, अनन्तसुखी और अनन्त आत्मिकशक्ति सम्पन्न होते हैं। तदनुसार केवली भगवान्को कवलाहारी माननेवाले श्वेतांबर सम्प्रदायके समक्ष यह प्रश्न स्वयमेव खडा हो जाता है कि "जब केवलज्ञानी पूर्णतया अनन्त सुखी होते हैं तो फिर उनको भूखका दुःख किस प्रकार हो सकता है जिसको कि दूर करनेके लिये उन्हें विवश (लाचार) होकर साधारण मनुष्योंके समान भोजन अवश्य करना पडे ?

इस प्रश्नका उत्तर यदि कोई श्वेताम्बरीय सज्जन यह दें जैसा कि कतिपय सज्जनोंने दिया भी है कि "केवली वास्तवमें अनन्त सुखी ही होते हैं। उनके आत्माको लेशमात्र भी दुख नहीं होता। अतएव वे उस दुःखका अनुभव भी नहीं कर सकते। हां, केवली भगवानको असाता वेदनीय कर्मके उदयसे भूख अवश्य लगती है किन्तु वह भूखका दुःख शारीरिक होता है—उनके शरीरको दुःख होता है आत्माको नहीं। इस कारण भूख लगनेके समय भी केवली भगवान् अपने आत्माके अनन्त सुखका अनुभव

करते रहते हैं। जिस प्रकार ध्यानमग्न साधुके ऊपर असह्य शारीरिक वेदना देने वाला उपसर्ग होता है किन्तु उनको वह दुख रंचमात्र भी नहीं मालूम होता। वे अपने आत्माके अनुभवमें लीन रहते हैं।"

श्वेताम्बरीय भाइयोंका यह उत्तर भी निःसार है अतएव उपहास जनक है। क्योंकि भूखसे यदि केवलज्ञानीके आत्माको असह्य कष्ट न होवे तो उनको भोजन करनेकी आवश्यकता ही क्या? भोजन मनुष्य तब ही करते हैं जब कि उनका आत्मा व्याकुल हो जाता है। किसी भी कार्य करनेमें समर्थ नहीं रहता। ज्ञानशक्ति विद्यमान रहनेपर भी क्षुधाकी असह्य वेदनासे किसी विषयका विचार नहीं कर सकते।

इस कारण केवलज्ञानीको कवलाहारी माना जाय तो यह भी निःसन्देह मानना होगा कि उनको भूखका असह्य दुःख उत्पन्न होता है उसको दूर करनेके लिए ही वे भोजन करते हैं। इस माननेसे वे अनन्त अविच्छिन्न सुखके अधिकारी नहीं माने जा सकते।

—०—

केवलज्ञानीको भूख कैसे मालूम होती है?

हम सरीखे अल्पज्ञ जीवोंको तो भूख लगनेपर बहुत भारी व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस कारण हमारा मन हमको खबर दे देता है। उसकी सूचना पातेही हम भोजनसामग्री एकत्र करनेमें लग जाते हैं। भोजन तयार हो जानेपर आरम्भ कर देते हैं और तब तक खाते पीते रहते हैं जब तक हमारा मन शान्ति न पा ले। मनकी शान्ति देखकर हम खाना बंद कर देते हैं।

इसी प्रकार केवलज्ञानीको जब भूख लगे तब उन्हें मालूम कैसे हो कि हमको भूख लगी है? क्यों कि उनके मन (भावरूप) रहा नहीं है। इस कारण मानसिक ज्ञान नहीं। यदि वे केवलज्ञानसे अपनी भूखको जानकर भोजन करते हैं तो बात कुछ बनती नहीं क्योकि केवलज्ञानसे तो वे सब जीवोंकी भूखको जान रहे हैं। फिर वे औरोंकी भूख जानने के समय भी भोजन क्यों नहीं करते हैं। क्योंकि दोनो जानने बराबर हैं उनमें कुछ अंतर नहीं,

तथा- जब उन्हें केवलज्ञानसे यह बात मालूम हो कि मुझे भोजन अमुक घरका मिलेगा; फिर भिक्षाशुद्धि कैसे बनेगी? एवं भोजन ग्रहण करने वे स्वयं जाते नहीं। दूसरों द्वारा लाये हुए भोजनको पालेते हैं। फिर उनके भिक्षाशुद्धि कैसे बने? और भिक्षाशुद्धि के विना निर्दोष आहार कैसे हो?

तथा—भोजन करते करते केवलीकी उदरपूर्ति को मन विना कौन बतलावे? केवलज्ञान तो सभी मनुष्योंके भोजन द्वारा पेट भरजानेको बतलाता है।

मोहके विना खाना पीना कैसे? ६

मनुष्य अपने लिये कोई भी कार्य करता है वह विना मोहके नहीं करता है। यदि वह अपने किसी इस लोक परलोक संबंधी लाभके लिये कोई काम करता है तो वहां उसके राग भाव होते हैं। और जहां जान बूझकर अपने या दूसरोंके लिये कोई बुरा कार्य करता है तो वहां द्वेष भाव होता है। तदनुसार जिस समय वह अपनी भूख मिटाने के लिये भोजन करनेको तयार होता है उस समय उसको अपने प्राणों से तथा उन प्राणोंकी रक्षा करने वाले उस भोजनसे राग (प्रेम) होता है। वह समझता है कि यदि मैं भोजन नहीं करूंगा तो मर जाऊंगा। इस कारण मरनेके भयसे भोजन करता है।

केवलज्ञानी जिनको लेश मात्र भी मोह नहीं रहा है, राग द्वेष जड़ मूलसे दूर हो चुके हैं, उनके फिर भोजन करनेकी इच्छा किस प्रकार हो सकती है? और विना इच्छाके अपने प्राण रक्षणार्थ भोजन भी वे कैसे कर सकते हैं?

उन्हें अपने औदारिक शरीर रक्षाकी इच्छा तथा मरनेसे भय होगा तो वे भोजन करेंगे। विना इच्छाके भोजनसे हाथ क्यों लगावें? भोजनका ग्रास (कौर-कवल) बनाकर मुखमें कैसे रक्खें? विना इच्छाके उसे दांतोंसे चबानेका श्रम [मिहनत] तथा कष्ट क्यों करें? और बिना इच्छाके उस चबाये हुए मुखके भोजनको गलेके नीचे कैसे उतारें? यानी—ये सब कार्य इच्छा—रागभाव से ही हो सकते हैं।

यह तो है नहीं कि विहायोगति कर्मके उदयसे तथा अन्यदेश वर्ती जीवोंके पुण्यविपाकके निमित्तसे जैसे उनके गमन होता है या वचन योगके वशसे तथा भव्य जीवोंके पुण्य विपाकसे जैसे दिव्यध्वनि होती है उसी प्रकार केवली भगवान्‌के भोजन भी विना इच्छाके वेदनीय कर्मके उदयसे अपने आप हो जायगा; क्योंकि आकाशगमन और दिव्यध्वनिमें एक तो केवली भगवानका कोई निजी स्वार्थ नहीं जिससे उनके उस समय इच्छा अवश्य होवे। दूसरे वे दोनों कार्य कर्मके उदयसे परवश उन्हें करने पडते हैं, नामकर्म कराता है। परंतु वेदनीय कर्म तो ऐसा नहीं कर सकता।

वेदनीय कर्म यदि आपके कहे अनुसार कार्य भी करे तो अधिकसे अधिक यही कर सकता है कि असह्य (न सहने योग्य) भूख वेदना उत्पन्न कर दे किंतु वह भोजन करनेकी इच्छा तो किसी प्रकार भी उत्पन्न नहीं कर सकता; क्योंकि इच्छा वेदनीयका कार्य नहीं है। और न बलपूर्वक [जबरदस्ती] भोजन ही करा सकता है। क्योंकि वह तो [असाता वेदनीय] केवल दुःख उत्पादक है। दुःख हटानेकी चेष्टा मोहनीय कर्म कराता है। इस कारण केवली भगवान्‌के भोजन करें तो मोह अवश्य मानना पडेगा।

तथा—एक बात यह भी है कि केवलज्ञानी यदि भोजन करें तो अपनी अपनी जठराग्निके (पेटकी भोजन पचानेवाली अग्निके) अनुसार कोई केवली थोडा भोजन करेंगे और कोई बहुत करेंगे; क्योंकि ऐसा किये विना उनके पूर्ण तृप्ति नहीं होगी। पूर्ण तृप्ति हुए विना उन्हें शान्ति, सुख नहीं मिलेगा। अतः यदि वे पेट पूरा भरकर भोजन करें तो अव्रती लोगोंके समान भोगाभिलाषी हुए। यदि भूखसे कुछ कम भोजन करें तो दो दोष आते हैं; एक तो यह कि उनका पेट खाली रह जानेसे पूरी तृप्ति नहीं होगी अतः सुखमें कमी रहेगी। दूसरा यह कि—जब वे यथाख्यात चारित्र पा चुके हैं तब उन्हें ऊनोदर (भूखसे कम खाना) तप करनेकी आवश्यकता ही क्या रही ?

तथा–यदि भोजन कर लेनेपर कुछ भोजन शेष रह जाय तो उसे क्या फिकवा देंगे? या किसीको खिला देंगे? यदि फेंकवा देंगे तो उस भोजनमें सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होंगे, हिंसाके साधन बनेंगे। यदि उस बचे हुए भोजनको कोई खालेगा तो उच्छिष्ट (जूठा) भोजन करानेका दूषण केवली को लगेगा।

सारांशः— यह है कि भोजन करानेपर केवली भगवान् मोही तथा दोषवाले अवश्य सिद्ध होंगे। इसी कारण गोम्मटसार कर्मकांड में कहा है–

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाणं च केवलिस्स जदो ।
तेणदु सातासातज सुहदुक्खं णत्थि इंदियजं॥ १२७ ॥

यानी–केवली भगवानके राग द्वेष तथा इंद्रियज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीयके उदयसे होनेवाला इंद्रियजन्य सुख या दुःख केवलीके नहीं है।

इस कारण मोहनीय कर्म बिल्कुल नष्ट हो जानेसे भी केवली भगवान् भोजन नहीं कर सकते हैं।

केवली भोजन करें भी क्यों?

मनुष्य भोजन मुख्यतया चार कारणोंसे करते हैं। १–भूख लगने से दुःख होता है उस दुःख को दूर करनेके लिये भोजन करना आवश्यक है। २–भोजन न करनेसे भूखके मारे बुद्धि कुछ काम नहीं करती है। ३– भोजन न करनेसे बल घट जाता है। ४–भोजन न करनेसे मृत्यु भी हो जाती है। इन चार कारणोंसे विवश (लाचार) होकर मनुष्य भोजन किया करते हैं।

किंतु केवली भगवानमें तो ये चारों ही कारण नहीं पाये जाते क्योंकि पहला कारण तो इस लिये उनके नहीं है कि उनके मोहनीय कर्मके अभावसे अनन्त सुख (अतीन्द्रिय सच्चा) प्रगट हो गया है इस कारण उनको किसी प्रकारका लेशमात्र भी दुख नहीं हो सकता। क्योंकि अनंत सुख वह है जिससे कि किसी तरहका जरा भी दुख न हो फिर भूखका बडा भारी दुख तो उनके होवे ही क्यों? और जब कि

उनको भूखका कुछ दुख ही नहीं लगता तब उन्हें भोजन करने की क्या आवश्यकता ? यानी कुछ आवश्यकता नहीं।

दूसरा कारण इसलिये नहीं है कि अर्हन्त भगवान्‌के ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाने से अनन्त, अविनाशी केवलज्ञान उत्पन्न हो गया है वह कभी न तो कम हो सकता है और न नष्ट हो सकता है जिससे कि उनको भोजन करना आवश्यक हो।

तीसरा कारण इसलिये नहीं है कि अंतराय कर्म न रहनेसे उनके अनंत बल उत्पन्न हो गया है इस कारण वे यदि भोजन न भी करें तो उनका बल कम नहीं हो सकता।

चौथा कारण इस लिये नहीं है कि वे आयु कर्म नष्ट होनेके पहले किसी भी प्रकार शरीर छोड (मर) नहीं सकते क्योंकि केवली भगवान् की अकालमृत्यु नहीं होती है ऐसा आप श्वेतांबरी भाई भी मानते हैं। फिर जब कि उनकी आयु पूर्ण होनेके पहले केवली भगवान् की मृत्यु ही नहीं हो सकती तब भोजन करना व्यर्थ है। भोजन न करने पर भी उनका कुछ बिगाड नहीं।

इस कारण केवली भगवान्‌को कवलाहार मानना निरर्थक है। भोजन करनेसे उन्हें कुछ लाभ नहीं। फिर वे निष्प्रयोजन कार्य क्यों करें। क्योंकि " प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोपि न प्रवर्तते " यानी विना मतलब विचारा मूर्ख (अल्पबुद्धि) आदमी भी किसी काममें प्रवृत्त नहीं होता है।

केवलीकी भोजनविधी.

श्वेताम्बर भाई कहते हैं कि केवली भगवान् अपने लिये भोजन लेने स्वयं नहीं जाते किंतु उनके लिये गणधर या इतर कोई मुनि भोजन ले आते हैं। उस भोजनको अर्हंत भगवान् दिनके तीसरे पहर यानी १२ बजेके पीछे ३ बजे तक के समयमें खाते हैं। अर्हन्त भगवानके भोजन करनेके लिये ' देवच्छन्दक ' नामका स्थान बना होता है उसपर बैठकर भोजन करते हैं। अतिशयसे भोजन करते हुए वे इन्द्र या दिव्य-ज्ञान धारी मुनिके सिवाय किसीको दिखलाई नहीं देते।

इस प्रकार भोजन करनेसे केवलीके एक तो भोजन करनेकी इच्छा सिद्ध होती है जिससे कि वे प्रत्येक दिन तीसरे पहर अपने स्थान (गन्धकुटी)से उठकर उस देवच्छंदक स्थानपर जाकर बैठते हैं और भोजन करते हैं तथा भोजन करके फिर अपने स्थानपर चले आते हैं।

दूसरे—उनके परिणामोंमें व्याकुलता आजाना सिद्ध होता है क्योंकि उनके परिणामोंमें जब भूखसे व्याकुलता होती होगी तभी वे उठकर और कार्य छोड़ भोजन करने जाते हैं।

तीसरे—भोजन करना केवलीके लिये इस कारण भी अनुचित सिद्ध होता है कि वे भोजन करते हुए साधारण जनताको दिखाई नहीं देते। जैसे उपदेश देते समय वे सबको दिखलाई देते। जो कार्य कुछ अनुचित होता है वह ही छिपकर किया जाता है। तथा लोग उस देवच्छन्दक स्थानको जानते तो होंगे ही। तदनुसार सिंहासन खाली देखकर समझ भी लेते होंगे कि भगवान् भोजन करने गये हैं।

चौथे—भोजन करनेके पीछे साधुओंको भोजन संबंधी दोष हटानेके लिये कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण करना पड़ता है सो केवली स्वयं करते हैं या नहीं? यदि करते हैं तो भोजन करना दोष ठहरा। यदि नहीं करते तो भोजन बननेमें जो गृहस्थसे त्रस स्थावर जीवका घात हुआ तथा भोजन लानेवाले मुनिसे जाने आनेमें जो हिंसा हुई वे दोष केवली भगवान्ने कैसे दूर किये?

पांचवें—भोजन करनेसे उनको नीहार यानी पाखाना और पेशाब भी आता है ऐसा आप मानते हैं। किन्तु वे पाखाना तथा पेशाब करते दिखलाई नहीं देते;

इस प्रकार भोजन करनेसे उनके शरीरमें टट्टी पेशाब सरीखे गंदे मैल और पैदा हो सकते हैं जिनके कारण अनंतसुखी केवली भगवान्को एक दूसरी घृणित आफत तयार हो गई।

---

१ देखो मुनि आत्मारामजी कृत वि० सं. १०५८के छपे हुए तत्वनिर्णय प्रासादका ५७१ वां पृष्ठ "अतिशयके प्रभावसे भगवंतका निहार भी मांस चक्षुओंवालेके अदृश्य होनेसे दोष नहीं है,")

मुनि आत्मारामजी का उसी ५७१ वें पृष्ठमें यह कहना है कि " सामान्य केवलियोंके तो विविक्तदेशमें (एकान्तमें मलोत्सर्ग करनेसे (टट्टी पेशाब करनेसे) दोष नहीं है, " इस यह भी मालूम हुआ कि सामान्य केवलियोंके टट्टी पेशाब करे मनुष्य उस एकान्त स्थानमें जाकर देख भी सकते हैं ।

छठे—केवली भगवानको भोजन करानेके लिये कोई मुनि पासमें रहता होगा जो कि केवली भगवानके हाथमें भोजन रखता जाता होगा क्योंकि केवली पाणिपात्र (हाथमें) भोजन करनेवाले होते हैं, पात्रोंमें भोजन नहीं करते । जैसा कि आत्मारामजने तत्वनिर्णयप्रासादके ५६७ पृष्ठपर लिखा है कि " अर्हन भगवंतोंको पाणिपात्र होनेसे " । इसलिये भोजनपान करानेवाले एक मनुष्यकी आवश्यकता भी हुई ।

सातवें—वात, पित्त कफके विषम हो जानेसे अथवा आहार रूखा, सूखा, ठंडा, गर्म आदि मिलनेसे केवलीके पेटमें कुछ गड़बड़ भी हो सकती है जिससे कि केवली भगवान्‌को पेचिष आदि रोग भी हो सकते हैं । तब फिर उन रोगोंको दूर करनेके लिये औषध लेनेकी आवश्यकता भी केवलीको होगी जैसे कि आप श्वेतांबरी भाइ-योंके कहे अनुसार महावीर स्वामीको हुई थी ।

आठवें—नगरमें या इधर उधर अग्नि लगने, युद्ध आदि उपद्रव होनेसे अन्तराय हो जानेके कारण किसी दिन आहार नहीं भी मिल सकता है जिससे कि उस दिन केवली भगवान् भूखे भी रह सकते हैं ।

नौवें—वैक्रियिक शरीरी देव ३२ । ३३ पक्ष यानी सोलह साढे सोलह मास पीछे थोडासा आहार लेते हैं । औदारिक शरीरवाले भोगभूमिया मनुष्य तीन दिन पीछे बेरके बराबर आहार करते हैं और टट्टी पेशाब आदि मल मूत्र नहीं करते । किन्तु केवली भगवान् प्रतिदिन उनसे कई गुणा अधिक आहार करते हैं तथा प्रतिदिन टट्टी पेशाब भी उन्हें करना पड़ता है । इस लिये अनंत सुखवाले केवली भगवान्‌से

ो वे देव और भोगभूमिया ही हजारों गुणे अच्छे रहे । वेदनीय कर्मने केवली भगवान्को उनकी अपेक्षा बहुत कष्ट दिया ।

दशवा एक अनिवार्य दोष यह भी आता है कि केवली भगवान् मल मूत्र करनेके पीछे शौच (गुदा आदि मलयुक्त अंगोंको साफ) कैसे करते होंगे ? क्योंकि उनके पास कमंडलु आदि जल रखने का बर्तन नहीं होता है जिसमें कि पानी भरा रहे ।

इत्यादि अनेक अटल दोष केवली के कवलाहार करनेके विषयमें आ उपस्थित होते हैं जिनके कारण श्वेताम्बरी भाइयोंका पक्ष बालूकी भींतके समान अपने आप गिरकर धराशायी हो जाता है । हमको दुख होता है कि श्वेतांबरीय प्रसिद्ध साधु आत्मारामजी आदिने केवलीका कवलाहार सिद्ध करनेमें असीम परिश्रम करके व्यर्थ समय खोया । वे यदि केवली भगवान्के वीतराग पदका तथा उनके अनन्त चतुष्टयोंका जरा भी ध्यान रखते तो हमारी समझसे निष्पक्ष होकर इतनी भूल कभी नहीं करते ।

सारांश १

यह सब लिखनेका सारांश यह है कि क्षुधा (भूख) एक असह्य दुख है जो कि अनन्त सुखधारक केवलीके नहीं हो सकता; क्योंकि या तो वे असह्य दुःखधारी ही हो सकते हैं या अनन्त सुखधारी ही हो सकते हैं ।

तथा—भोजन करना रागभावसे होता है । विना राग भावके भोजन करके अपना उदर तृप्त करना बनता नहीं । केवली भगवान् मोहनीय कर्मको नष्ट कर चुके हैं इस कारण रागभाव उनमें लेशमात्र भी नहीं रहा है । अतः वे रागभावके अभावमें भोजन भी नहीं कर सकते । इसलिये या तो उनके कवलाहारका अभाव कहना पड़ेगा अथवा वीतरागताका अभाव कहना पड़ेगा ।

एवं भोजन न करनेपर भी केवली भगवान्का ज्ञान न तो घट सकता है और न बल कम हो सकता है तथा न उनकी भोजन न कर-

नेके कारण मृत्यु ही हो सकती है; एवं न उन्हें कोई किसी प्रकारकी व्याकुलता ही उत्पन्न हो सकती है। क्योंकि वे ज्ञानावरण मोहनीय और अंतराय कर्मोंका बिल्कुल क्षय करके अविनाशी, अनंतज्ञान, सुख और बल प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण केवलीको कवलाहार (ग्रास-वाला भोजन) करना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

वेदनीय कर्म विद्यमान रहता हुआ भी मोहनीय कर्मकी सहायता न रहनेसे केवली भगवान्को कुछ फल नहीं दे सकता। तथा—वेदनीय कर्म में स्थिति, अनुभाग (फल देनेकी शक्ति) कषायके निमित्तसे पडते हैं सो केवली भगवान्के कषाय बिल्कुल न रहनेसे वेदनीय कर्ममें बिल्कुल स्थिति नहीं पडती है। पहले समयमें आकर उसी समयमें कर्म झड जाता है। वह एक समय भी आत्माके साथ नहीं रहने पाता। दूसरे—उसमें अनुभाग शक्ति जरा भी नहीं होती इस कारण भस्म किये हुए (प्रयोगद्वारा मारे हुए) सखिया के समान वह कर्म अपना कुछ भी फल नहीं दे सकता। इसलिये वेदनीय कर्मका उदय कर्मसिद्धान्तके अनुसार क्षुधा, तृषा आदि परिषहोंको उत्पन्न नहीं कर सकता। श्वेतां-बरीय ग्रथकार स्वयं केवलके अक्षय अतीन्द्रिय अनुपम, अनन्त, अप्रतिहत, स्वर्गन सुख मानते हैं। फिर सभा वे ही बतलावें कि ऐसा सुख रहते हुए भी उन्हें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषहें किस प्रकार कष्ट दे सकती हैं।

इसके सिवाय एक बात यह भी है कि अपने पक्षमें अटल दूषण आते भी देखकर हमारे श्वेताम्बरी भाई केवली भगवानके वेदनीय कर्मके उदयसे ११ ग्यारह परिषहोंका होना हठकर बतलावें तो उन्हें इस बातका भी उत्तर देना होगा कि क्षुधा तृषा परिषह मिटानेके लिये तो आपने सदोष कवलाहार करनेकी कल्पना कर ली किन्तु शेष ९ परिषहोंका कष्ट केवली भगवान् के ऊपरसे टालनेके लिये क्या प्रबन्ध कर छोडा है।

क्या केवली भगवान्को शीत उष्ण परीषह से सर्दी गर्मीका कष्ट होता रहता है, उसको हटानेका कोई उपाय नहीं ? क्या उन्हें दंशमशक

रीषहके अनुसार डांस, मच्छर आदि कष्ट देते रहते हैं, कोई उन्हें भगाता नहीं है ? चर्या, शय्या परीषहके अनुसार क्या केवली भगवान् को चलने और लेटनेका कष्ट सहना पड़ता है ? वध परीपहके अनुसार क्या कोई दुष्ट मनुष्य, देव, तिर्यञ्च उन्हें आकर मारता भी है ? रोग परीषह क्या उनके शरीरमें रोग पैदा कर देती है ? तृणस्पर्श परीषह के निमित्तसे क्या उनके हाथ पैरोंमें तिनके कांटे आदि चुभते रहते हैं; और क्या मल परीषह उनके शरीरपर मैल उत्पन्न करके केवली को दुख देती रहती है।

इन दुखोंके दूर करनेका भी कोई प्रबन्ध सोचा होगा। यदि केवलीके उक्त ९ परीषहोंके द्वारा ९ प्रकारके कष्ट होते हैं तो उनके निवारणका उपाय क्या होता है ? यदि इन ९ परीषहोंका कष्ट केवली महाराजको होता ही नहीं तो क्षुधा, तृषाका ही क्यों कष्ट इन्हें अवश्य होना माना जाय ?

इसी कारण स्वर्गीय कविवर पं. द्यानतरायजीने एक सवैयामें कहा है—

भूख लगे दुख होय, अनन्तसुखी कहिये किमि केवलज्ञानी।
खात विलोकत लोकालोक, देख कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी॥
खायके नींद करें सब जीव, न स्वामिके नींदकी नाम निशानी,
केवलि कवलाहार करें नहिं सांची दिगम्बर ग्रंथकी वानी।

यानी—भूख लगनेपर बहुत दुःख होता है फिर भूख लगनेसे केवलज्ञानी अनंतसुखी कैसे हो सकते हैं ? तथा केवली भगवान् भोजन करते हुए भी समस्त लोक, अलोकको स्पष्ट देखते हैं फिर वे मल, मूत्र. रक्त, पीव आदि अपवित्र घृणित लोकके पदार्थोंको देखकर भोजन कैसे कर सकते हैं? एवं भोजन करनेके पीछे सब कोई आराम करने के लिये सोया करते हैं किन्तु केवलज्ञानी सोते नहीं। इस कारण " केवली भगवान्के कवलाहार नहीं है " यह कथन दिगम्बर जैनग्रंथोंमें है वह बिलकुल ठीक है।

केवली भगवान्‌का स्वरूप.

अब हम संक्षेपरूपसे केवली भगवान्‌का स्वरूप उल्लेख करते हैं।

जिस समय दशवें गुणस्थानके अंतमें अथवा बारहवें गुणस्थानके आदिमें मोहनीय कर्मका और उसके अंतमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अंतराय कर्मका क्षय हो जाता है उस समय साधु तेरहवें गुणस्थानमें पहुंच जाते हैं और उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य यह अनंतचतुष्टय उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने से उन्हें केवली तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं क्योंकि वे उस समय समस्त काल और समस्त लोकके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं।

उस समय उनमें जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, आश्चर्य, पीडा, खेद, रोग, शोक, मान, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये १८ दोष नहीं रहते हैं। तथा १० अतिशय प्रगट होते हैं। उनके आसपास चारों ओर सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं होता है, उनके ऊपर कोई उपसर्ग नहीं होता है, उनके कवलाहार नहीं होता है, उनके नख और केश नहीं बढते हैं, न उनके नेत्रोंके पलक झपकते हैं, उनके शरीरकी छाया भी नहीं पडती, वे पृथ्वीसे ऊंचे निराधार गमन करते हैं उनके आस पास रहनेवाले जातिविरोधी जीव भी विरोध भाव छोडकर प्रेमसे रहते हैं। इत्यादि।

केवली भगवान्‌का शरीर मूत्र, पाखाना आदि मल रहित होता है, न उसमें निगोद राशि रहती है और न उसमें रक्त, मांस आदि धातुएं बनती हैं।

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥

यानी-दोषरहित केवली भगवान्‌का शरीर शुद्ध स्फटिक मणिके समान तेजस्वी और सप्तधातु रहित होता है।

केवली भगवान् यद्यपि कवलाहार (भोजन) नहीं करते हैं किंतु लाभान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे उनको क्षायिक लाभ नामक लब्धि प्राप्त हो जाती है इस कारण उनके शरीर पोषणके लिये प्रतिसमय

असाधारण, शुभ अनंत नोकर्म वर्गणाएं आती रहती हैं। इस कारण कवलाहार न करनेपर भी नोकर्म आहार उनके होता है। इसीलिये उनका परम औदारिक शरीर निर्बल नहीं होने पाता। आहार ६ प्रकारका ग्रंथोंमें बतलाया है उनमें से नोकर्म आहार केवली भगवान्‌के बतलाया है—

णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
उज्झमणोविय कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारे य माणसो अमरे।
कवलाहारो णरपसु उज्झो पक्खीय इगि लेऊ॥

अर्थात्—आहार ६ प्रकारका है, नोकर्म आहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्य आहार, ओज आहार, और मानसिक आहार इनमेंसे नोकर्म आहार केवलज्ञानियोंके होता है, कर्मआहार नारकी जीवोंके होता है, मानस आहार देवोंके, कवलाहार मनुष्य तियञ्चोंके, ओज आहार (माताके शरीरकी गर्मी) अंडेमें रहने वाले तथा लेप्य (मिट्टी पानी आदिका लेप) आहार वृक्ष आदि एकेंद्रिय जीवोंके होता है।

इस कारण औदारिक शरीर केवल कवलाहारसे ही रह सके यह बात नहीं है किन्तु नोकर्म, लेप्य और ओज आहारके कारण भी औदारिक शरीर पुष्ट होता है। अंडेके भीतर रहनेवाले जीवोंको उनकी मादाके शरीरकी गरमी से (सेनेसे) ही पुष्टि मिल जाती है इस कारण उनका वह मादाका सेनेरूप ओज ही आहार है। वृक्षोंको मिट्टी, खाद पानी आदि ही पुष्ट कर देता है इस कारण उनका वह लेप ही आहार है। साधारण मनुष्यों तथा तिर्यंचोंका शरीर ग्रासरूप भोजन लेनेसे पुष्ट होता है इस कारण उनका कवलाहार ही पोषक है। और केवलज्ञानीका परम औदारिक शरीर क्षायिक लाभरूप लब्धिके कारण आनेवाली प्रतिसमय शुभ, असाधारण नोकर्म वर्गणाओंसे ही पुष्टि पाता है इस कारण उनका नोकर्म आहार ही उनके होता है। इसी कारण कवलाहार न होनेपर भी केवलज्ञानी भगवान्‌का परमौदारिक शरीर नोकर्म आहारसे ठहरा रहता है।

स्त्रीमुक्तिपर विचार.

क्या स्त्रीको केवलज्ञान होता है ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म कलंक मेटकर केवली पद अथवा मुक्तिपद केवल पुरुष ही प्राप्त कर सकता है या स्त्री भी मोक्ष पा सकती है ?

सामने आये हुए इस प्रश्नका उत्तर दिगम्बर संप्रदाय तो यह देता है कि मुक्तिपद अथवा केवलीपद पुरुष [द्रव्यवेद] ही प्राप्त कर सकता है। स्त्रीलिंग (द्रव्यवेद से मोक्षकी या केवलज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती ।

इसी प्रश्नके उत्तरमें श्वेतांबर स्थानकवासी सम्प्रदायका कहना यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं। जिस कार्यको पुरुष कर सकता है उस कार्यको स्त्री भी कर सकती है। इस कारण मोक्ष या केवलज्ञान पुरुषके समान स्त्री भी प्राप्त कर सकती है।

इस कारण यहां इस विषयका निर्णय करते हैं कि स्त्री (द्रव्यवेदी यानी—स्त्री शरीर धारण करनेवाली) अपने उसी स्त्री शरीर से मुक्ति प्राप्त कर सकती है या नहीं ?

तदर्थ-प्रथम ही यदि शक्तिकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो स्त्रीके शरीरमें मुक्ति प्राप्त करने योग्य वह शक्ति नहीं पायी जाती है जो कि पुरुषके शरीरमें पायी जाती है। इस कारण पुरुष तो घोर, कठिन तपस्या करके कर्मजंजाल काट कर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्री उतनी ऊंची कठिन तपस्यातक पहुंच नहीं सकती असह्य परीषहोंका निश्चल रूपसे सामना करके शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकती। अतएव उसे मोक्ष मिलना असंभव है।

औदारिक शरीरमें शक्तिकी हीनता अधिकताका निश्चय संहननोंके अनुसार होता है। जिस शरीरमें जितना ऊंचा संहनन (हड्डियोंका बंधन) होता है उस शरीरमें बल भी उतना बडा होता है और जिस शरीरका जितना हीन संहनन होता है उस शरीरका बल

भी उतना ही कम होता है। कर्मग्रंथोंमें पुरुषोंके ऊंचे संहनन बतलाये हैं; इस कारण कर्मसिद्धांतके अनुसार पुरुषोंमें अधिक शक्ति होती है और स्त्रियोंमें कम होती है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कर्मभूमिवाली स्त्रियोंके शरीरके संहनन इस प्रकार कहे हैं—

अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतियसंहणणं णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३४ ॥

अर्थात—कर्मभूमिवाली स्त्रियोंके अंतके तीन संहननों (अर्द्ध-नाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका) का ही उदय होता है। उनके पहले तीन संहनन (वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच) नहीं होते हैं।

इस प्रकार सबसे अधिक शक्तिशाली जो वज्रऋषभनाराच संहनन धारी जीव होता है वह वज्रऋषभनाराच संहनन पुरुषके ही होता है; कर्मभूमिज स्त्रीके नहीं होता। " मोक्ष कर्मभूमिमें उत्पन्न होने वालोंको ही मिल सकती है, भोगभूमिवालोंको नहीं।" यह बात दिगम्बर सम्प्रदायके समान श्वेताम्बर संप्रदाय भी सहर्ष स्वीकार करता है। तदनुसार उन्हें यह बात भी स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस कर्म-भूमि में उत्पन्न होनेवालें में मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता है उस कर्मभूमि की स्त्रियोंके शरीर वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले नहीं होते।

मोक्ष वज्रऋषभनाराच संहननवालेको ही प्राप्त हो सकती है ऐसा प्रवचनसारोद्धार के (चौथा भाग) संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरणकी १६० वीं गाथामें ७५ पृष्ठपर स्पष्ट लिखा है—

' पढमेणं जाव सिद्धीवि ' ॥ १६० ॥

अर्थात— पहले वज्रऋषभनाराच संहननसे देव, इन्द्र, अहमिंद्र आदि ऊंचे ऊंचे स्थान प्राप्त होते हुए मोक्ष तक प्राप्त हो सकती है।

इस कारण अपने आप सिद्ध हो जाता है कि स्त्री मोक्ष नहीं-पाती क्योंकि मोक्ष पद प्राप्त करने का कारण वज्रऋषभनाराच संहनन

उसके नहीं होता है। (स्त्री शब्दका अभिप्राय इस प्रकरणमें कर्मभू-मिकी स्त्री से है।)

स्त्री के वज्रऋषभ नाराच संहनन नहीं होता यह बात निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके प्रमाणोंसे भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। प्रकरणरत्नाकर (चौथा भाग) के संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरणकी २३६ वीं गाथामें ऐसा लिखा है—

दो पढम पुढविगमणं छेवट्ठे कीलियाइ संघयणे।
इक्किक्क पुढवि वुड्ढी आइतिलेस्साउ नरएसुं ॥ २३६ ॥

यानी—असंप्राप्तासृपाटिका संहननवाला जीव पहले दूसरे नरक तक जा सकता है आगे नहीं। कीलक संहनन वाला तीसरे नरक तक, अर्द्ध-नाराचसंहननधारी चौथे नरक तक, नाराच संहनन वाला पांचवें नरक तक, ऋषभनाराच संहननधारी छठे नरक तक और वज्रऋषभनाराच संहनन-वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है।

इस गाथासे यह सिद्ध हुआ कि वज्रऋषभनाराच संहनन धारक ही जीव इतना भारी घोर पापकर्म कर सकता है कि वह सातवें नरकमें भी चला जावे। जिस जीवके शरीरमें वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं वह सातवें नरक जाने-योग्य तीव्र अशुभ कर्म बंध भी नहीं कर सकता।

प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के संग्रहणीसूत्र में १०० वें पृष्ठपर उल्लेख है।

असन्नि सरिसिव पक्खीससीह उरगिच्छि जंति जा छट्ठिं।
कमसो उक्कोसेणं सत्तम पुढवी मणुय मच्छा ॥ २३४ ॥

यानी—असैनी जीव पहले नरक तक, सांप, गोह, न्योला आदि जीव दूसरे नरक तक, गिद्ध, बाज आदि मांसाहारी पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह चीता भेडिया दुष्ट चौपाये पशु चौथे नरक तक, काला सर्प दुष्ट अजगर आदि नाग पांचवें नरकतक, स्त्री छट्ठे नरक तक और पुरुष तथा मत्स्य (जलचर जीव) सातवें नरक तक, जा सकते हैं।

पहले लिखी हुई गाथाके अनुसार इस गाथासे यह बात स्पष्ट सिद्ध

हो गई कि स्त्रीके वज्रऋषभ नाराच संहनन नहीं होता इसी कारण वह ऐसा प्रबल शक्तिशाली अशुभ कर्मबन्ध करनेमें समर्थ नहीं जिसके कारण वह सातवें नरक जा सके। किन्तु पुरुषके वज्रऋषभ नाराच संहनन होता है इसी कारण वह अपनी भारी शक्तिसे इतना घोर पाप कार्य कर सकता है जिससे कि सातवें नरकमें भी चला जावे।

इसी बातको दूसरे मार्गसे यों विचारिये कि श्वेतांबरीय ग्रंथोंमें १६ स्वर्गोंके स्थानपर १२ ही स्वर्ग माने हैं। ब्रह्मोत्तर, कापिष्ट, शुक्र, सतार ये चार स्वर्ग नहीं माने हैं। उनमें उत्पन्न होनेका क्रम संहननोंके अनुसार प्रवचनसारोद्धारके ग्रंथ (चौथा भाग) संग्रहणीसूत्रमें ७५ वें पृष्ठपर १६० वीं गाथामें ऐसा लिखा है-

छेवट्ठेणउ गम्मइ चउरोजा कप्प कीलियाईसु।
चउसु दु दु कप्प वुड्ढो पढमेणं जाव सिद्धी वि॥ १६०॥

अर्थात्—असंप्राप्तासृपाटिका संहनन वाला जीव भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिषी तथा चौथे स्वर्ग तकके देवोंमें जन्म ले सकता है। कीलक संहननधारी पांचवें छठे स्वर्गतक, अर्द्धनाराच संहननवाला सातवें आठवें स्वर्गतक, नाराच संहननवाला नौवें दशवें स्वर्गतक तथा ग्यारहवें बारहवें स्वर्गतक ऋषभनाराच संहननधारी जीव जा सकता है। इसके आगे अहमिन्द्र नौ ग्रैवेयक तथा पांच अनुत्तर विमानोंमें और यहांतक मोक्षमें भी वज्रऋषभनाराचसंहननवाला ही जीव जा सकता है।

इसके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि कल्पातीत यानी—अहमिन्द्र विमानोंमें उत्पन्न होने योग्य पुण्यकर्मका संचय वज्रऋषभनाराच संहननधारी ही कर सकता है। अर्थात् वज्रऋषभनाराच संहननके सिवाय अन्य किसी संहननसे उतना घोर तपश्चरण नहीं बन सकता जिससे कि स्वर्गोंके ऊपर उत्पन्न होने योग्य पुण्यकर्मका संचय हो सके।

किन्तु स्त्री अपनी शक्तिके अनुसार घोर तपस्या करनेपर भी मरकर बारहवें (दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धांतानुसार सोलहवें) स्वर्गसे आगे नहीं जाती है। स्वर्गोंमें देव जब सर्वार्थसिद्धि विमान तक उत्पन्न होते हैं तब देवियां केवल पहले दूसरे

उत्पन्न होकर बारहवें (दिगम्बरी सिद्धान्त से सोलहवें) स्वर्ग तक जाती हैं उसके आगे ग्रैवेयक अनुत्तर आदि विमानोंमें नहीं जाती हैं। देखिये प्रवचनसारोद्धार चौथा भागके ७८ वें पृष्ट पर लिखा है।

उत्पत्ताओ देवीणं कप्पदुगं जा परो सहस्सारा।
गमणागमणं नच्छी अच्चुय परओ सुराणंपि ॥ १६ ॥

यानी—देवियोंकी उत्पत्ति सौधर्म ऐशान स्वर्गोंमें ही होती है। अपरिगृहीता देवियां अपने अपने नियोगके अनुसार अच्युत स्वर्ग तक देवोंके साथ रहती हैं उससे ऊपर नहीं। सहस्रार स्वर्ग तक की देवीं मध्यलोक आदिमें आती जाती हैं। और देव अच्युत स्वर्ग तकके आते जाते हैं। उससे ऊपर वाले देव अपने विमानों के सिवाय अन्य कहीं नहीं जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि स्त्रियोंके शरीर में वह शक्ति नहीं होती है जिसके कारण वे अच्युत स्वर्गसे आगे कल्पातीत विमानोंमें जाकर उत्पन्न हो सकें। इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि निश्चल रूपसे घोर, उत्कृष्ट तपश्चरण करनेका कारणभूत वज्रऋषभनाराच संहनन (कर्मभूमिज स्त्रियोंके नहीं होता है। इसी कारण वे उतना कठिन तप नहीं कर पातीं जिससे २२ सागरसे अधिक आयु वाले (स्त्रीलिंग छेद कर) पुरुषलिंग प्राप्त करनेकी अपेक्षा देवोंमें उत्पन्न हो सकें।

स्वर्गोंमें उत्कृष्ट आयु देवोंकी ही होती है, देवियोंकी नहीं। अच्युत स्वर्गमें जो उत्कृष्ट आयु २२ सागरकी है वह पुरुषलिंगधारी देवोंकी ही है। स्त्रीलिंग धारी देवियोंकी उस अच्युत स्वर्गमें उत्कृष्ट आयु केवल ५५ पचपन पल्यकी ही होती है। ऐसा ही प्रवचनसारोद्धार चौथा भागके ७९ वें पृष्ठ पर लिखा है—

अच्चुय देवाण पणवन्ना ॥ १७३ ॥

यानी--अच्युत स्वर्गवासी देवोंकी देवियोंकी आयु ५५ पचपन पल्यकी होती है।

इससे भी यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियोंका शरीर उतना अधिक बल धारक नहीं होता जिसके द्वारा कठिन तपस्या करके देव-गतिमें उच्च पद तथा उत्कृष्ट आयुका बंध किया जा सके।

इस तरहसे कर्मसिद्धान्तके अनुसार स्त्रियां पुरुषोंकी अपेक्षा हीन शक्तिवाली ठहरती हैं। इस कारण निर्बल स्त्रियां जब कि संसारमें सबसे उत्कृष्ट सुखका स्थान सर्वार्थसिद्धि आदि विमान और सबसे अधिक दुखके स्थान सातवें नरक को पाने योग्य शुभ, अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं कर सकती फिर वे मोक्षको किस प्रकार प्राप्त कर सकती हैं? अर्थात् कदापि नहीं प्राप्त कर सकती।

पुरुष तथा स्त्रीकी शक्तिका विचार यह तो कर्म सिद्धान्तके अनुसार हुआ। अब यदि हम व्यावहारिक दृष्टिसे दोनोंकी शक्तिका विचार करने बैठें तो भी यह ही निश्चय होता है कि स्त्रीजाति पुरुषजातिसे बलमें हीन होती है।

देखिये पुरुषोंमें पहले बाहुबली, रावण, हनुमान, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोणाचार्य, आदि प्रख्यात वीर पुरुष हुए हैं जिनकी शूर वीरताको ऋषभनाथपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण (महाभारत) आदि ग्रंथ प्रगट कर रहे हैं। चन्द्रगुप्त, खारवेल, अमोघवर्ष, पृथ्वीराज, प्रतापसिंह, शिवाजी आदि प्रतापी शूर वीर राजा भी पुरुष ही थे जिनके कारण शत्रुओंकी सेनाएं भयसे थरथराती थीं। यद्यपि कोई कोई स्त्री भी शूरवीर हुई हैं किन्तु शूरवीर पुरुषोंकी अपेक्षा वे भी बलहीन ही थीं इसी कारण वे अंतमें पराजित हुई हैं।

सेनाओंके नायक सेनापति सदा पुरुष ही होते आये हैं। राजसिंहासनपर बैठकर राज्य शासन करने वाले राजा भी सदा पुरुष ही हुए हैं। शासन करनेकी वास्तव शक्ति स्त्रियोंमें होती ही नहीं। यदि कभी कहींपर किसी स्त्रीने किसी कारणवश राज्य भी किया है तो वीरपुरुषोंके सहारेसे ही किया है। केवल अपने बाहुबलसे नहीं किया है।

पुरुषोंके समान स्त्रियोंमें बडे बडे पहलवान भी नहीं हुए हैं। तथा पुरुष जिस प्रकार नीतिसे स्वीकार की हुई ९६-९६ हजार तक स्त्रियोंको अपनी पत्नी बनाकर उनका उपभोग करते रहे हैं। अब भी किसी किसी राजाके कई कई सौ स्त्रियां विद्यमान हैं। इस प्रकार स्त्रियोंने पुरुषोंके ऊपर अपना बल प्रगट नहीं किया है। इसी प्रकार निन्दनीय

रूपसे जैसे पुरुषोंने बलात् [जबर्दस्ती] (सीता आदि स्त्रियोंका अपहरण किया तथा बलात्कार (जबर्दस्ती विषयसेवन) किये तथा अब भी करते हैं; ऐसा पुरुषोंपर स्त्रियोंका बलप्रयोग आजतक नहीं हुआ है। पशुओंमें भी हम देखते हैं कि एक सांड हजारों गायोंके झुंडका शासन करता है।

जिन कठिनसे कठिन कार्योंको पुरुष कर सकता है वे कार्य स्त्री से नहीं बन पाते। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलिभद्र, आदि उत्कृष्ट बलधारक पद पुरुषोंको ही प्राप्त होते हैं स्त्रियोंको नहीं; ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। देखिये प्रवचन सारोद्धार के (तीसरा भाग) ५४४-५४५ वें पृष्ठपर लिखा है कि-

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय चारणे पुव्वा ।
गणहर पुलाय आहारगं च नहु भविय महिलाणं ॥५२०॥

यानी—भव्य स्त्रियोंके अर्हंत, (तीर्थंकर) चक्रवर्ती, नारायण, बलिभद्र, संभिन्नश्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वधारी, गणधर, पुलाक, आहारक ऋद्धि ये दश पद या लब्धियां नहीं होती हैं।

इसलिये व्यावहारिक दृष्टिसे भी पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंमें निर्बलता सिद्ध होती है। स्त्रियोंकी इस निर्बलतासे यह भी अपने आप सिद्ध होता है कि स्त्रियां कठिन परीषहोंको सहन करती हुई निश्चल रूपसे घोर तपस्या नहीं करसकतीं; इसीसे शुक्लध्यान प्राप्त कर वे मोक्ष भी नहीं पा सकती।

निर्बलताके कारण ही स्त्रियोंमें पुरुषोंके समान उच्च कोटिकी निर्भयता, आदर्श पराक्रम, प्रबल साहस और प्रशंसनीय धैर्य भी नहीं होता है। उनका शरीर स्वभावसे पुरुषोंकी अपेक्षा कोमल, सुकुमार, नाजुक होता है। इसी कारण उन्हें अबला कहते हैं। अत एव स्त्रियां पर्वत, बन, गुफा, श्मशान आदि भयानक स्थानोंमे अटल, निर्भय रूपसे ध्यान तपश्चरण नहीं कर सकतीं। उनसे आतापनयोग, प्रतिमायोग आदि नहीं बन सकते हैं।

सुकुमाल, सुकोशल, गजकुमार, पांडव, आदि मुनीश्वरोंके समान

असह्य परीषहोंका सहन भी स्त्रियोंसे नहीं हो सकता। बाहुबलीके समान कठिन आतापन योग भी उनके शरीरसे नहीं बन सकता। इसलिये शुक्लध्यान पाकर उन्हें मुक्ति प्राप्त होना असंभव है।

—:०:—

स्त्रियां पुरुषोंसे हीन होती हैं.

पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियां हीन होती हैं इसलिये भी वे पुरुषोंके समान मोक्ष नहीं पा सकतीं। स्त्रियोंमें पुरुषोंसे हीनता अनेक अपेक्षाओंसे है।

प्रथम तो इसलिये कि वे समान पदधारी पुरुषोंसे वन्दनीय नहीं होतीं। लोकमें देखा जाता है कि समान रूपमें रहनेवाले पति पत्नीमेंसे पत्नी नमस्कार करने योग्य नहीं होती किन्तु पति (पत्नीके लिये) वंदनीय होता है। इसीलिये स्त्री अपने पतिको नमस्कार करती है; पति अपनी पत्नीको नमस्कार नहीं करता है।

परमार्थ दृष्टिमें भी पुरानी आर्यिका भी (महाव्रतधारिणी) नवीन मुनिको भी नमस्कार करती हैं। साधु वह चाहे एक दिनका दीक्षित ही क्यों न हो, पुरानी भी आर्यिकाको नमस्कार नहीं करता। कृतिकर्म कल्प का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कल्पसूत्रके दूसरे पृष्ठपर लिखा है—

साध्वीभिश्च चिरदीक्षिताभिरपि नवदीक्षितोपि
साधुरेव वन्द्यः प्रधानत्वात् पुरुषस्य इति।"

गु. टी.- "साध्वी कदि चिरकालनी दीक्षित होय तो पण तेनाथी नवो दीक्षित साधु वंद्य छे कारण के धर्म पुरुषप्रधान छे।"

अर्थात्—साध्वी (आर्यिका) बहुत समय पहलेकी दीक्षित भी हो तो भी उस साध्वी द्वारा नया दीक्षित साधु वंदनीय है। क्योंकि धर्ममें पुरुष प्रधान होता है।

महाव्रतधारी साधुओंमें यह नियम होता है कि जो पुराने समय का दीक्षित मुनि होता है उसको उससे पीछे दीक्षा लेनेवाले साधु वंदनीय मानकर नमस्कार करते हैं। किंतु आर्यिका यदि पुराने समयकी भी दीक्षित

हो तो भी उसको नया मुनि नमस्कार नहीं करेगा किंतु वह आर्यिका ही उस नवीन मुनिकी वंदना करेगी। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष जाति स्त्रियोंकी अपेक्षा ऊंचे दर्जेकी है।

प्रकरण रत्नाकर (प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग) के २५७ वें पृष्ठपर लिखा है कि-

"साधुओ पोताथी जे पर्यायवृद्ध साधु होय तेने वंदन करे अने साध्वीओ पर्यायज्येष्ठ छता पण आजनां दीक्षित यतिने पुरुष ज्येष्ठ धर्मपणा थकी वांदे।"

यानी-साधु अपनेसे पहले दीक्षा लेनेवाले साधुकी वंदना करें और साध्वी (आर्यिका) पुरानी दीक्षित होनेपर भी आजके दीक्षित साधुकी वंदना करे क्योंकि पुरुषमें बडप्पन धर्म रहता है।

इस श्वेतांबरीय शास्त्रवाक्यसे भी यह सिद्ध हुआ कि पुरुष स्वभावतः स्त्रियोंसे अधिक महत्व रखता है। इस स्वाभाविक महत्वके कारण ही पुरुष सबसे ऊंचे पद मोक्षको पा सकता है, स्त्री नहीं।

दूसरे-स्त्री पर्याय श्वेतांबरीय सिद्धांतकारोंके लेखानुसार पापरूप है और पुरुष की पर्याय पुण्यरूप है। देखिये श्वेताम्बरीय तत्वार्थसूत्र जिसको श्वेताम्बरी भाई तत्वार्थाधिगमसूत्र कहते हैं। (इसमें तथा दिगम्बर सम्प्रदायके मान्य तत्वार्थाधिगमसूत्र में अनेक सूत्रोंमें कमी वेशी भी है) उसके आठवें अध्यायका अंतिम सूत्र यह है—

"सद्वेद्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्

यानी- साता वेदनीय, सम्यक्त्व प्रकृति, हास्य, रति, पुरुषवेद, शुभ आयु, शुभनाम कर्म और ऊंच गोत्र ये आठ पुण्यकर्म हैं।

इसी सूत्रके सूत्रकारविरचित भाष्यमें लिखा है कि—

"इत्येतदष्टविधं कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यत्पापम्"

यानी- ये आठ प्रकारके कर्म पुण्यरूप हैं और इनके सिवाय शेष सब कर्म पापरूप हैं।

इस कारण स्त्री शरीर का मिलना पापरूप है- पापकर्मका फल है

इस लिये भी स्त्री मोक्षकी अधिकारिणी नहीं है। पुरुष कर्मसिद्धान्तके अनुसार पुण्यरूप होता है इस कारण मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

तीसरे—सम्यग्दर्शन वाला जीव मर कर स्त्री पर्याय नहीं पाता पुरुषका शरीर ही धारण करता है। इस कारण भी स्त्री पुरुषसे हीन ठहरती है। क्योंकि स्त्रीशरीर हीन है तब ही सम्यग्दृष्टी जीव परभवमें सम्यग्दर्शनके प्रभावसे स्त्रीशरीर नहीं पाता शास्त्रोंमें स्पष्ट लिखा है कि

छसु हिट्ठिमासु पुढविसु जोइसवणभवणसव्वइत्थीसु।
वारसु मिच्छुववादे सम्माइट्ठी ण उप्पज्जदि ॥

यानी—सम्यग्दृष्टी जीव मरकर पहले नरकके सिवाय छह नरकोंमें, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवोंमें तथा सब प्रकारकी (देवी, नारी, पशु मादा) स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता।

इसलिये भी स्त्री, पुरुषकी अपेक्षा हीन होती है,

चौथे—इंद्र, चक्रवर्ती, मंडलेश्वर, प्रतिवासुदेव, बलभद्र, नारद, रुद्र आदि जगत्प्रसिद्ध पदधारक पुरुष ही होते हैं स्त्रियां नहीं होती। इस कारण भी पुरुष स्त्रियोंसे उच्च होते हैं और स्त्रियां उनसे हीन होती हैं।

पांचवें— आनत आदि विमानवासी देव मरकर श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके अनुसार भी पुरुषपर्याय ही पाते; पुरुष उच्च होते हैं और स्त्रियां हीन होती हैं यह बात इससे भी सिद्ध होती है। देखिये प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के ७७-७८ वें पृष्टपर लिखा है कि--

आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति। १६५ ॥

यानी -आनत आदि स्वर्गोंके देव मरकर पुरुषोंमें ही उत्पन्न होते हैं।

जब कि ग्रैवेयक, अनुत्तर विमानवासी देव मरकर मनुष्यही होते हैं स्त्री नहीं होते तो मानना ही होगा कि मनुष्य स्त्रियोंकी अपेक्षा उच्च होते हैं- स्त्रियोंसे अधिक महत्त्वशाली होते हैं। इसी कारण मुक्ति भी वे ही प्राप्त कर सकते हैं, स्त्रियां मोक्ष नहीं पा सकतीं।

स्त्रियोंमें ज्ञानशक्ति अल्प होती है.

कर्मजालको नष्ट करके मुक्तिपद पानेके लिये पर्याप्त ज्ञानकी परम आवश्यकता है। जिसमें ज्ञानशक्ति विद्यमान नहीं अथवा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं वह शुक्ल ध्यान करके मुक्ति भी कैसे पा सकता है। शुक्ल ध्यान करनेके लिये द्वादश अंगोंका ज्ञान हासिल करनेकी योग्यता होनी आवश्यक है। तदनुसार बारह अंगोंका ज्ञान पुरुषोंको तो प्राप्त हो जाता है इस कारण पुरुषमें तो श्रुतकेवली होनेकी तथा उस श्रुत ज्ञानके निमित्तसे शुक्ल ध्यान प्राप्त करनेकी योग्यता है किन्तु स्त्रीमें पूर्ण श्रुत ज्ञान धारण करनेकी योग्यता नहीं है। जब उसको बारह अंगोंवाले श्रुत ज्ञानको धारण कर श्रुत केवली बनकर ध्यान करनेकी योग्यता नहीं तो मानना पड़ेगा कि उसको शुक्लध्यान भी नहीं हो सकता और न केवलज्ञान हो सकता है।

जो बकरी घोड़ेके उठाने योग्य भार उठाने के लिये भी असमर्थ है वह भला हाथीका भार कैसे उठा सकती है। इसी प्रकार स्त्रियोंको जब पूर्ण श्रुतज्ञान धारण करनेकी योग्यता नहीं तो वे सकल प्रत्यक्ष, पूर्ण निरावरण, लोक अलोक प्रकाशक केवलज्ञानको किस तरह प्राप्त कर सकती हैं?

स्त्रियोंको १२ अंगोंका ज्ञान तो एक ओर रहा किंतु दृष्टिवाद अंगके एक भाग रूप चौदह पूर्वोंका भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता ऐसा श्वेतांबरीय ग्रंथ भी स्पष्ट बतलाते हैं। देखिये प्रकरणरत्नाकर (चौथा भाग) के कर्मग्रंथ नामक प्रकरणमें " जोगोवओग लेस्सा " इत्यादि ५५ वीं गाथाकी टीकामें ५९१ वें पृष्ठपर लिखा है कि—

" तथा प्रमत्त साधुने आहारक तथा आहारक मिश्र ए बे योगें वर्ततां स्त्रीवेदनो उदय न होय, जे भणी आहारकमिश्र योग चौद पूर्वधर पुरुषनेज होय स्त्रीने तो चौद पूर्वनुं भणवुं निषेध्युं छे-जे भणी सूत्रें कह्युं छे के—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला अधीइए ।
इअ अइसेस झयणा भूअ वाओ अनोच्छीणं ॥

अर्थ—दृष्टिवाद जे बारमुं अंग ते स्त्रीनें न भणाववुं जे भणी स्त्री-जाति स्वभावे तोछडी होय छे ते माटे गर्व घणो करे, विद्या जीरवी न शके, इंद्रिय चंचल होय, बुद्धी ओछी होय ते माटे ए अतिशय पाठ भणी स्त्रीने निषेध्युं छे । ते दृष्टिवाद मांहे चौथे अधिकारे पूर्वछे माटे पूर्व भण्या विना स्त्री आहारक शरीर न करे । "

अर्थात्—प्रमत्तगुणस्थान वर्तिनी स्त्रीको आहारक तथा आहारक मिश्र नहीं होता है क्योंकि आहारक, आहारक मिश्र चौदह पूर्वधारी पुरुषके ही होता है, स्त्रीके तो चौदह पूर्वका पढाना निषेध किया है । क्योंकि सूत्रमें बतलाया है कि—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला अधीइए ।
इअ अइसेस झयणा भूअ वाओअ न च्छीणं ॥

यानी—दृष्टिवाद नामक बारहवा अंग स्त्रीको नहीं पढना चाहिये क्योंकि स्त्रीजाति स्वभावसे तुच्छ (हलकी, नीच) होती है, इसलिये गर्व (अभिमान-घमंड) बहुत करती है, विद्याको पचा नहीं सकती, उनको इन्द्रियां चंचल होता हैं, बुद्धि ओछी (हलकी) होती है । इस-लिये अतिशय पाठ स्त्रियोंको पढाना निषिद्ध है । दृष्टिवाद अंगके पांच अधिकारोंमेंसे चौथा अधिकार चौदहपूर्व है । इस कारण पूर्व पढाये विना स्त्री आहारक शरीर नहीं कर सकती हैं ।

प्रकरण रत्नाकरके इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री की प्रकृति स्वभावसे तुच्छ होती है । उसमें अधिक, अतिशयवाला ज्ञान पचानेकी शक्ति नहीं होती । क्योंकि उसकी बुद्धि हीन होती है, इन्द्रियां चंचल होती हैं और उसको अभिमान बहुत होता है । इसी लिये उसको चौदह पूर्व धारण करनेकी शक्ति नहीं । जब कि श्वेता-म्बरीय कर्मग्रंथ ऐसा स्पष्ट कहता है तो निर्णय अपने आप हो जाता है कि स्त्रीमें चौदह पूर्व धारण करनेकी शक्ति कहांसे आसकती

यथाख्यात चारित्र प्राप्त हो जानेपर पूर्ण चारित्र कहा जाता है। परन्तु स्त्रियोंको देशचारित्र ही होता है, सकलचारित्र भी नहीं होता। इसी कारण उनके पांचवें गुणस्थान से आगे कोई गुणस्थान नहीं होता। इस लिये सम्यक्चारित्र पूर्ण न हो सकनेके कारण स्त्रियोंको मोक्ष मिलना असंभव है।

स्त्रियोंको सकलचारित्र क्यों नहीं होता? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्त्रियां ठीक तौरसे महाव्रत धारण नहीं कर सकती। आर्यिकाओंके (साध्वी) जो महाव्रत कहे जाते हैं वे उपचारसे कहे जाते हैं वास्तवमें उनमें महाव्रत नहीं होते। स्त्रियोंको महाव्रत न हो सकनेका कारण यह है कि वे पूर्णरूपसे परिग्रहका त्याग नहीं कर पाती हैं। उनके पास पहननेके कपड़े रूप परिग्रह अवश्य होता है। उत्कृष्ट जिनकल्पी (श्वेताम्बरोंके माने हुए) साधुके समान वे समस्त वस्त्र त्याग कर नग्न होकर नहीं रह सकती। इस कारण उनके परिग्रहत्याग महाव्रत नहीं होता है और उसके न होने से अहिंसा महाव्रत भी नहीं होता। तथा विना महाव्रत पालन किये छठा प्रमत्त गुणस्थान भी कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं होता।

स्त्रियां पुरुषोंके समान लज्जा परिषह नहीं जीत सकती, न वे नग्न परीषह सहन कर सकती हैं क्योंकि उनकी शारीरिक रचना ऐसी है कि जिससे उन्हें अपने गुह्य अंग वस्त्र से अवश्य छिपाने पड़ते हैं उनको छिपाये विना उनका ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर नहीं रह सकता। उनके खुले हुए गुप्त अंग उनके तथा अन्य पुरुषोंके कामविकार उत्पन्न करानेके कारण हैं। अतः वस्त्र पहन कर उन अंगोंको ढकना उनका प्रधान कार्य है। इस कारण स्त्रियोंके आचेलक्य (वस्त्ररहितपना) नामक पहला कल्प नहीं होता है और न मोक्षके कारणभूत उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुकी नग्न दशा हीं स्त्रियोंसे सध सकती है इस कारण उनके परिग्रह-त्याग महाव्रत नहीं हो सकता।

आचारांगसूत्र (श्वेताम्बरीय ग्रंथ) के आठवें अध्यायके सातवें उद्देशके ४३४ वें सूत्रमें १२६ वें पृष्ठपर लिखा है कि—

"अदुवा तत्थ परकमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंती

सीयफासा फुसंती, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासा अहियासेति अचेले लाववियं आगममाणे । तवेसे अभिसमन्नागए भवति । जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेचा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ॥ ४३४ ॥

अर्थात् — जो साधु लज्जा जीत सकता हो वह वस्त्ररहित नग्न ही रहे । नग्न रहकर तृणस्पर्श, शर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और भी अनुकूल प्रतिकूल जो परिषह आवें उन्हें सहन करे । ऐसा करने से साधुको अल्पचिन्ता (थोडी फिक्र) रहती है और तप भी प्राप्त होता है । इस कारण भगवानने जैसा कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे रहे ।

आचारांग सूत्रके इस कथनसे स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार भी कपडोंको परिग्रह मानते हैं । उसके कारण साधुके चित्तपर चिन्ताभारका होना स्वीकार करते हैं तथा इसकी कमीका भी अनुभव करते हैं । यानी श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंके मतमे भी वस्त्र एक परिग्रह है विना उसका त्याग किये साधुकी कपडोंके संभालने, रखने, उठाने रक्षा करने, धोने आदि सम्बन्धी मानसिक चिंता दूर नहीं होती है और न तप पूर्ण होता है । इस कारण अभिप्राय यह साफ प्रगट होता है कि वस्त्र छोडे विना साधुका चारित्र पूर्ण नहीं होता और चारित्र पूर्ण न होनेसे वस्त्र रखते हुए साधुको मुक्ति नहीं हो सकती । इसलिये स्त्रियोंके श्वेतांबरीय ग्रंथकारोंके मतसे वस्त्र पहननेवाली स्त्रियोंके चारित्रकी पूर्णता नहीं हो सकती ।

इसी आचारांग सूत्रके ९५ वें पृष्ठपर सबसे नीचे पहली टिप्पणी में लिखा हुआ है कि—

" जिनकल्पिक होय तो सर्वथा वस्त्ररहित बनी अने स्थविरकल्पित होय तो अल्पवस्त्र धारण करी । "

यानी—यदि साधु जिनकल्पी हो तो बिलकुल वस्त्ररहित नग्न बने और यदि स्थविरकल्पी हो तो थोडे वस्त्र पहने ।

आचारांगसूत्रके टीकाकारकी इस टिप्पणीसे स्पष्ट होता है कि साधु का ऊंचा वेश तो नग्न (नंगा) है। जो साधु नग्न न रह सकता हो वह विवश (लाचार) होकर थोड़े कपड़े पहनता है। मुक्ति ऊंचा आचरण पालन करनेसे ही होती है इस कारण साधु जब तक नग्न न हो तब तक उसको मुक्ति मिलना असंभव है।

वस्त्र न रखनेसे साधुकी मानसिक भावना कितनी पवित्र हो जाती है इसपर आचारांगसूत्रके छठे अध्यायके तीसरे अध्यायके ३६० वें सूत्रमें ०७ वें पृष्ठपर ऐसा प्रकाश डाला है—

"जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्स णो एवं भवइ- परिजिन्ने मे वत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि. पाउणिस्सामि ॥ ३६० ॥

अर्थात्—जो मुनि वस्त्ररहित नग्न होता है उसको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपड़ा फट गया है, मुझे दूसरा नया कपड़ा चाहिये, सीनेका धागा चाहिये, सुई चाहिये, मुझे अपना कपड़ा जोड़ना है सीना है, बढ़ाना है, फाड़ना है, पहनना है तथा उसकी तह करनी है।

आचारांगसूत्रकार जो स्वयं श्वेताम्बरीय आचार्य हैं, कपड़ा रखनेके निमित्तसे मुनियोंकी मानसिक चिन्ता का उनके वस्त्र संबंधी हर्ष विषादका, राग द्वेषका अच्छा अनुभव कराते हैं। इसी कारण बतलाते हैं कि जो साधु या साध्वी (आर्यिका) कपड़े पहनते हैं उनको अपने कपड़ोंके सीने, फाड़ने, जोड़ने, पहनने, रखने उठाने, सुरक्षित रखने आदिकी चिन्ता रहती है तथा नया कपड़ा गृहस्थके यहांसे मांगनेकी आकुलता रहती है। विचारनेकी बात है कि वस्त्र रखनेसे साधुके चित्तसे ऐसी दुश्चिन्ता दूर नहीं हो सकती और जब मुनिके हृदयसे दुश्चिंता दूर न हो तब तक वह अंतरंग बहिरंग परिग्रहका त्यागी कैसे हो सकता है? तथा परिग्रहका त्याग हुए बिना छठा गुणस्थान और उसके बहुत दूर आगेकी मुक्ति भी कैसे हो सकती है?

स्त्री उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुके समान वस्त्र त्याग कर नग्न हो नहीं सकती क्योंकि प्रथम तो वह लज्जावश ऐसा कर नहीं सकती दूसरे श्वेतांबरीय ग्रंथकारोंने भी स्त्रीको नग्न रहनेका निषेध किया है।

उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि—

" णो कप्पदि लिंग थीए अचेलाए होंताए। "

यानी—स्त्रीको अचेल (नग्न-वस्त्ररहित) रहना योग्य नहीं है)

वस्त्र रखने से साधुको कितनी आपत्तियोंका सामना करना पडता है इसका चित्र श्री शुभचन्द्राचार्यने अच्छा खींचा है। वे लिखते हैं,

म्लाने क्षालयतः कुतः कृतजलाद्यारंभतः संयमो,
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुब्मंडलम्॥

अर्थात्—मुनिका कपडा मैला हो जाय तो उसे धोनेकी आवश्यकता होती है और वस्त्र धोनेपर पानीका आरंभ होता है जिससे त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसाके कारण संयम कैसे रह सकता है? यदि मुनिके वस्त्र खोजावें तो उसके मनमें व्याकुलता होती है तथा स्वयं उच्चपद धारी होकर भी साधुको नीच पदस्थ गृहस्थोंसे कपडे मांगने पडते हैं। यदि कोई चोर, डकू आदि दूसरा मनुष्य मुनिको कोपीन (चोलपट्ट-लंगोटी) भी छीन लेवे तो साधुको झट उसपर क्रोधभाव हो जायगा। इस कारण साधुके लिये ये वस्त्र हितकर नहीं हैं किन्तु पवित्र और रागभावको हटानेवाले दिशारूपी वस्त्र यानी नग्न रहना ही ठीक है।

वस्त्र रखनेके विषयमें यदि थोडा भी विचार किया जावे तो मालूम हो जाता है कि जब तक शरीरसे राग भाव न हो तब तक शरीर ढकनेके लिये कपडे पहने ही क्यों जावें? 'अपने लिये कपडे गृहस्थोंसे मांगना', यह तब ही बन सकता है जब कि कपडोंसे थोडा बहुत रागभाव होवे। साधु या आर्यिका अपने पास वस्त्र रक्खे तो उसे उनकी रक्षाके लिये भी सावधान

रहना होगा क्योंकि उन कपड़ोंके विना उसका किसी तरह काम नहीं चल सकता। वस्त्र एक आत्मासे जुदा अन्य पदार्थ है। उसकी रक्षाके लिये सावधान होना यह ही मूर्छा है, पर-वस्तुका राग है, मोह है और लोभ कषाय है, ममत्व है। इसके रहते स्त्री महाव्रतधारिणी कैसे हो सकती है?

यदि कोई आर्यिका (साध्वी) ध्यान कर रही है, उसका कपड़ा उस समय वायु आदिसे उसके शरीरसे उतर गया तो उस समय उसको उस कपडेको संभालनेके लिये ध्यान छोडना होगा। इस रीतिसे भी यदि देखा जावे तो वस्त्र संयमको बिगाडनेका साधन है।

कपडोंमें शरीरके पसीनेसे जूं, लीक आदि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा चींटी खटमल, मच्छर आदि जीव जंतु इधर उधरसे कपडोंमें आकर रह जाते हैं। उन जीवोंका शोधना शरीरसे उतारकर झाडे फटकारे आदि विना नहीं हो सकता। और झाडने फटकारनेसे उन जीवोंका घात होता है। इस कारण कपडोंके उठाने, रखने, सुखाने, धोने, फाडने, फटकारने आदि कार्योंसे असंयम होता है। अत एव स्त्रीको वस्त्रोंके कारण निर्दोष संयम नहीं हो सकता और निर्दोष संयम हुए विना मोक्ष नहीं मिल सकती।

संयमीकी उच्च दशा वस्त्ररहित नग्नरूप है। उस दशाको विना प्राप्त किये अंतरंग शुद्धि नहीं होती है। अतएव वस्त्रत्याग किये विना मुक्ति नहीं हो सकती। इस कारण स्त्रीको यथाख्यात चारित्र तथा मुक्ति होना असंभव है।

वस्त्रोंके कारण साधु, साध्वीका परिग्रहत्याग महाव्रत तथा अहिंसा महाव्रत नहीं बन सकता है। इसका अच्छा खुलासा 'गुरूका स्वरूप' नामक प्रकरणमें आगे करेंगे इस कारण इसको यहीं पर समाप्त करते हैं।

स्त्रियोंकी शारीरिक रचना.

स्त्रियोंके शरीरकी रचना भी उनको मुक्ति प्राप्त करनेमें बाधक कारण है। उनकी शारीरिक रचना उनके हृदयमें परमपवित्रता नहीं आने देती जिससे कि स्त्रियोंको अप्रमत्त आदि गुणस्थान तथा सकल-

चारित्र, यथाख्यात चारित्र हो सके; तथा उनके अंगोपांग भी ऐसे हैं जो कि उनके ध्यानमें दृढता नहीं रखा सकते हैं, क्षोभ उत्पन्न करा देते हैं। इस कारण उनको शुक्लध्यान होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

प्रथम तो स्त्रियोंके अंगोंमें (योनि, स्तन, और कांखमें) सम्मूर्छन पचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। श्वेताम्बरीय सिद्धान्तके अनुसार केवलज्ञान हो जाने पर भी औदारिक शरीरमें कुछ अंतर नहीं आता। समस्त धातु उपधातु पहले जैसे ही रहते हैं। तदनुसार (श्वेताम्बरीय सिद्धान्तानुसार) स्त्रियोंके केवली होनेपर भी उन अंगोंमें सम्मूर्छन जीवोंकी उत्पत्ति, मरण होता ही रहेगा। इस तरह स्त्रीका शरीर स्वभावसे हिंसाका स्थान है। इस हिंसाको दूर करना स्त्रियोंकी शक्तिसे बाहर है। अतः उनके शरीरसे संयमकी शुद्धता पूर्ण नहीं बन सकती।

दूसरे—स्त्रियोंका शरीर बाह्य शुद्धि नहीं रख सकता क्योंकि उनके अंगसे अशुद्ध मल बहता रहता है। प्रतिमास और कभी बीच बीचमें भी रजस्राव (रज निकलना) हुआ करता है जिससे कि वे अपवित्र रहती हैं। उस समय उनको किसी मनुष्य स्त्रीका शरीर, शास्त्र आदि स्पर्श करनेकी आज्ञा नहीं है और न उस अपवित्रतामें ध्यान ही बन सकता है। यह सदाकालीन अशुचिता भी मानसिक पवित्रताकी बाधक है।

तीसरे:— कमसे कम प्रतिमास मासिकधर्म [रजस्वला] हो जानेके पीछे स्नान करनेके लिये साध्वी को (आर्यिकाको) जलकी आवश्यकता होती है। इस कारण आरंभ का दोष उनसे नहीं छूट सकता। विना आरंभ छूटे महाव्रत भी कैसे पल सकते हैं।

चौथे:—साध्वी स्त्रीको रजस्वला हो जानेके पीछे अपनी साडी बदलनेकी भी आवश्यकता होती रहती है। इस कारण विवश (लाचार) होकर उन्हें गृहस्थसे वस्त्रोंकी याचना करनी पडती है क्योंकि विना दूसरा वस्त्र बदले उनके शरीर तथा हृदयमें पवित्रता नहीं आती। इस

कारण वस्त्ररूप परिग्रहसे उनका छुटकारा नहीं होता। अतएव उनके महाव्रत होना असंभव है।

पांचवें:—ध्यान करते समय यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्रियोंके गुप्त अंगोंको छू ले तो उसी समय उनके मनमें विकार उत्पन्न होकर ध्यान छूट जाता है। इस कारण स्त्रियोंके अपने शारीरिक अंगोंके कारण निश्चल ध्यान भी नहीं बन सकता।

इत्यादि अनेक दोष आ जानेके कारण स्त्रियोंका शरीर मोक्ष-प्राप्तिका बाधक कारण है इसलिये उन्हें मुक्ति मिलना असंभव है।

सारांश.

ऊपर बतलाये हुए कारणोंसे श्वेताम्बर सम्प्रदायका कथन असत्य प्रमाणित होता है क्योंकि ज्ञान, चारित्र, शक्ति, शुचिता आदि जिस किसी दृष्टिसे भी विचार करते हैं यह ही सिद्ध होता है कि स्त्रीको महाव्रत, शुक्लध्यान होना, यथाख्यात चारित्रकी प्राप्ति तथा मोक्षका मिलना असंभव है। इस स्त्रीमुक्तिके विषयमें श्री शुभचन्द्राचार्य यों लिखते हैं—

> स्त्रीणां निर्वाणसिद्धिः कथमपि न भवेत्सत्यशौर्याद्यभावात्
> मायाशौचप्रपंचान्मलभयकलुषान्नीचजातेरशक्तेः।
> साधूनां नत्यभावादमलचरणताभावतः पुरुषतोन्य-
> भावाद्धिसांगकत्वात्सकलविमलसद्ध्यानहीनत्वतश्च ॥

अर्थात्— स्त्रियोंमें सत्य, शूरता आदि गुणोंका अभाव होता है। मायाचार, अपवित्रता उनमें अधिकतर पाई जाती है। रज मल, भय और कलुषता उनमें सदा रहती है, उनकी जाति नीच होती है, उनमें उत्कृष्ट बल नहीं होता. साधु उनको नमस्कार नहीं करते, उत्कृष्ट चारित्र उनके नहीं होता है, वे पुरुषोंसे भिन्न स्वभाववाली होती हैं, उनमें संपूर्ण निर्मल ध्यानकी हीनता होती है। इस कारण स्त्रियोंको कदापि मुक्ति नहीं हो सकती।

—+—

द्रव्य पुरुषवेदसे ही मुक्ति होती है।

संसारका नाश और मुक्तिकी प्राप्ति मनुष्यगतिसे ही होती है यह निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि नरकगतिमें रोने, मारने, पीटने आदि दुःखोंमें जीवन व्यतीत होता है। देवगतिमें विषयभोगोंसे विराग ही नहीं होने पाता। और पशुगतिमें ज्ञानकी कमीसे ध्यान, संयम, रत्नत्रय आदि सामग्री नहीं मिल पाती। मनुष्यगतिमें सब प्रकारकी सामग्री मिल जाती है इस कारण मनुष्यगतिसे स्वर्ग, नरक, तिर्यंच, मुक्ति आदि सभी गतियां प्राप्त हो जाती हैं।

किन्तु मनुष्यगति पाकर भी नपुंसकोंको शक्तिके अभावसे तथा प्रबल कामवेदनासे वीतराग भाव नहीं हो पाते। इसीलिये उनको मुनि-दीक्षा ग्रहण करनेका भी अधिकार नहीं है। अतः उनको मोक्ष नहीं होती है। स्त्रियोंको मोक्ष प्राप्त करने योग्य साधनोंका अभाव है यह सिद्ध कर ही चुके हैं।

अतः शेष पुरुष रहे उनको ही सब प्रकारके साधन प्राप्त हैं। वज्रऋषभनाराच संहनन, वस्त्ररहित नग्न वेश, कठिन से कठिन परीषह सहन करने योग्य अनुपम धैर्य, उच्च कोटिका ज्ञान, महाव्रत आदि कर्मनाश करनेके समस्त कारण मनुष्योंको मिल जाते हैं। इस कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिल जाने पर जो मनुष्य मुनिव्रत धारण कर ध्यान करता है वह भव्य पुरुष कर्मनाश करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता हैं।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजीने जो तत्वनिर्णयप्रासाद के ६१८ वें पृष्ठपर निम्नलिखित त्रिलोकसारकी गाथा लिखकर दिगम्बरीय शास्त्रों से स्त्रीमुक्ति सिद्ध करनी चाही है पर उनकी हास्यजनक मोटी भूल है। क्योंकि उसमें स्त्रीशरीरधारी जीव को मुक्ति नहीं बतलाई है किन्तु द्रव्य पुरुषवेदीकों ही ९ वें गुणस्थानके पहले भावोंकी अपेक्षा स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद बतलाये हैं। वह गाथा यह है—

> वीस नपुंमयवेया इत्थीवेया य हुंति चालीसा।
> पुंवेया अडयाला सिद्धा इक्कम्मि समयम्मि ॥

अर्थात्—भाववेदकी अपेक्षा एक समयमें अधिकसे अधिक बीस नपुंसक, चालीस स्त्रीवेदी, और ४८ पुरुषवेदी ऐसे १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि त्रिलोकसार के रचयिता श्री नेमिचंद्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यस्त्री तथा द्रव्य नपुंसकको भी मोक्ष होना बतलाते हों। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि श्रेणी चढ़ते समय किसी मुनिके भाव स्त्रीवेदका उदय होता है किसीके नपुंसक भाववेदका उदय होता है और किसीके पुरुष भाव वेदका उदय होता है। द्रव्यसे सब पुरुषधारी ही होते हैं। भावोंकी अपेक्षा वेद नोकषायके उदयसे केवलज्ञानिगम्य उनके भिन्न भिन्न वेद हो सकते हैं।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजी यदि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकी लिखी हुई गाथाका ठीक अभिप्राय समझनेका कष्ट उठाते तो वे कभी ऐसी मोटी भूल नहीं करते; क्योंकि जो श्री नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार कर्मकाण्डमें— लिखते हैं कि—

अंतिमतियसंहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।
आदिमतियसंहणणा णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥ ३४ ॥

यानी— कर्मभूमिज स्त्रियोंके (जो चारित्र धारण कर सकती हैं) अंतिम तीन संहनन होते हैं। उनके वज्रऋषभनाराच आदि तीन उत्तम संहनन नहीं होते हैं।

इस गाथा द्वारा वे स्त्रियोंके वज्रऋषभनाराच संहननका स्पष्ट निषेध करते हैं जिसके विना मोक्ष प्राप्त होना असंभव है।

दिगम्बरीय ग्रंथोंमें द्रव्यस्त्रीको पांचवें गुणस्थानसे आगेका कोई गुणस्थान नहीं बतलाया है, परिग्रहत्याग महाव्रतका अभाव बतलाया है। फिर भला, उनको मुक्ति होना वे कैसे बतला सकते हैं। दिगम्बर जैन ग्रंथकारों का यह जग प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि नग्न वेश धारण किये विना छठा आदि गुणस्थान नहीं होता है। स्त्रियां नग्न हो

नहीं सकतीं। अतः उनको छटा गुणस्थान भी नहीं हो सकता। मुक्ति तो चौदहवें गुणस्थानसे भी आगे होगी।

अतः सारांश यह है कि पुरुषका शरीर होनेपर भी भाव पलटनेसे मनुष्यके स्त्री, नपुंसक वेदका उदय हो आता है। इस बातको श्वेतांबरीय ग्रंथकार भी स्वीकार करते हैं। इसी भाववेद परिवर्तनके अनुसार पुरुषलिंग शरीरधारीको भावोंकी अपेक्षा स्त्री, नपुंसक बतलाया है और उस अन्य भाव वेदधारी साधुको श्रेणीपर चढकर मुक्त होना बतलाया है।

किंतु यहां इतना ध्यान और रहे कि नौवें गुणस्थानके आगे यह कोई भी भाववेद नहीं रहता, केवल द्रव्य पुरुषवेद ही रहता है। इस कारण "वीस नपुंसयवेया" आदि गाथाका कथन भूत-प्रज्ञापन भाववेदकी अपेक्षासे है। अतः सिद्ध हुआ कि पुरुषको ही मुक्ति होती है। यदि स्त्री पर्याय ही उस वेदका अर्थ होता तो वह वेद नौवें गुणस्थान के आगे सर्वथा नष्ट हो जाना जो बताया है वह कैसे बन सकता है?

क्या श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर स्त्री थे?

इस हुंडावसर्पिणी युगके चौथे कालमें जो श्री ऋषभदेव, अजित-नाथ आदि २४ तीर्थंकर हुए हैं जिन्होंने क्रमसे अपने अपने समयमें जैनधर्मका उद्धार, प्रचार किया है उनमेंसे १९ वें तीर्थंकर का नाम श्री मल्लिनाथ था। इन १९ वें तीर्थंकर के विषयमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय का यह कहना है कि ये पुरुष नहीं थे, स्त्री थे। उनका नाम यद्यपि श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें 'मल्लिनाथ' ही लिखा है। अन्य प्राचीन श्वेता-म्बरीय ग्रंथकारोंकी बात तो एक ओर रहे किन्तु उसके नवीन प्रसिद्ध ग्रंथकार मुनि आत्मारामजीने जैनतत्त्वादर्श ग्रंथके २१ वें पृष्ठपर तीर्थंकरों के ५२ बावन बोल बतलाते हुए इन १९ वें तीर्थंकरका नाम 'श्री मल्लिनाथ' ऐसा लिखा है। जिस शब्दके अंतमें 'नाथ' शब्द होता है वह पुल्लिंग ही समझा जाता है। इस कारण उनके लिखे अनुसार भी श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर पुरुष ही थे।

किन्तु कुछ ग्रंथकारोंने कहीं कहीं उनका नाम ' मल्ली कुमारी ' लिखा है ।

स्त्री तीर्थंकरका होना यद्यपि सर्वथा नियमविरुद्ध है किन्तु श्वेतांबर ग्रंथकारोंने इस नियमविरुद्ध असत्य बातको ' अछेरा ' कह कर टाल दिया है । ' अछेरा ' शब्द का अर्थ एक तो आश्चर्य ' है । यानी ऐसी बात जो कि विस्मय (अचम्भा) उत्पन्न करने वाली हो । दूसरा इस अछेरा शब्दका अर्थ यह भी किया जाता है कि ' अछेरा ' यानी— ऐसी न हो सकने योग्य बातें जिनके विषयमें कोई प्रश्न ही न छेडो । शंकारूपमें ही रहने दो ।

किन्तु ये सब बातें अपना दोष छिपानेके लिये हैं । बुद्धिमान् पुरुषको प्रकृतिक नियमोंके सामने प्रत्येक बात की सत्यता, असत्यताका निर्णय किये बिना मिथ्यात्व नहीं हट सकता, और सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता और इसी कारण सम्यग्दर्शन होना असंभव है ।

प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) के तीसरे भागके ३५५ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

उवसग्ग गब्भहरणं इच्छी तित्थं अभाविया परिसा ।
कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं ॥ ८९२ ॥

अर्थात्—श्री महावीर स्वामी तीर्थंकरपर उपसर्ग होना, महावीर स्वामीका गर्भहरण, स्त्री तीर्थंकर मल्लीकुमारी, महावीर स्वामीकी अभाविता परिषत् यानी उनका कुछ समयके लिये उपदेश व्यर्थ हुआ, कृष्णका धातकी खंडकी अपर कंका नगरीमें जाना, चन्द्रमा सूर्यका अपने विमानसहित पृथ्वीपर उतरना ये अछेरा हैं ।

इसके आगे ३५६ वें पृष्ठपर लिखा है—

" तीर्थ शब्द द्वादशांगी अथवा चतुर्विध संघ ते त्रिभुवनने अतिशायी निरुपम महिमाना धणी एवा पुरुष थकीज प्रवर्तवुं जोइये । ते आ वर्तमान चौवीसीमां कुंभ राजानी प्रभावती राणीनी पुत्री श्री मल्ली एवे नामे कुमरी थई तेणेज उगणीसमो तीर्थंकर थइने तीर्थ प्रवर्ताव्युं ए पण त्रीजुं आश्चर्य जाणवुं । "

"अर्थात्-तीर्थ शब्दका अर्थ द्वादशांग अथवा श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ये चार प्रकारका संघ है। इस द्वादशांग अथवा चतुर्विध संघको चलानेवाला तीन लोकका अतिशयधारी, अनुपम महिमाका स्वामी ऐसा पुरुष ही होना चाहिये। किन्तु इस वर्तमान चौवीसीमें कुंभ राजाकी प्रभावती रानीकी पुत्री श्रीमल्ली नामकी कुमारी हुई उसीने उन्नीसवां तीर्थंकर होकर तीर्थ चलाया। यह तीसरा आश्चर्य है।

यद्यपि स्त्रीका तीर्थंकर होना, केवली होकर मोक्ष जाना आगम, अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध है जो कि हम पीछे सिद्ध कर आये हैं। किन्तु यहांपर इस श्री मल्लीकुमारी तीर्थंकरी की बातको श्वेताम्बरीय शास्त्रोंसे भी प्रमाणविरुद्ध ठहराते हैं।

प्रकरणरत्नाकर अपरनाम प्रवचनसारोद्धार तीसरा भागके ५४४ वें पृष्ठकी अंतिम पंक्तिमें एक गाथा यह है—

अरहंत चक्कि केसव बलसंभिन्नेय चारणे पुव्वा।
गणहर पुलाय आहारगं च न हु भविय महिलाणं॥ ५२०

यानी—अर्हंत, अर्थात् तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, संभिन्न श्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वधारित्व, गणधर, पुलाक और आहारकऋद्धि ये दश पद भव्य स्त्रियोंके नहीं होते हैं।

प्रवचनसारोद्धार नामक श्वेताम्बरीय सिद्धान्तग्रंथके इस नियमके अनुसार स्त्रीका तीर्थंकर होना निषिद्ध है। फिर श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरको स्त्री कहना श्वेताम्बरीय आगम प्रमाणसे बाधित है अतएव असत्य है। प्रवचनसारोद्धार की उक्त गाथाको प्रामाणिक स्वीकार करनेवाले पुरुषको "माता मे वन्ध्या" यानी मेरी माता वंध्या (बांझ) है इस कहावतके अनुसार गलत है। इसलिये श्वेताम्बरी भाइयोंके लिये इन दो बातोंमेंसे एक ही मान्य हो सकती है या तो वे श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकरको पुरुष मानें—स्त्री न कहें, अथवा प्रवचनसारोद्धारको अप्रामाणिक कह देवें।

दूसरे—मल्लिनाथ तीर्थंकरका जीव तीसरे अनुत्तर विमान जयन्तसे चयकर आया था ऐसा ही मुनि आत्मारामजी अपने जैनतत्वादर्श ग्रंथके

३१ वें पृष्टपर तीर्थंकरोंके बावनबोलमें लिखते हैं। तदनुसार जयन्त विमानसे आया हुआ श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकरका जीव स्त्री हो भी नहीं सकता पुरुष ही हो सकता है ऐसा कर्म सिद्धान्तका नियम है।

प्रकरण रत्नाकर के (चौथा भाग) संग्रहणी सूत्र नामक प्रकरणके ७६ वें पृष्ठपर यह लिखा है कि,

आणयपमुहा चविउं मणुएसु चेव गच्छंति ॥ १६५ ॥

यानी - आनत आदि स्वर्गोंके देव मरकर मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं।

तदनुसार अनुत्तर विमानोंमें केवल देव ही होते हैं, देवी नहीं होती हैं। इस कारण वहांसे आया हुआ जीव 'स्त्री' किसी प्रकार हो ही नहीं सकता। फिर जयन्त विमानसे आया हुआ श्री मल्लिनाथ तीर्थंकरका जीव स्त्री कैसे हो सकता है ? ग्रैवेयकके ऊपर सभी देव होते हैं और वे सभी पुरुष होते हैं, स्त्री कोई भी नहीं होता।

और सम्यग्दृष्टी जीव मरकर स्त्री होता नहीं ऐसा अटल नियम है। यदि सम्यग्दृष्टी जीवने मनुष्य आयु बांधली हो तो वह पुरुष ही होगा; स्त्री, नपुंसक कदापि न होगा। अनुत्तर विमानवासी सभी देव सम्यग्दृष्टी होते हैं और तीर्थंकर प्रकृति वाला जीव तो कहीं भी क्यों न हो, सम्यग्दृष्टी ही होता है। फिर जयन्त विमानसे चयकर आया हुआ श्री मल्लिनाथजी तीर्थंकर का सम्यग्दर्शन धारक जीव स्त्री क्यों होवे? इसका उत्तर श्वेताम्बर सम्प्रदायके पास कुछ नहीं है।

प्रकरण रत्नाकरके (चौथा भाग) छठे कर्मग्रंथ की 'जोगोवओग लेस्सा' इत्यादि ५५ वीं गाथाकी टीकामें यों लिखा है—

(८-९ वीं पंक्ति)

" अविरतिसम्यग्दृष्टि वैक्रियिकमिश्र तथा कार्मण काययोगी ए बेहुने स्त्रीवेदनो उदय न होय जे भणी वैक्रिय काययोगी अविरतसम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेदमांहे न उपजे। "

अर्थात्—अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले वैक्रियिकमिश्र और कार्माणयोगधारी जीवके स्त्रीवेदका उदय नहीं होता है। क्योंकि वैक्रियिक काययोगवाला अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री नहीं होता है।

इससे यह सिद्ध होगया कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवी नहीं होता है। इसके आगे इसी पृष्ठमें २६ से २८ वीं तककी पंक्तियोंमें यों लिखा है—

"तथा औदारिकमिश्र काययोगीने चौथे गुणठाणे स्त्री वेद अने नपुंसकवेदनो उदय न होय, ते मांहे औदारिक मिश्रयोगी सम्यग्दृष्टिने उपजवुं नथी ते भणीं ए चौथे गुणठाणे आठ चौवीशीने स्थानकें केवल पुरुषवेद विकल्पना औदारिक मिश्रयोगें आठ अष्टक भांगा होय. अहींआं वे वेदना शोल भांगा प्रत्येक चौवीशी मध्यें थी टालवा।"

अर्थात्—औदारिक मिश्र योगवालेके चौथे गुणस्थानमें स्त्रीवेद, नपुंसक वेदका उदय नहीं होता है। इन स्त्री, नपुंसक वेदोंमें औदारिक मिश्रवाला सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण चौथे गुणस्थानमें आठ चौवीशीके स्थानकमें केवल पुरुषवेद विकल्पका औदारिक मिश्र योगमें आठ अष्टक भंग होता है।

इस प्रकार यह कर्मग्रंथ भी सम्यग्दृष्टि जीवका स्त्रीशरीर पाना स्पष्ट निषेध करता है। फिर अनुत्तरविमानवासी सम्यग्दृष्टि देव मरकर मल्लीकुमारी नामक स्त्री कैसे हो सकता है? कर्मग्रंथका नियम तो कदापि पलटता नहीं। इस कारण श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर को स्त्री कहना कर्मग्रंथके विरुद्ध है। अतएव सर्वथा असत्य है। तीर्थंकरका अवर्णवाद है। और यह कर्मकी रेख पर मेख मारना है।

तथा—श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कथानुसार स्त्री थे इस कारण उन्होंने अपने पहननेके लिये तपस्या करते समय साडी अवश्य रक्खी होगी। उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुके समान समस्त वस्त्र परिग्रह छोडकर नग्न हो तपश्चरण न किया होगा। केवल देवदूष्य वस्त्रसे जो कि कंधेपर रक्खा रहता है काम न चला होगा। इस कारण परिग्रह सहित तपस्या की होगी।

वैसे तो श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा श्वेताम्बरी भाई भी स्त्रीके रूपमें बनाते नहीं हैं। कहीं भी कोई प्रतिमा स्त्री आकारमें देखी नहीं। किन्तु यदि वह सत्यरूप देनेके लिये स्त्री आकारमें बनाई भी जावे तो उस प्रतिमाकी वस्त्र आभूषण आदि परिग्रह विना वीत-रागदशा रखनेसे नग्न शरीरमें कुच आदि अंग दीख पड़ेंगे।

यदि उस स्त्रीरूपधारिणी श्री मल्लिनाथकी प्रतिमाको वस्त्र आभूषण आदिसे ढककर रक्खा जायगा तो लक्ष्मी, पार्वती, राधा आदि मूर्तियोंके समान वह भी दर्शन करनेवाले मनुष्योंको वीतराग भाव उत्पन्न न कराकर रागभावही उत्पन्न करावेगी।

इस प्रकार श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर को स्त्री कहना असत्य है।

....—....

अर्हन्त पर उपसर्ग और अभक्ष्यभक्षणका दोष.

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा बतलाये हुए श्री महावीर तीर्थंकरके चरितमें बहुत अंतर है। उसमें एक मोटा भारी अंतर यह है कि दिगम्बर संप्रदाय तो यह कहता है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होनेपर केवलीका आत्मा इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उनपर कोई भी देव, मनुष्य, तथा पशु किसी प्रकारका उपद्रव नहीं कर सकता। तदनुसार श्री महावीर स्वामीके ऊपर केवली हो जाने पर कोई भी उपसर्ग नहीं हुआ।

किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रंथ केवली पर उपसर्ग न होने रूप प्रभावशाली नियमको स्वीकार करते हुए भी श्री महावीर स्वामीके ऊपर केवलज्ञान हो जानेके पीछे गोशाल नामक मनुष्यसे उपसर्ग हुआ बतलाते हैं। उस उपसर्गसे महावीर स्वामीको ६ मास तक पेचिशके दस्त होते रहे। इस बातको कल्प सूत्रके १८ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा गया है कि—

महावीर स्वामीके पास छद्मस्थ साधु दशामें एक मंखली ग्वालेका लडका 'गोशाल' शिष्य बनकर रहने लगा। उसने एक बार एक अजैन साधुके पास तेजोलेश्या (जिसके प्रभावसे किसी जीवको

जला सके) देखी जो कि उसने गोशालके ऊपर छोडी थी और महावीर स्वामीने उस तेजोलेश्याकी अग्निको अपनी छोडी हुई शीत-लेश्यासे शांत कर दिया था ।

यह देखकर गोशालने महावीर स्वामीसे पूछा कि महाराज ! यह तेजोलेश्या कैसे सिद्ध होती है ? महावीर स्वामीने उसको तेजोलेश्या सिद्ध करनेकी विधि बतला दी । तदनुसार गोशालने वह लेश्या सिद्ध भी कर ली । तेजोलेश्या सिद्ध हो जानेपर गोशाल महावीर स्वामीसे अलग रहने लगा और अपने आपको " जिनेंद्र भगवान " कहने लगा । तथा अपने अनेक शिष्य भी उसने बना लिये ।

महावीर स्वामीको जब केवलज्ञान हो गया तो वे एक दिन उस श्रावस्ती नगरीमें आये जहां गोशाल ठहरा हुवा था । नगरीमें गोशालको जनताके मुखसे " जिनेन्द्र भगवान " सुनकर महावीरस्वामी की सभाके लोगोंने महावीर स्वामीसे पूछा कि भगवन् ! यहां दूसरा जिनेंद्र भगवान् कौनसा आगया ? महावीर स्वामीने कहा कि मंखली ग्वालेका पुत्र गोशाल मुझसे कुछ विद्या सीखकर व्यर्थ अपने आपको 'जिनेन्द्र' कहकर यहां ठहरा हुआ है ।

महावीर स्वामीके मुखसे निकली हुई यह बात गोशालने किसी मनुष्यसे सुनली । उसको अपनी-निंदा सुनकर महावीर स्वामीके ऊपर बहुत क्रोध आया । उसने भोजनार्थ निकले हुए महावीर स्वामीके शिष्य 'आनंद' मुनि से यों कहा कि आनंद ! महावीर स्वामीने मेरी निन्दा की है सो यह बात ठीक नहीं । तू जाकर अपने स्वामीसे कह दे कि यदि वे मेरी निन्दा करेंगे तो मैं उनको जला दूंगा ।

आनंद मुनिने यह बात आकर महावीर स्वामी से कही ।

तदनंतर क्या हुआ ? उस वृत्तान्तको संस्कृत टीकाकारने कल्पसूत्रके २४ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

ततो भगवता उक्तं भो आनन्द शीघ्रं त्वं गच्छ गौतमादीन् मुनीन् कथय यत एष गोशाल आगच्छति न केनाप्यस्य भाषणं कर्तव्यं इतस्ततः सर्वेपसरन्तु । ....भगवत्तिरस्कारं असहमानो

सुनक्षत्रसर्वानुभूती अनगारौ मध्ये उत्तरं कुर्वाणौ तेन तेजोलेश्यया दग्धौ स्वर्गं गतौ ...... एवं च प्रभुणा यथास्थितेऽभिहिते स दुरात्मा भगवदुपरि तेजोलेश्यां मुमोच सा च भगवन्तं त्रिःप्रदक्षिणीकृत्य गोशालकशरीरं प्रविष्टा, तथा च दग्धशरीरो विविधां वेदनां अनुभूय सप्तमरात्रौ मृतः ।"

भावार्थ— तब भगवान महावीर स्वामीने आनन्दसे कहा कि तू गोतम गणधर आदि सब मुनियोंसे जाकर कह दे कि गोशाल यहांपर आरहा है सो कोई भी उसके साथ बात चीत न करे । समस्त, साधु इधर उधर चले जावें ।

आनंदने जाकर सबसे वैसा ही कह दिया ,

तदनन्तर वहांपर गोशाल आया । उसने आकर क्रोधसे महावीरस्वामीसे कहा कि तुम मेरे लिये यह क्या कहते हो कि यह मंखली ग्वालेका पुत्र गोशाल है । गोशाल तो कभीका मरगया । मैं दूसरा ही हूं ।

इस प्रकार भगवान महावीरका तिरस्कार होते देखकर सुनक्षत्र और सर्वानुभूति नामक साधुओंसे न रहा गया और उन्होंने उसको कुछ उत्तर दिया कि झट गोशालने उन दोनोंपर तेजोलेश्या चलाकर उन्हें वहींपर उसी क्षण भस्म कर दिया ।

तब फिर महावीर स्वामीने भी उससे कहा कि तू वह ही मेरा शिष्य गोशाल है दूसरा कोई नहीं है । मेरे सामने तू नहीं छिप सकता ।

इस प्रकार अपनी सच्ची निन्दा सुनकर गोशालने महावीरस्वामीके ऊपर भी तेजोलेश्या चला दी । किन्तु तेजोलेश्या महावीरस्वामीकी तीन प्रदक्षिणा देकर उस गोशालके शरीरमें ही घुस गई । जिससे वह जलकर सातवीं रात मर गया । परन्तु उस तेजो लेश्याकी गर्मीसे महावीरस्वामीको भी छह मास पेचिशके दस्त होते रहे ।

इस रोग को दूर करनेका वृत्तान्त भगवती सूत्रमें १२६७ वें से १२७२ वें तकके पृष्ठोंपर यों लिखा है कि—

महावीर स्वामी के पित्तज्वर पीडित शरीरको देखकर सब साधु

महावीर स्वामीके पास आकर रोने लगे। तब महावीर स्वामीने उनसे कहा कि तुम मेरे भद्रपरिणामी शिष्य 'सिंह' नामक साधुको बुलाओ। तब उन्होंने 'सिंह' नामक साधुसे कहा कि तुमको महावीर स्वामी बुला रहे हैं।

तब सिंहमुनि महावीर स्वामीके पास आया। महावीर स्वामीने उससे कहा कि सिंह! तू मुझे छह मास तक ही जीवित मत समझे। मैं अभी सोलह वर्षतक और हाथीके समान विहार करूंगा।

इससे आगे * १२६९ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

"तं गच्छहणं तुमं सीहा मिढियगामं णयरं रेवतीए गाहावइणीए गिहे, तत्थणं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अण्णे परियासि मज्जार कडए कुक्कुडमंसए तमाहाराहि, तेणं अट्ठो।

इसकी संस्कृतच्छाया इसके नीचे यों लिखी है—

तद्गच्छ त्वं सिंह! मंढिकग्रामे नगरे रेवत्याः गृहपतिपत्न्याः गृहे, तत्र रेवत्या गृहपतिपत्न्या ममार्थं द्वे कपोतकशरीरे उपस्कृते ताभ्यां नैवार्थोऽस्ति, अथान्यं परिवासितं मार्जारकृतं कुक्कुटमांसकं तमाहर (आनय) तेनार्थोऽस्ति।

अर्थात्-इसलिये हे सिंह मुनि! मंढिकगांव नामक नगरमें रेवती गृहस्वामिनीके घर तु जा। उस रेवतीने मेरे लिये दो कबूतरोंका शरीर पकाया है उससे कुछ प्रयोजन नहीं किन्तु उसके यहां अपनी बिल्लीके लिये बनाया हुआ वासा (एक रातका रक्खा हुआ) मुर्गेका (कुक्कुट का) मांस भी रक्खा है उसको ले आ उससे काम है।

यह सुनकर सिंह मुनि प्रसन्न हुआ और वहांसे चलकर मंढिक गांवमें रेवतीके घर पहुंचा। रेवती सिंह मुनिको अपने घर आया देखकर प्रसन्न हुई और उठकर कुछ आगे चलकर उसने सिंह मुनिसे पूछा कि आप क्यों पधारे हैं।

तब सिंह मुनि १२७० तथा १२७१ वें पृष्ठपर यों कहता है—

"तुझे देवाणुप्पिए! समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठाए

दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो, अत्थि ते अण्णे परिवासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहाराहि तेण अट्ठो।"

संस्कृतच्छाया—"त्वया देवानुप्रिये! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यार्थं द्वे कपोतकशरीरे उपस्कृते, ताभ्यां नैवार्थः। अस्ति तवान्यं परिवासितं मार्जारकृतं कुक्कुटमांसकं तमाहर तेनार्थः।"

यानी—हे देवानुप्रिये! तूने भगवान् महावीर स्वामीके लिए दो कबूतर बनाये हैं उनसे मुझे कुछ मतलब नहीं किंतु तेरे पास बिल्ली के लिए बना हुआ दूसरा कुक्कुटका (मुर्गेका) बासा मांस है उससे मतलब है उसे तू ले आ।

तदनंतर रेवतीको यह सुनकर आश्चर्य हुआ उसने पूछा तुमने मेरे घरकी बात कैसे जानी? तब सिंहमुनिने रेवतीसे कहा कि मैंने जैसा तुझसे कहा है वैसा मैं सब जानता हूं। तब रेवतीने प्रसन्न होकर उसको वह सब दे दिया। इस दानके प्रभावसे रेवतीने देवायुका बंध किया।

सिंहमुनिने वह भोजन लाकर महावीर स्वामी के हाथमें छोडदिया और महावीर स्वामीने उस भोजन को खाकर पेटमें पहुंचा दिया।

तदनन्तर १२७२ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

"तएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारि—यस्स समणस्स विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसंते। हट्ठे जाए आरोग्गे बलियसरीरे तुट्ठा समणा" इत्यादि।

संस्कृत—"तदा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तमाहारमाहार्यमाणस्य विपुलो रोगातङ्कः क्षिप्रमेवोपशान्तः, हृष्टो जात आरोग्यो बलवच्छरीरः तुष्टाः श्रमणाः" इत्यादि।

यानी— तब उस आहारको करनेवाले श्रमण भगवान महावीर स्वामीका प्रबल रोग व्याधि तुरन्त शान्त हो गई। भगवान प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ सब साधु सन्तुष्ट हुए।

भगवतीसूत्रके उल्लिखित कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दोंके

अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली ही हैं इसके लिये हम जगत्प्रसिद्ध संस्कृत शब्दोंके भंडार अमरकोश का प्रमाण उपस्थित करते हैं ।

अमरकोशके दूसरे काण्ड सिंहादि वर्गके १४ वें श्लोकमें लिखा है कि—

" पारावतः कलरवः कपोतोऽथ शशादनः " १४ ॥

अर्थात्— पारावत, कलरव और कपोत ये तीन नाम कबूतरके हैं ।

इससे सिद्ध हो गया कि रेवतीने महावीर स्वामीके लिये दो कबूतर ही पकाये थे ।

कुक्कुट शब्दका अर्थ अमरकोशके इसी द्वितीय कांडके सिंहादि· वर्गके १७ वें श्लोक में यों लिखा है—

कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः ।। १७ ॥

यानी— कृकवाकु, ताम्रचूड, कुक्कुट, चरणायुद्ध ये चार नाम मुर्गेके हैं ।

इससे यह प्रमाणित हुआ कि रेवतीके घर उसकी बिल्लीके लिये मुर्गेका मांस बना रक्खाथा जिसको सिंह मुनिने महावीर स्वामीके लिये मागा और रेवतीने उसको उसे दे दिया ।

मार्जार शब्दका अर्थ अमरकोशके उक्त दूसरे कांडके सिंहादिवर्गमें यह लिखा है—

ओतुर्बिडालो मार्जारो वृषदंशक आखुभुक् ॥ ६ ॥

अर्थात्—ओतु, बिडाल, मार्जार, वृषदंशक, आखुभुक् ये ५ नाम बिल्ली के हैं ।

इससे यह साबित हुआ कि भगवती सूत्रमें आये हुए 'मार्जार' शब्दका अर्थ ' बिल्ली ' ही है ।

इस प्रकार भगवती सूत्रमें जो महावीरस्वामीको मांसभक्षण करके रोग शान्त करने वाला लिखा है इसके विषयमें क्या लिखा जाय? जो मांस गृहस्थ श्रावकके लिये अभक्ष्य है उसको तीर्थप्रवर्तक श्री महावीर स्वामी मगवाकर खावें इससे बढकर हीन बात और क्या हो सकती

है ? भगवती सूत्रके ऐसे उल्लेखसे जैनधर्म और विशेषतया श्वेतांबर जैन धर्मका कितना भारी गंदा अपवाद हो सकता है ?

उक्त तीनों शब्दोंका अर्थ अन्य प्राचीन कोष भी इसी प्रकार करते हैं। विश्वलोचन कोष टान्त वर्ग, ३८ वां श्लोक, ५० वां पृष्ठ—

कुक्कुटस्ताम्रचूडे स्यात् कुक्कुभे वाग्निकुक्कुटे।
निषादशूद्रयोश्चैव तनये त्रिपु कुक्कुटः॥

यानी–कुक्कुट शब्दके तीन वाच्य हैं मुर्गा अग्निकुक्कुट, भीलजाति, शूद्रजाति, तथा पुत्र।

कपोतः स्यात् कलरवे कवकाख्ये विहङ्गमे,
कलितं विदिताप्याप्ते स्वीकृतेऽप्यभिपद्य। १०२

विश्वलोचन १३६ पत्र तान्तवर्ग १०२ श्लो.

अर्थात्–कपोत शब्द कलरव, कवक (कबूतर) का वाचक है तथा सूक्ष्म शब्दके लिये भी कपोत शब्द आता है।

मार्जार ओतौ खट्टाशो मुदिरः कामुकेऽम्बुदे।

विश्वलोचन रान्तवर्ग २०८ वां श्लोक.

अर्थात्–मार्जार, ओतु, खट्टाश, ये नाम बिल्लीके हैं।

भेदिनी कोष में भी ऐसा लिखा है—

कपोतः स्याच्चित्रकंठपारावतविहङ्गयोः। २

पृष्ठ २३

अर्थ—कपोत, चित्रकंठ, पारावत ये कबूतरके नाम हैं।

इस प्रकार प्रायः सभी प्राचीन कोषोंमें कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दोंका अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली लिखा हुआ है। भगवतीसूत्रके इन शब्दोंका अर्थ टीकाकारोंने बदलकर कुछ और किया है किन्तु वह अर्थ असंगत तथा निराधार बैठता है। दो, एक विद्वानोंके मुखसे यह भी मालूम हुआ कि कुछ श्वेताम्बरीय विद्वानोंने कोष बनाकर इन शब्दोंके अर्थ अन्य और कर दिये हैं। परन्तु भगवतीसूत्रके इस उल्लेखके अर्थका निर्णय उन कोषोंसे नहीं माना जा सकता क्योंकि उन्होंने इस दोष को

बचानेके लिये ऐसा किया होगा। कोष इस विषयमें वे निर्णय दे सकते हैं जो कि श्वेताम्बरीय न हों अथवा जो श्वेताम्बरीय कोष भी हों तो भगवती सूत्रकी रचनाकालसे पहले समयके बने हों।

—०—

तथा—केवलज्ञानी महावीर स्वामीपर उपसर्ग होना यह भी सिद्धांतविरुद्ध बात है अत एव असत्य है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरा भागके ११७ वें पृष्ठपर केवलज्ञान हो जानेपर प्रगट होनेवाले ११ अतिशयोंमेंसे तीसरा अतिशय यों लिखा है—

पुव्वब्भवरोगादि उवसमंति नय होइ वेराइं ॥ ४४९ ॥

यानी-केवलीके पहले उत्पन्न हुए रोग शांत हो जाते हैं और नया कोई रोग उत्पन्न नहीं होता।

मुनि आत्मारामजीने अपने जैनतत्वादर्श ग्रंथमें ३४ अतिशयोंका वर्णन करते हुए ४ थे पृष्ठपर चौथा पांचवां अतिशय यों लिखा है—

“ साढे पच्चीस योजनप्रमाण चारोंतर्से उपद्रवरूप ज्वरादि रोग न होवे तथा वैर (परस्पर विरोध) न होवे। ”

केवली तीर्थंकर भगवानके ये अतिशय जब नियमसे होते हैं तो क्या वे महावीर स्वामीके नहीं हुए थे? यदि नहीं तो वे तीर्थंकर केवली कैसे? यदि उनके भी वे अतिशय थे तो उनके पास गोशालने प्राणघातक उपसर्ग कैसे किया? दोनों बातोंमेंसे एकही सत्य हो सकती है कि या तो महावीरस्वामी पर उपसर्ग ही नहीं हुआ या केवलज्ञानीके उक्त अतिशय ही नहीं होवे।

सारांश— केवलज्ञानधारी श्री महावीरस्वामीपर उपसर्ग हुआ माननेसे निम्न लिखित दोष आते हैं।

१—श्री महावीरस्वामी केवलज्ञानी थे उनके ११ अतिशय प्रगट हो चुके थे इस कारण श्वेताम्बरीय सिद्धान्त अनुसार भी उनपर तथा उनके समीप बैठे हुए दो साधुओंपर गोशालकी तेजोलेश्या द्वारा प्राणघातक उपसर्ग हो ही नहीं सकता। क्योंकि जिनके अलौकिक प्रभाव से जन्मविरोधी जीव भी जिनके चारों ओर २५। २५ योजन तक वैर

विरोध छोड जाते हैं फिर गोशाल उनके ऊपर अपना कोप कैसे चला सकता था ।

२—महावीरस्वामीके पास शीतलेश्या भी थी जिससे उन्होंने कल्पसूत्रके ७३ वें पृष्ठके लेखानुसार कूर्म ग्राममें वैश्यायन तापसीद्वारा गोशाल के ऊपर छोडी गई तेजोलेश्याको शान्त कर दिया था । उसी शीतलेश्यासे श्री महावीर स्वामी गोशालकी छोडी हुई तेजो-लेश्यासे अपने समीपवर्ती दो साधुओंको तथा गोशालको भस्म होनेसे बचाते । कमसे कम अपने ऊपर तो कुछ असर न होने देते ।

३—केवलज्ञान हो जानेपर जब भय (डर) नष्ट हो जाता है तो आनन्द साधु द्वारा गोशालकी बात सुनकर गोशालके साथ कुछ न बोलनेके लिये महावीर स्वामीने क्यों निषेध करवाया ।

४—केवलज्ञानीको जब राग द्वेष नहीं रहता तब महावीर स्वामीने अपने कष्टपीडित शरीर के विषयमें साधुओंका रोना सुनकर सिंहमुनि को बुलवा कर उससे अपने १६ वर्षतक और जीवित रहनेकी बात क्यों कही ?

५—जब अल्पज्ञानी साधु को भी प्रेरणा करके अपने लिये विशेष भोजन मगवाकर खानेका निषेध है तो फिर सर्वज्ञ, वीतराग महावीर स्वामीने अपने लिये विशेष आहार लानेके लिये सिंह मुनिको रेवतीके घर क्यों भेजा ?

६ केवलज्ञानधारी महावीरस्वामी सर्वज्ञ थे. फिर उन्होंने गोशालके भयानक उपसर्गको पहले ही क्यों नहीं जानकर उसका उचित उपाय कराया ? तथा अपने रोग शान्तिका उपाय भी पहले मालूम होगया फिर उसको दूर करनेका भी उपाय पहलेसे क्यों नहीं किया ?

७ भगवान् महावीर स्वामीको घातिया कर्म नष्ट हो जानेके कारण अनंतज्ञान, अनंतदर्शन तथा अनंतसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त हो गये थे फिर उनको उपसर्गका दुख क्यों हुआ ? जिसको दूर किये विना उन्हें शान्ति न मिली ?

८ भगवान् महावीरस्वामी सर्वज्ञ थे वे गोशालकी दुष्ट प्रकृतिको साफ समझते थे फिर उन्होंने उसको क्रोध उत्पन्न करनेवाला उत्तर क्यों दिया? जिससे उनके ऊपर उसने तेजोलेश्या छोडी।

इत्यादि अनेक दोष आजानेसे सिद्ध होता है कि केवली दशामें की महावीर स्वामीपर उपसर्ग होनेकी बात असत्य है।

—o—

श्री महावीर स्वामीका गर्भहरण.

अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायके विरुद्ध श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें एक यह बात लिखी है कि महावीर स्वामी पहले नीचगोत्रके उदयसे देवानंदा ब्राह्मणीके गर्भमें आये थे। फिर इन्द्रने हरिणगमेसी देवको भेजकर भगवान महावीर स्वामीको ८२ दिन पीछे देवानंदाके पेटमेंसे निकलवाकर त्रिशलारानीके पेटमें रखवा दिया और उसकी गर्भस्थ पुत्रीको देवानंदा के पेटमें रखवा दिया।

श्री महावीर स्वामीके गर्भमें आनेके पहले देवानंदाको १४ शुभ स्वप्न दीखे थे और ८२ रात पीछे त्रिशला रानीके पेटमें पहुंचनेके पहले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशला रानीको भी दिखलाई दिये थे।

इस वृत्तान्तको कल्पसूत्रके १० वें पृष्ठपर यों लिखा गया है—

" जे भगवंत ब्राह्मणकुंड नामना नगरमां कोडाल गोत्री एवा ऋषभदत्त ब्राह्मणनी स्त्री देवानंदा ब्राह्मणी के जे जालंधर गोत्री छे तेनी कुक्षिमां गर्भपणा थी उत्पन्न थया हता। ते क्यारे उत्पन्न थया हता के, पूर्वरात्र अने अपररात्रना समयमां अर्थात् मध्यरात्रे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रना योगने प्राप्त थतां, दिव्य आहार, दिव्यभव अने दिव्य शरीरनो त्याग करवाथी ज्यारे भगवंत गर्भमां उत्पन्न थया त्यारे ते त्रण ज्ञान थी युक्त हता।.........जे रात्रे श्रमण भगवंत श्री महावीर प्रभु देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमां उत्पन्न थया ते रात्रिए.........चौद महास्वप्नोने जोइ ते देवानंदा ब्राह्मणी जागी गयां।"

यानी—भगवान् महावीर ब्राम्हणकुंड नगरमें कोडाल गोत्रवाले

ऋषभदत्त ाम्हणकी स्त्री देवानंदा ब्राम्हणी जो जालंधर गोत्रवाली थी उसके उदरमें गर्भरूपसे उत्पन्न हुए । वे कैसे गर्भमें आये ? कि (आषाढ शुक्ला षष्ठी) आधी रातके समय जब कि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रमाके योगको प्राप्त हुआ था, दिव्य (स्वर्गके) आहार, देव पर्याय और देवशरीरको छोडकर जब गर्भमें आये तब भगवान् मति, श्रुत, अवधिज्ञान सहित थे । जिस रातको श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी देवानंदा ब्राह्मणीके गर्भमें आये उस रातको देवानंदा ब्राह्मणी चौदह बडे शुभ स्वप्न देख कर जाग गई ।

दिगम्बर सम्प्रदायमें जो तीर्थंकर की माताको १६ स्वप्न दिखलाई देना बतलाया गया है उनमेंसे श्वेताम्बर सम्प्रदायने १ मीनयुगल (मछलियोंका जोडा) २ सिंहासन ३ धरणीन्द्रका विमान इन तीन स्वप्नोंको नहीं माना है तथा ध्वजाका स्वप्न अधिक माना है। शेष १३ स्वप्न दोनों सम्प्रदायोंके एक सरीखे हैं । उनमें अंतर नहीं है ।

इस प्रकार जब महावीर स्वामी देवानंदाके गर्भ में आगये तब सौधर्म इन्द्रने उनको अपने सिंहासन से उतरकर परोक्ष नमस्कार किया । इस बातको कल्पसूत्रके १७ वें पृष्ठपर यों लिखा है ।

' ते श्रमण भगवंत श्रीमहावीर प्रभु के जे आदिकर सिद्धिगति नामना स्थान प्रत्ये जवानी इच्छा वाला छे तेमने नमस्कार हो । ...ते देवानंदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमां रहेला ते वीरप्रभुने हुं वंदना करुं छुं हुं अहीं रह्यो छुं अने ते प्रभु कुक्षिमां रह्या छे........ते करीने इन्द्र पूर्वाभिमुखे सिंहासन उपर बेठो "

अर्थात्—वह श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी जो सिद्धशिला जानेकी इच्छा रखनेवाला है उसको नमस्कार हो । उस देवानंदा ब्राह्मणीके पेटमें रहनेवाले श्री वीर प्रभुको मैं वंदना करता हूं । मैं यहां हूं और वह भगवान देवानंदाके पेटमें है । ऐसा नमस्कार करके इन्द्र पूर्व दिशामें मुखकर सिंहासनपर बैठ गया ।

इस प्रकार सौधर्म इन्द्रको महावीरस्वामीके देवानंदा ब्राह्मणीके गर्भमें आनेका वृत्तान्त पहलेसे ही मालूम था तदनुसार अन्य तीर्थ

करोंके समान श्री महावीर स्वामी का गर्भकल्याणक शायद इसी देवानंदाके घर हुआ होगा जिसका कि कुछ भी उल्लेख कल्पसूत्रमें नहीं दिया है। तीर्थंकरके माता पिताके घर गर्भावतारसे छह मास पहले जो रत्नवर्षा होती है उसका भी यहां कुछ उल्लेख नहीं। इस तरह कल्पसूत्र तथा अन्य भी श्वेतांबरीय ग्रंथोंके अनुसार श्री महावीर स्वामीने ऋषभदत्त ब्राम्हण और देवानंदा ब्राम्हणीके यहां अवतार लिया।

इसके आगेका वृत्तांत कल्पसूत्रके २२ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

" त्यांथी चवीने पूर्वे मरीचिभवमां बांधेला अने भोगववाने बाकी रहेला नीचैर्गोत्रना कर्मथी सत्यावीशमे भवे ब्राम्हणकुंडगाममां ऋषभदत्त ब्राम्हणनी देवानंदा ब्राम्हणीनी कुक्षिमां ते उत्पन्न थयां। तेथी शक्र इन्द्र आ प्रमाणे चिंतवे छे — के एवी रीते नीच गोत्र कर्मना उदयथी अर्हत चक्री वासुदेव विगेरे अंत प्रमुख नीच कुलोमां आव्या छे आवे छे अने आवशे पण जन्म लेवाने माटे ते आवुं योनिमांथी निकलवुं थतुं नथी नीकलता नथी अने नीकलशे नहीं। भावार्थ एवो छे के कदाचित् कर्मना उदयथी ते अर्हत विगेरेनो अवतार तुच्छ प्रमुख नीचगोत्रमां थाय पण योनिथी जन्म थयुं नथी अने थशे नहीं। "

अर्थात्—उस बीस सागर आयुवाले प्राणत स्वर्गसे चयकर भगवान महावीर स्वामीका जीव पहले मरीचि भवमें बांधे हुए और भोगनेके लिये शेष रहे नीच गोत्र कर्मके उदयसे २७ वें भवमें ब्राम्हणकुंड ग्रामनिवासी ऋषभदत्त ब्राम्हण की स्त्री देवानंदाके पेटमे आये हैं। इस कारण इन्द्र सोचता है कि इस प्रकार नीच गोत्र कर्मके उदयसे तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अन्त्यज (मेहेतर) इत्यादि नीच कुलोमें गर्भरूपसे आये हैं। आते हैं। और आवेंगे। किन्तु जन्म लेनेके लिये उनकी (नीच कुलीन माताओंकी योनिमेंसे निकलना नहीं होता है। अबतक उन नीच कुलीन माताओंकी योनिसे वे तीर्थंकर आदि न तो निकले हैं न निकलते हैं और न निकलेंगे। सारांश यह है कि कदाचित कर्मके उदयसे अर्हत

आदिका अवतार नीच कुलमें हो जावे किन्तु इनकी योनिमेंसे जन्म न तो हुआ है और न होगा।

इस प्रकार सोच विचार कर इन्द्रने जो किया सो कल्पसूत्रके २३ वें पृष्ठभर यों लिखा है—

" शक्र इन्द्र पोतानुं चिंतवेलुं हरिणेगमेषी देवने कहे छे। वली कहे छे हे देवानुप्रिय--इन्द्रोनो आचार छे ते कारण माटे तुं जा अने देवानंदा ब्राह्मणीनीं कुक्षिमांथी भगवंत त्रिशला क्षत्रियाणीनी कुक्षिमां मुकी दे अने त्रिशलानो जे गर्भ छे तेना देवानंदानी कुक्षिमां मुकी दे।"

अर्थात्– इन्द्रने हरिणेगमेषी देवको बुलाकर अपनी चिन्ता कह सुनाई और कहा कि हे देवानुप्रिय। इन्द्रका कर्तव्य (तीर्थंकरके गर्भको उच्चकुलीन स्त्रीके पेटमें पहुंचवाना) है इस लिये तू जा और देवानंदा ब्राह्मणीके पेटमें से भगवानको निकालकर त्रिशला क्षत्रियाणीके उदरमें रख आ तथा जो त्रिशलाका गर्भ है उसको देवानंदाके पेटमें रख आ।

इन्द्रकी आज्ञा अनुसार हरिणेगमेषीदेवने भगवान महावीर स्वामीका गर्भ किस दिन परिवर्तन किया इस विषयमें कल्पसूत्रके २४ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

" ते समये श्रमण भगवंत महावीर वर्षाकाल सबंधी त्रीजा मासनु पाछमुं पखवाडीयुं जे आश्वीन मासनुं कृष्णपक्ष त्रयोदशीनो पक्ष पाछालनो अर्ध अर्थात् रात्री एकंदर बाशी अहोरात्र अतिक्रान्त थया पछी त्राशीमा अहोरात्रनो अंतराकाल एटले रात्रिनो काल प्रवर्तता ते हरिणेगमेषी देवताए त्रिशला मातानी कुक्षिमांते भगवंतनो गर्भ संठस्रो.........जे रात्रे श्रमण भगवंत महावीर देवानंदानी कुक्षिमांथी त्रिशलानी कुक्षिमांसं हरणथी आव्या ते रात्रे ते देवानंदाए पूर्वे कहेला चौद स्वप्नो त्रिशलाए हरी लीधेला जोया"

यानी--उस समय श्रमण भगवान महावीर ८३ दिनके होगये थे वर्षाकाल संबन्धी तीसरा महीना या पांचवा पक्ष जो आसोज महीने

की कृष्णपक्षवाली त्रयोदशीको ८३ वां दिन था उस रात्रिके समय हरिणेगमेषी देवने त्रिशला माताके पेटमें भगवान्को पहुंचाया। जिस रातको श्रमण भगवान् महावीर देवानंदा ब्राह्मणीके पेटमेंसे त्रिशला रानीके पेटमें संहरण रूपसे आये उस रातको त्रिशलाको वे १४ शुभ स्वप्न दिखाई दिये जो कि पहले देवानंदाने देखे थे।

सारांश यह है कि भगवान् महावीर आषाढ सुदी ६ से आसोज वदी त्रयोदशीकी आधी रात तक देवानंदा ब्राम्हणीके पेटमें रहे और उसके पीछे फिर त्रिशला रानीके गर्भमें रहे।

श्री महावीर स्वामीके गर्भहरणकी यह कथा सभी श्वेतांवरीय शास्त्रोंमें प्राय इसी प्रकार समान रूपसे है। इस गर्भहरणकी बातको भी श्वेतांवरीय ग्रंथकारोंने "अछेरा" कहकर टाल दिया है। किंतु बुद्धिमान पुरुष असंभव बातको इतनी टालमटूलसे नेत्र मीचकर स्वीकार नहीं कर सकता।

भगवान महावीर स्वामीके गर्भहरणका यह कथन कितना अस्वाभाविक, बनावटी इसी लिये असत्य है इसको प्रत्येक साधारण पुरुष भी समझ सकता है। जिस तीसरे मासमें गर्भाशयके भीतर शरीरका आकार भी पूर्ण नहीं बन पाता है उस अधूरे गर्भको एक पेटसे निकाल दूसरे पेटमें किस प्रकार रक्खा जा सकता है? शारीरिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र तथा विज्ञान शास्त्रके अनुसार तीन मासका गर्भ पेटसे निकलनेपर कभी जीवित ही नहीं रह सकता। दूसरे पेटमें जाकर जमकर वृद्धि पावे यह तो एक बहुत दूरकी बात ठहरी। इस कारण यह गर्भ हरण की बात सर्वथा असत्य है।

महावीर स्वामीके गर्भहरणकी असत्य बातको सच्चा रूप देनेके लिये "भगवान् ऋषभदेवके पौत्रने अपने उस मरीचिके भवमें अपने पिता (भरत) पितामहके (बाबा—भगवान् ऋषभदेव) चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर होनेका तथा आगामी समयमें अपने तीर्थंकर होनेका गर्व किया था इस कारण महावीर स्वामीके जीवने उस मरीचि भवमें जो नीच गोत्र कर्मका बंध किया उसका उदय असंख्यात वर्ष पीछे इस अंतिम

तीर्थंकर होनेके भवमें आया जिससे कि ब्राह्मणीके पेटमें अवतार लिया" यह कल्पित कथन कर्मसिद्धांत तथा चरणानुयोगके विरुद्ध है ।

प्रथम तो यह कि ब्राम्हणवर्ण शास्त्रोंने तथा संसारमें कहीं किसी ने भी नीच कुल नहीं बतलाया है। द्विजवर्णोंमें भी उत्तम बतलाया है। अत एव नीच गोत्रके उदयसे ब्राह्मण कुलमें जन्म हो नहीं सकता। यदि महावीर स्वामीके जीवने नीच गोत्रका बंध ही किया था तो उनका जन्म किसी शूद्र कुलमें होना था। विशुद्ध कुलमें जन्म तो उच्च गोत्रके उदयसे होता है जिसमें कि इन्द्रको चिंतातुर होनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी। श्री महावीर स्वामीके गौतम आदि ब्राह्मण कुलीन जो गणधर थे सो क्या कल्पसूत्रके इस कथनानुसार नीच-कुली थे?

श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध आचार्य आत्मारामजी ब्राह्मण ही थे उन्होंने अपने जैनतत्व के ५०९ वें पृष्ठपर तथा तत्वनिर्णयप्रासादके ३६५ वें तथा ३७८ वें पृष्ठपर ब्राह्मणवर्णको उच्चवर्ण बतलाया है। भरतचक्रवर्तीने सर्वोत्तम पुरुषोंको ही ब्राह्मण वर्ण बनाया था। अत एव महावीर स्वामीका देवानंदा ब्राह्मणीके गर्भमें अवतार लेनेको नीचगोत्रका फल कहना बडी भारी मोटी भूल है।

दूसरे कर्मसिद्धान्त इस कल्पित बातको बहुत बलपूर्वक सर्वथा असत्य सिद्ध करता है। क्योंकि देखिये, नीचगोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागर है। यदि मरीचिने अधिकसे अधिक संक्लेश परिणाम रक्खे थे तो उसने २० कोडाकोडी सागर की स्थितिवाला नीच-गोत्र कर्म बांधा होगा। यह बीस कोडाकोडी सागरकी स्थितिवाला कर्म कर्मसिद्धान्तके नियमानुसार दो हजार वर्ष पीछे ही अपना आबाधा काल टालकर उदयमें अवश्य आना चाहिये। और तदनुसार दो हजार वर्ष पीछे ही मरीचिका जन्म नीचगोत्र कर्मके उदयसे बराबर लगातार २० कोडाकोडीसागर तक नीचकुलमें ही होता रहना चाहिये था।

किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जिस समय उसके नीचगोत्रका बंध हुआ बताया जाता है उस समयसे लेकर करोडों वर्ष तक तो केवल

उसी उच्चकुलीन मनुष्यशरीरमें रहा। दो हजार वर्षके स्थानपर दो वर्ष समझ लीजिये। उसके नीचगोत्रका उदय हुआ ही नहीं। उसके पीछे २७ स्थूल भवोंमें भी वह उच्चगोत्री ही होता रहा। कभी किसी स्वर्गका देव, कभी किसी स्वर्गका देव, कभी कहींका राजा, कभी कहीं ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुलोंमें ही उत्पन्न होता रहा। यदि मरीचिकुलमें उसने महावीर स्वामीके भव तक रह सकने योग्य बड़ी स्थिति वाले नीचगोत्रकर्मका बंध किया था तो बीच बीचमें ऐसे उच्चगोत्री भव कदापि नहीं मिलने थे. " बीच बीचके भवोंमें तो नीचगोत्रका उदय आया नहीं किन्तु महावीर स्वामीके भवमें उस नीचगोत्रका उदय आगया " यह बात स्वयं श्वेताम्बरी कर्मग्रंथ रचयिता विद्वानोंके लेखसे ही बिलकुल असत्य सावित होती है।

तीसरे--इन्द्रने भी कठिन परिश्रम उठाकर क्या किया ? श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके कथनानुसार महावीर स्वामीके आत्माका शरीरपिंड तो ब्राह्मणके वीर्य तथा ब्राह्मणीके रजसे बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन रात तक ब्राह्मणीके रस रक्त से वृद्धि पाये हुए पिंडको इन्द्र चाहे जहां उठाकर रख देवे; पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्रका परिश्रम भी व्यर्थ समझना चाहिये। चौथे, इन्द्र महावीरस्वामीके नीचगोत्र कर्मको मेट भी कैसे सकता है। यदि इन्द्रमें अशुभ कर्म मेटनेकी शक्ति हो तो वह स्वयं कभी इन्द्रपर्यायसे मरना ही नहीं चाहिये, न उसको अपनी इन्द्राणीका मरण होने देना चाहिये। जिस बातके तीर्थंकर तथा सर्व कर्मरहित सिद्धपरमेष्ठी में भी करनेकी शक्ति नहीं उसे इन्द्र करदे तब तो यों समझना चाहिये कि इन्द्र ही सबसे बड़ा परमात्मा है। फिर श्वेताम्बरी भाइयोंको इन्द्रके सिवाय अन्य किसीका पूजन भी क्यों करना चाहिये ?

पांचवें, इन्द्रको जब देवानंदा ब्राह्मणीके पेटमें महावीरस्वामीके अवतार लेनेका समाचार पहले (शुरू) से ही मालूम था तो फिर उसने इतने दिन ब्राह्मणीके गर्भ में उनको क्यों रहने दिया ? उसी समय उनको वहांसे क्यों नहीं हटा दिया !

छठे-हरिणेगमेषी देवने महावीरस्वामीका गर्भ देवानंदा ब्राह्मणीके मुखसे निकाला ? या उदरसे निकाला ? अथवा योनिमार्गसे निकाला ? मुखसे तो इस कारण नहीं निकल सकता कि गर्भ औदारिक शरीरके रूपमें था उस स्थूल औदारिक शरीरको विना उदर आदि फाडे उदर तथा मुख मार्गसे निकालना असंभव है। यदि उस देवने गर्भको योनि मार्गसे निकाला तो कहना चाहिये कि ब्राह्मणीके यहां ही महावीर स्वामीने जन्म ग्रहण किया क्योंकि गर्भस्थ बालकका अपनी माताकी योनिसे बाहर निकलना ही जन्म लेना कहलाता है।

सातवें-लोकमें किसी साधारण मनुष्यको भी दो पिताओंका पुत्र कहना अपमानजनक समझा जाता है। फिर भी महावीरस्वामी तीर्थंकर सरीखे लोकवंदनीय महापुरुषको ऋषभदत्त ब्राह्मण और सिद्धार्थ राजाका पुत्र कहना कितना घोर पापजनक वचन है।

आठवें---देवानंदा ब्राम्हणीके पेटसे निकालते समय महावीर स्वामीके शरीरपिंडके नाभितंतु वहींपर टूट गये होंगे। तब फिर नाभितन्तु टूट जानेपर वह पिंड जीवित कैसे रहा ? नाभितन्तु टूट जानेपर अवश्य मृत्यु हो जाती है।

नौवें-देवानंदा ब्राम्हणीके पेटमें श्री महावीर स्वामीके आते समय देवानंदाको १४ स्वप्न दिखाई दिये थे तदनुसार उसके घर गर्भ-कल्याणक हुआ होगा। और त्रिशला रानीके पेटमेंपहुंचनेपर उसको भी १४ स्वप्ने दिखाई दिये होंगे तो उसके यहां भी गर्भकल्याणक हुआ होगा। इस कारण श्रीमहावीर स्वामीके ६ कल्याणक हुए होंगे। यदि किसी एक स्थानपर ही गर्भकल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थानपर क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि माताके पेटमें आनेपर ही गर्भ-कल्याणक होता है। यदि गर्भकल्याणक दोनों स्थानोंपर नहीं हुआ तो यों कहना चाहिये कि श्री महावीर स्वामीके चार कल्याणक ही हुए, पांच नहीं।

इत्यादि अनेक प्रबल अनिवार्य दोष उपस्थित होने से निष्कर्ष निकलता है कि श्री महावीर स्वामीका गर्भहरण नहीं हुआ

था। गर्भहरणकी बात कल्पित तथा सर्वथा असत्य है; एवं श्री महावीर स्वामी पर पापजनक असत्य कलंक का टीका लगाना है।

श्री महावीर स्वामीने स्वर्गसे चयकर सिद्धार्थ राजाकी रानी त्रिशलाके उदरमें ही जन्म लिया था तदनुसार इन्द्रने आकर उनका गर्भकल्याणक भी त्रिशला रानी तथा सिद्धार्थ राजाके घर ही किया था और गर्भावतार से ६ मास पहले कुबेरद्वारा रत्नवृष्टि भी सिद्धार्थ राजाके घरही हुई थी।

—।—

अन्यलिङ्गमुक्ति समीक्षा

क्या अजैनमार्गसे भी मुक्ति होती है ?

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक बात और भी विचित्र बतलाई गई है कि अन्यलिंगी साधु भी मोक्ष प्राप्त करलेता है। इसलिये उसको जैनलिंग धारण करनेकी आवश्यकता नहीं। यह बात ऐसी है कि जिसको श्वेताम्बर मतके सिवाय अन्य किसीभी मतने स्वीकार नहीं किया। सभी मत यह कहते हैं कि हमारे बतलाये हुए सिद्धान्तोंके अनुसार चलनेसे ही मुक्ति होगी। अन्यथा नहीं। किन्तु श्वेताम्बर संप्रदाय अपने आपको सत्यधर्म धारक सम्प्रदाय समझता हुआ भी कहता है कि मनुष्य चाहे जिस मतका अनुयायी क्यों न हो, आत्माकी भावना करनेसे मुक्ति पालेता है।

वीर सं. २४४७ में श्री माणिकचंद्र दिगम्बर जैनग्रंथ-मालाके १७ वें पुष्परूप प्रकाशित षट्प्राभृत ग्रंथके १२ वें पृष्ठपर किसी श्वेताम्बर ग्रंथकी यह गाथा लिखी है—

सेयंवरो आसांवरोये बुद्धोय तहय अण्णोय।
समभावभावियप्पा लहेइ सिद्धिं ण संदेहो॥

अर्थात्—मनुष्य चाहे तो श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो अथवा अन्यलिंगधारी ही क्यों न हो; अपनी आत्माकी भावना करनेसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है इसमें संदेह नहीं है।

तदनुसार—प्रकरणरत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरे भागके १२७ वें पृष्ठपर यों लिखा है कि—

इह चउरो गिहिलिंगे दसन्नलिंगे सयंच अट्ठहियं ।
विन्नेयंच सलिंगे समयेणं सिद्धमाणाणं ॥ ४८२ ॥

अर्थात्—एक समयमें अधिक से अधिक गृहस्थलिंगसे चार मनुष्य सिद्ध होते हैं, दश अन्य तापस आदि अजैनलिंगधारी मोक्ष पाते हैं और एक सौ आठ जैनसाधु मुक्ति प्राप्त करते हैं ।

यदि ग्रंथकारके इस लिखनेको श्वेताम्बरी भाई सत्य प्रामाणिक समझते हैं तो उन्हें अजैन जनतामें जैनधर्मका प्रचार कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि जैनधर्म धारण करानेका प्रयोजन तो यह ही है कि साक्षात् रूपसे या परम्परासे वह जैनधर्म ग्रहण करने वाला पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेवे। सो मोक्ष प्राप्ति तो जिस किसी भी धर्ममें वह रहेगा वहांसे ही उसको मुक्ति मिल सकती है । मुक्तिसे ऊंचा कोई और स्थान नहीं जहांपर कि आपके कथनानुसार अन्य लिंगधारी साधु न पहुंच सके ।

यदि अन्यलिंगी साधुको भी मुक्ति होजाती है तो तत्त्वार्थाधिगम सूत्रका—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः

यानी—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी पूर्णता मोक्षका मार्ग है ।

यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि कुगुरु कुदेव, कुधर्मका श्रद्धालु, मिथ्या शास्त्रोंके ज्ञानसे परिपूर्ण और तापस आदिके रूपमें मिथ्या तप आचरण करनेवाला अन्यलिंगी साधु भी जब आपके श्वेतांबरीय ग्रंथोंके अनुसार मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब फिर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र को ही मुक्तिमार्ग बतलानेमें क्या तथ्य रहता है ।

अनेक श्वेतांबरीय ग्रंथकारोंने अपने ग्रंथोंमें कुगुरुकी तथा मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र की बहुत विस्तारसे निंदा की है सो भी निरर्थक है क्योंकि जिनको उन्होंने "कुगुरु" कहा है वे तो मुक्ति प्राप्त करनेके पात्र हैं- उसी अपनी कुगुरु अवस्थासे मुक्ति जा सकते हैं।

तथा वे ग्रंथकार जिन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रको त्याज्य बतलाते हैं वे मिथ्यादर्शनादिक कुगुरुमें विद्यमान रहते हुए उसे मोक्ष पहुंचा देते हैं। फिर वे कुगुरु अवंदनीय क्योंकर हुए? और वे मिथ्या दर्शनादिक त्याज्य क्यों हुए?

श्वेताम्बरीय साधु आत्मारामजीने अपने जैनतत्वादर्श, तत्वनिर्णय-प्रासाद ग्रंथमें कुगुरु तथा मिथ्यादर्शनादिककी बहुत निन्दा की है सो उन्होंने भी बहुत भारी भूल की है क्योंकि जो कुगुरु अपनी इच्छानुसार श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करनेसे मुक्ति जा सकते हैं उनकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है।

तथा श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमें जो गुणस्थानोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिखाया है, एक प्रकारसे वह सब भी व्यर्थ है क्योंकि उस गुणस्थान प्रणालीके अनुसार जब कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती अन्यलिंगी साधु अपनी दशामें ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है तो आगे के गुणस्थानों से और क्या विशेष लाभ होगा?

श्वेताम्बरी भाइयोंको अन्यलिंगी साधुओंको भी अपना गुरु मानकर वंदना करना चाहिये क्योंकि वे भी श्वेताम्बरीय साधुओंके समान मोक्ष-सिद्धि कर सकते हैं। मोक्ष सिद्धि करने वाला ही परमगुरु होता है।

इस प्रकार अन्यलिंगी साधुओंको मुक्ति प्राप्त कर लेनेवाला मान लेनेसे श्वेताम्बरीय शास्त्रोंका सम्पूर्ण उपदेश भी व्यर्थ है उससे कुछ भी विशेष सार फल नहीं मिल सकता।

श्वेताम्बरी भाई यदि स्वतंत्ररूपसे विचार करें तो उनको मालूम होगा कि अन्यलिंगसे मुक्तिकी प्राप्ति मानना इस कारण ठीक नहीं कि मुक्ति आत्माकी पूर्ण शुद्धता हो जानेपर प्राप्त होती है। आत्माकी शुद्धता पूर्ण वीतरागतामें मिलती है क्योकि जब तक आत्माके साथ राग द्वेष आदि मल लगे हुए हैं तब तक आत्माको अपनी: शांत शुद्ध दशा नहीं मिलने पाती। वीतरागताका मुख्य साधन सम्यक्चारित्र है। महाव्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा आदि क्रियाओंका पालन करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है और इसी सम्यक्चारित्रसे कर्मास्रवके कारण नष्ट होते हैं, कषायें शांत होनेसे वीतरागता प्राप्त होती है।

सम्यक्चारित्र उस समय प्रगट होता है जब कि पहले सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो जाता है। बिना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए कठिनसे कठिन आचरण भी सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता है। जैसे द्रव्यलिंगी साधुका चारित्र। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सच्चे देव सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रके यथार्थ श्रद्धानसे तथा जान लेनेसे होता है। इस वीतराग सर्वज्ञ देवके कहे हुए तत्त्व, द्रव्य आदिका निःशंक, निश्चय रूपसे श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति प्राप्तिके साधन हैं। अन्यलिंगी साधुओंको वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होते नहीं हैं क्योंकि यदि उनको इन तीनोंकी प्राप्ति हो जावे तो वे अन्यलिंगी ही क्यों रहें जैनलिंगी न हो जावें ? इस कारण अन्यलिंगसे मुक्ति मानना बडी भारी गहरी भूल है।

अन्यलिंगी साधुओंको न तो अपने आत्मस्वरूका पता है, न वे परमात्माका यथार्थ स्वरूप समझते हैं, न उनको संसार, मोक्षका यथार्थ ज्ञान है। अत एव मुक्ति हासिल करनेके साधनोंसे भी वे पूर्ण परिचित नहीं। इसी कारण उनकी अमली कार्यवाही (आचरण) और उनका उद्देश गलत है। कोई आत्माको कल्पित रूपसे मानता है, कोई आत्माको ज्ञान आदि गुणोंसे शून्य मानता है, कोई आत्माको ब्रम्हका एक अंश समझते हैं। इसी प्रकार परमात्माको कोई अवतारधारी, संसारमें आकर संसारी जीवोंके समान कार्य करनेवाला मानते हैं, कोई अवतारधारी तो नहीं मानते किंतु उसको संसारका कर्ता हर्ता मानते हैं, कोई परमात्मा मानते ही नहीं हैं। इत्यादि।

यह ही दशा उन अन्यलिंगी साधुओंकी मुक्ति माननेके विषयमें है। कोई परमात्माकी सेवामें उसके पास पहुंचनेको मुक्ति मानता है, आर्य समाजी साधु मुक्तिमें जाकर कुछ समय पीछे फिर वहांसे लौट आना मानते हैं। बौद्ध साधु आत्माके सर्वथा नाशको मुक्ति मानते हैं, वेदांती ब्रम्हमें लय होजानेको मुक्ति कहते हैं, नैयायिक मतानुयायी ज्ञान आदि गुण आत्मासे हट जानेपर आत्माकी मुक्ति समझते हैं। इत्यादि।

अन्यलिंगी साधुओंकी जब कि श्रद्धान, समझ तथा आचरणकी यह अवस्था है तब उन्हें किस प्रकार तो सम्यग्दर्शन है और किस प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही हो सकते हैं? और किस प्रकार विना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र उत्पन्न हुए उन अन्यलिंगधारी साधुओंको मुक्ति प्राप्त हो सकती है ?

तथा एक बात बड़े भारी कौतूहलकी यह है कि प्रकरणरत्नाकरके तीसरे भागमें पहले लिखे अनुसार अन्यलिंगसे मुक्ति होना बतलाया है और इसी प्रकरणरत्नाकर चौथे भागके संग्रहणीसूत्र नामक प्रकरणमें ७३ वें पृष्ठपर यों लिखा है कि—

तावस जा जोइसिया चरग परिव्वाय बंभलोगो जा।
जा सहस्सारो पंचिंदि तिरियजा अच्चुओ सड्ढा ॥ १५२॥

अर्थात्—तापसी साधु अपनी उत्कृष्ट तपस्याके प्रभावसे भवनवासी आदि लेकर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न हो सकते हैं। और चरक तथा परिव्राजक साधु ब्रह्म स्वर्ग तक जा सकते हैं। सम्यक्त्वी पंचेन्द्रिय पशु सहस्रार स्वर्ग तक जा सकते हैं तथा देशव्रती श्रावक अच्युत स्वर्ग तक जा सकते हैं।

इस उल्लेखके अनुसार अन्यलिंगी साधु ब्रम्ह स्वर्गसे भी आगे नहीं पहुंच सकते। मुक्ति पहुंचना तो बहुत दूरकी बात ठहरी। इस प्रकार प्रकरण रत्नाकर अपनी पहली बातको अपने आप आगे चलकर छिन्न भिन्न कर देता है।

थोडा विचार करनेकी बात है कि यदि अन्य लिंगसे भी मुक्ति सिद्ध होजाती तो तीर्थंकर देव जैन मार्गका क्यों उपदेश देते? और क्यों यह बात बतलाते कि रागद्वेष आदि दूर करनेके लिए इसी प्रकार अहिंसा समिति आदि रूपसे चारित्र पालन करो? अन्यलिंगसे अथवा अन्यलिंगके श्रद्धान, ज्ञान, आचरणसे आत्माकी शुद्धि नहीं हो पाती है; इसीलिये तो वीतराग जिनेंद्रदेवने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र प्राप्त करनेका उपदेश दिया है।

अत एव सिद्ध हुआ कि जैनलिंगके सिवाय अन्यलिंगसे मुक्ति नहीं होती है।

गृहस्थमुक्ति परीक्षा

क्या गृहस्थ मुक्ति पासकता है ?

श्वेताम्बर सम्प्रदायके ग्रंथोंमें 'अन्यलिंगसे मुक्ति' के समान ही गृहस्थ अवस्थासे भी मुक्तिका प्राप्त होना बतलाया है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) के तीसरे भागके १२७ वें पृष्ठपर पूर्वोक्त गाथा लिखी है—

"इह चउरो गिहिलिंगे" इत्यादि ४८२

यानी—गृहस्थलिङ्गसे एक समयमें अधिकसे अधिक चार मनुष्य मुक्त होते हैं।

प्रकरण रत्नाकरका जैसा यह लेख है इसी प्रकार श्वेताम्बरीय प्रथमानुयोगके कथाग्रंथोंमें गृहस्थ अवस्थासे मुक्ति प्राप्त करनेकी कथाएं भी विद्यमान हैं। एक बुढिया उपाश्रयमें (साधुओंके ठहरनेके मकानमें) बुहारी देते देते केवलज्ञान धारिणी होकर मुक्त होगई। एव नट बांसके ऊपर खेलते खेलते केवली होकर मोक्ष चला गया; इत्यादि कथाओंका परिचय तो हमको किसी श्वेताम्बरीय ग्रंथसे नहीं मिलपाया है। हां २।४ अन्य कथाओंका परिचय अवश्य है। एक कथा तो कल्पसूत्र में १०१ पृष्ठपर श्री ऋषभदेव तीर्थंकरकी माता मरुदेवीकी है। जो कि इस प्रकार है।

भरतचक्रवर्ती मरुदेवी माताको हाथीपर चढाकर भगवान ऋषभ-देवके समवसरणमें गये वहां पहुंच कर समवसरणके बाहरसे ही भरतच-क्रवर्तीने आठ प्रातिहार्यसहित, समवसरणके बीचमें विराजमान भगवान ऋषभदेव को मरुदेवी माताको दिखलाये। तदनन्तर भरतचक्रवर्तीने यों कहा—

"तमारा पुत्रनी ऋद्धि जुओ। एव रीते भरतनुं वचन सांभलीने हर्षथी रोमांचित अंगवालां थएलां एव मरुदेवीमातानी आंसुओ पडवा लाग्यां; तथा तेथी तेमनां नेत्रो पण निर्मल थयां। तथा प्रभुनी छत्र, चामर आदिक प्रतिहारोनी शोभा जोइने विचारवा लाग्यां के अहो! मोहथी विव्हल थएला एवा प्राणीओना धिक्कार छे। सघला प्राणीओ "

स्वार्थमाटे स्नेह करे छे. मारो ऋषभ दुःखी होशे एवी रीतनां दुःखथी, सर्वदा रुदन करवाथी मारी तो आंखो पण गइउं। अने ऋषभ तो आवी रीते सुरासुरथी सेवातो थको मारी खबर अंतर माटे तो कइं संदेशो पण मोकलतो नथी। धिक्कार छे आ स्नेहने। इत्यादि विचार करतां केवलज्ञान उत्पन्न थयुं अने तेज वखते आयुकर्मनां क्षयथी ते मोक्षे गयां।"

अर्थात्–(भरतने मरुदेवीसे कहा कि) अपने पुत्र ऋषभदेवकी ऋद्धिको देखो। भरतका ऐसा वचन सुनकर हर्षसे रोमांचित अंग होकर मरुदेवी माता के नेत्रों से हर्षके आंसू निकल पडे और उन आंसुओंसे उसकी आंखें निर्मल हो गईं। तथा भगवान ऋषभदेवकी छत्र, चामर आदि प्रातिहार्योंकी शोभा देखकर मरुदेवी विचारने लगी कि मोहसे विव्हल हुए जीवोंको धिक्कार है। समस्त जीव अपने मतलबके लिये ही दूसरोंसे प्रेम करते हैं। "मेरा पुत्र ऋषभनाथ वनमें रहनेसे दुखी होगा" ऐसे दुखसे रुदन करते करते मेरी तो आंखें थक गईं किन्तु ऋषभनाथ तो सुर असुरों द्वारा सेवित होकर इस प्रकार ऋद्धिको भोगता हुआ मेरी खबरके लिये कोई संदेश भी नहीं भेजता है। इस कारण इस स्नेहभावको धिक्कार है। इत्यादि विचार करते करते (हाथीपर बैठे हुए वस्त्र आभूषण आदि पहने हुए ही) मरुदेवीको केवलज्ञान उत्पन्न होगया और उसी समय आयुकर्मके क्षय होजानेसे वह मोक्ष चली गई।

इस प्रकार मरुदेवी तो बिना कुछ परिग्रह आदिका परित्याग किये हाथीपर चढी हुई ही मोक्ष चली गई। किन्तु रतिसार कुमार अपने राज महलके भीतर अपनी स्त्रियोंके बीचमें बैठे हुए ही अपनी सौभाग्यसुंदरी नामक स्त्रीके मस्तकपर खिंचे हुए तिलकको मिटा देने पर उसकी सुंदरता घटते हुए देख कर विरक्तचित्त होगया। इस वैराग्यके कारण ही उस रतिसार कुमारको उसी महलमें स्त्रियोंके बीच बैठे बैठे केवलज्ञान होगया।

तदनन्तर क्या हुआ? सो रतिसार कुमार चरित्र नामक पुस्तकके (सन् १९२३ में पं. काशीनाथजी, जैन कलकत्ताद्वारा प्रकाशित) ६७ वें पृष्ठपर यों लिखा है–

" उस समय शासन देवताने उन्हें (रतिसारको) मुनिवेश धारण कराया और सुवर्णकमलके आसनपर पधराया। तदनंतर सभी सुरासुर फूल बरसाते हुए उन्हें प्रणाम करने लगे। यह अद्भुत चरित्र देख, राजाके अंतःपुरके सभी मनुष्य चकित होगए और स्त्रियां " हे नाथ यह क्या मामला है ? " यह पूछती हुई, हाथ जोड़े, उत्तर की प्रतीक्षा करने लगीं।"

श्वेतांबर सम्प्रदायका यह सिद्धांत भी बहुत निर्बल आगमप्रमाण और युक्तियोंसे शून्य है। देखिये जिस प्रकरणरत्नाकर तीसरे भागमें गृहस्थ अवस्थासे मुक्तिका विधान है उसी प्रकरणरत्नाकर चौथे भागके ७३ वें पृष्ठपर यह उल्लेख है कि—

विरिय जा अच्चुओ सड्ढा ॥ १५२ ॥

अर्थात्—श्रावक यानी जैन गृहस्थ अधिकसे अधिक अच्युत स्वर्गतक जा सकता है। उससे आगे नहीं।

अच्युत स्वर्गसे ऊपर जानेके लिये समस्त घरबार परिग्रह छोड़कर मुनि होनेकी आवश्यकता है। जब कि ऐसा स्पष्ट सिद्धांत विद्यमान है फिर यह किस मुखसे कहा जा सकता कि विना परिग्रहका त्याग किये और विना साधु पदवी धारण किये मुक्ति मिल जावे। मुक्ति ऐसा कोई कारखाना नहीं जिसमें चाहे जो कोई पहुंचकर भर्ती हो जावे। न वह कोई ऐसा खेल खेलनेका मैदान है जिसमें कि विना कुछ संयम पालन किये, विना कुछ आरम्भ परिग्रह त्याग किये चाहे जो कोई पहुंच जावे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी यह बात स्वीकार करता है कि पूर्ण वीतराग हो जानेपर ही मुक्ति प्राप्त होती है। जब तक जीव में लेशमात्र भी राग द्वेष आदि मोह भाव है तब तक वीतरागताकी पूर्णता नहीं है। मोहका अभाव अन्तरंग बहिरंग परिग्रहका त्याग करनेपर होता है। जब तक जीवके पास अन्तरंग या बहिरंग परिग्रह विद्यमान रहेगा तब तक मोहभाव नहीं हट सकता। इसी कारण मुक्तिकी साधना करनेके लिये समस्तपरिग्रहरहित, परम वीतराग जिनेन्द्र-देवको उद्देश करके समस्त बहिरंग परिग्रह छोड़कर साधुदीक्षा ग्रहण की जाती है।

श्वेताम्बरीय ग्रंथ आचारांगसूत्रमें नग्न जिनकल्पी साधुको इसी कारण उत्कृष्ट साधु माना गया है कि,

वह वीतरागताका सच्चा आदर्श होता है, समस्त वहिरंग परिग्रहका त्यागी होता है। वहिरंग परिग्रह धन, मकान, वस्त्र, आभूषण, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थ अंतरंग परिग्रहके कारण हैं। मनुष्यके पास जब तक मौजूद रहते हैं तब तक मनुष्यके आत्मामें उनके निमित्तसे मोह उत्पन्न होता रहता है। जिस समय वह उन पदार्थोंका परित्याग करके महाव्रतधारी साधु हो जाता है उस समय अंतरंग परिग्रह रागद्वेष आदि परिणाम भी हटने लग जाते हैं। क्योंकि वहिरंग निमित्त नष्ट हो जाने पर उसका नैमित्तिक कार्य राग द्वेष आदि भी नहीं होने पाते।

मनुष्यके पास जब घरबार विद्यमान है तब तक किसी अच्छे पदार्थके निमित्तसे इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होने से उस पदार्थमें राग (प्रेम) उत्पन्न होता है और किसी बुरे पदार्थके संसर्गसे जिसके निमित्तसे कि उसके इंद्रियसुखमें बधा पडती है उस पदार्थमें द्वेषभाव उत्पन्न होता रहता है। जिस समय उन घर बार संबंधी पदार्थोंसे संसर्ग छूट जाता है उस समय वह कुत्सित राग द्वेष भी अपने आप दूर हो जाता है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि बाह्य पदार्थोंका त्याग मानसिक उदासीनताके कारण हुआ करता है। किन्तु वहांपर इतना भी अवश्य है कि उस मानसिक उदासीनता या वैराग्यको स्थिर रखनेके लिये बाह्य पदार्थोंका त्याग करना ही परम आवश्यक है। विना उन बाहरी गृहसंबन्धी पदार्थों का संसर्ग छोडे वह वैराग्यभाव ठहर नहीं पाता। जैसे गृहस्थ लोग अपने किसी प्रिय बन्धुकी मृत्यु होते देखकर कुछ समयके लिये श्मशान भूमिमें वैराग्यकी तरफ झुक जाते हैं। वहांपर संसारकी अनित्यता, उसकी असारताका अनुभव करने लगते हैं। किन्तु घरमें आकर अपनी, स्त्री, पुत्री. बहिन, माता, पुत्र, दुकान आदिको देखकर उनके संसर्गसे फिर जैसेके तैसे हो जाते हैं। वैराग्य न जाने किधर विदा हो जाता है। इस कारण इस बातका खुलासा अपने आप हो जाता है कि

मानसिक वैराग्यको स्थिर रखनेवाला तथा उसको पुष्ट करनेवाला बाह्य परिग्रह का सर्वथात्याग है। मनुष्य जब तक उसका पूर्णतया परित्याग न करे तब तक राग द्वेषपर विजय नहीं पा सकता।

इसी कारण अन्य साधारण मनुष्योंकी बात तो एक ओर रहे किन्तु तीर्थंकर सरीखे मुक्तिरमणीके निश्चित भर्तार भी जब तक समस्त बहिरंग परिग्रह छोड साधुदीक्षा ग्रहण नहीं कर लेते हैं तब तक उनको वीतरागता प्राप्त नहीं होने पाती। चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे कोई भी ऐसा तीर्थंकर नहीं हुआ जिसने परिग्रहका त्याग किये विना ही केवलज्ञान पा लिया हो। जब तीर्थंकर सरीखे उत्कृष्ट चरम शरीरीके लिये यह बात है तो फिर क्या रतिसारकुमार सरीखे साधारण मनुष्योंको वीतरागता पानेके लिये परिग्रह त्याग देना आवश्यक नहीं?

यदि गृहस्थ अवस्थामें भी मनुष्यको मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर साधु बनने, बनाने, उपदेश करने, प्रेरणा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। क्योंकि ऐसा कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं जो कि घरमें मिल सकनेवाले पदार्थको प्राप्त करनेके लिये अनेक कष्ट उठाता हुआ जंगलोंकी धूल छानता फिरे। यदि गृहस्थ मनुष्योंका विराट परिग्रह मुक्ति प्राप्त करनेमें बाधा नहीं डाल सकता तो फिर स्थविरकल्पियोंके वस्त्र, पात्रादिक पदार्थ भी वीतरागतामें क्या विघन उत्पन कर सकते हैं? फिर समस्त वस्त्रपात्रत्यागी नग्न जिनकल्पी साधु उनसे ऊंचे क्यों माने गये हैं?

यहां कोई मनुष्य यह कुतर्क उपस्थित करे कि "मूर्च्छा परिग्रहः" तत्वार्थाधिगमसूत्रके इस सूत्रानुसार धन, धान्य, घर, पुत्रादिका नाम परिग्रह नहीं है किन्तु उन पदार्थोंमें ममत्वभाव (मोहभाव) रखनेका नाम ही परिग्रह है। इस कारण जिस मनुष्यके हृदयसे बाह्य पदार्थोंका प्रेम दूर होगया है वह वस्त्र, आभूषण आदि पहने हुए भी, घरके भीतर स्त्री पुत्रादिमें बैठा हुआ भी परिग्रही नहीं कहा जा सकता है।

इस तर्कका उत्तर यह है कि बाह्य पदार्थोंमें उस मनुष्यको मोहभाव नहीं रहा है यह बात उसके किस कार्यसे मान ली जावे। यदि वह

बाह्य पदार्थोंको अपने नहीं समझता है अन्य ही समझता है तो उसका पहला कार्य होना चाहिये कि वह उनका साथ छोड दे। क्योंकि जो मनुष्य सचमुचमें विषको प्राणघातक समझ लेता है वह फिर उस विषको कभी नहीं खाता है। तदनुसार जो मनुष्य परिग्रहको दुःखदायक समझ जाता है वह फिर उनको छोड भी अवश्य देता है। यदि वह उनको न छोडे तो समझना चाहिये कि उसने परिग्रहको दुःखदायक समझा ही नहीं

यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह त्याज्य नहीं हैं तो फिर तत्वार्थाधिगमसूत्रके सातवें अध्यायके २४ सूत्र " क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः " इस सूत्रमें धन धान्यादिक बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें परिग्रहत्याग व्रतके अतीचार (दोष) क्यों माने गये हैं ?

यदि बाह्य पदार्थोंका विना त्याग किये भी कोई मनुष्य अपरिग्रही (परिग्रहत्यागी) हो सकता है तो कोई मनुष्य स्त्रियोंके साथ भोग विलास करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचारी क्यों नहीं हो सकता ? यहां जो आक्षेप समाधान हों वे ही आक्षेप समाधान उक्त पक्षमें समझने चाहिये।

एवं–गृहस्थलिंगसे मुक्ति प्राप्त होनेमें कर्मसिद्धान्त भी बाधक है क्योंकि गृहस्थके अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम रहता है तथा प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषाय का उदय रहता है। इसी कारण गृहस्थ पंचमगुणस्थानवर्ती होता है। पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक जब तक प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषायोंका क्षयोपशम तदनन्तर क्षय न करे तब तक वह यथाख्यातचारित्र धारी, वीतराग भी नहीं हो सकता है।

श्री आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल आगरा द्वारा दामोदर यन्त्रालयसे प्रकाशित पहले कर्मग्रंथके ४८ वें पृष्ठपर अनंतानुबंधी आदि कषायोंके विषयमें क्रमसे लिखा हुआ है कि—

" सम्माणुसव्वविरई अहाखायचरित्तघायकरा " ॥ १२ ॥

यानी–अनंतानुबन्धी सम्यग्दर्शनका, अप्रत्याख्यानावरण देशव्रतका, प्रत्याख्यानावरण मुनिव्रतका तथा संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्रका घात करने वाली है।

तदनुसार गृहस्थके महाव्रत होना भी असंभव है। और जब कि

चौथे–गृहस्थ कर्मसिद्धान्तके अनुसार अपनी सर्वोत्कृष्ट तपस्यासे भी अच्युत स्वर्गसे ऊपर नहीं जा सकता ।

पांचवें–कर्मोंका क्षय करनेवाला शुक्लध्यान गृहस्थके होता नहीं है इस कारण गृहस्थको मुक्ति नहीं हो सकती ।

छठे–गृहस्थ अवस्थासे ही यदि मुक्ति हो जाती तो तीर्थंकरदेवने साधुदीक्षा ग्रहण करनेका उपदेश क्यों दिया ?

सातवें–यदि इतर साधारण पुरुष गृहस्थ दशासे मुक्त हो सकते हैं तो फिर तीर्थंकर भी गृहस्थ अवस्था से मुक्त क्यों नहीं होते ? वे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानमें अन्य गृहस्थ पुरुषों से बहुत बड़े चढ़े भी होते हैं ?

पैर दाबते दाबते केवलज्ञान.

श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथोंमें अधिकांश ऐसी कथाएं हैं जिनके कल्पित रूप बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाते हैं । इतना ही नहीं किन्तु उन कथाओंकी घटनामें सिद्धान्तके नियमोंसे भी बहुत भारी बाधा आ उपस्थित होती है । हम इस बातको यहां केवल चंदना तथा मृगावतीके केवलज्ञान उत्पन्न होने वाली कथाको दिखलाकर ही समाप्त करेंगे ।

चंदना तथा मृगावतीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेकी घटना कल्पसूत्र के ११६ वें पृष्ठपर यों लिखी है–

“ एक दहाडो श्री वीरप्रभुने वांदवा माटे सूर्य अने चन्द्र पोताना विमानसहित आव्या । ते वखते दक्ष एवी चंदना अस्त समय जाणीने पोताने स्थानके गई; अने मृगावती सूर्य चन्द्रना जावा बाद अंधकार थये छते, रात्री जाणीने बीती थकी, उपाश्रये आवीने, ईर्यावही पडीकमीने चंदना प्रते कहेवा लागी के, मारो अपराध आप क्षमा करो । त्यारे चंदनाए पण कह्युं के, तने कुलीनने आवुं करवुं युक्त नथी; त्यारे तेणीए कह्युं के, फरीने हुं तेम करीश नहीं; एम कही तेणीने पगे ते पडी । एटलामां चंदनाने निद्रा आवी गई । अने मृगावतीने तेम खमावतां थकां केवळज्ञान उपज्युं; पछी सर्पपासेथी तेणीनो हाथ खसेडवावडे कराने

लगाडेली प्रवर्तनीए पुछयुं के, ते सर्पने शी रीते जाणयो ? पछी तेणीने केवलज्ञान थएलुं जाणीने पोते पण स्वभावती थकी केवलज्ञान पामी । "

अर्थात्-एक दिन कौशाम्बी नगरीमें श्री महावीर स्वामीकी वंदना करनेके लिये सूर्य और चन्द्रमा अपने मूल विमानों सहित आये। उस समय चतुर चंदना दिन छिपता जानकर अपने स्थानपर चली गई और मृगावती नामक साध्वी (आर्यिका) सूर्य चन्द्रमाके चले जानेपर जब रात्रि हो गई तब उपाश्रयमें चंदनाके सामने प्रतिक्रमण (लगे हुए-दोषोंका पश्चात्ताप) करते हुए चंदनासे कहने लगी कि मेरा अपराध क्षमा करो। तब चंदनाने उससे कहा कि हे भद्रे ! तुम कुलीन स्त्री हो रातके समय बाहर रहना तुमको योग्य नहीं । तब मृगावती ने चंदनासे कहा कि फिर ऐसा कार्य नही करूंगी। ऐसा कहकर वह चंदनाके पैरोंपर गिर पडी। इतनेमें चंदनाको नींद आगई। और मृगावतीको उसी प्रकार चंदनाके पैरोंपर पडे हुए अपना अपराध क्षमा कराते हुए केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । तदनंतर उस उपाश्रयमें एक सर्प आया, उस सर्पको मृगावतीने अपने केवलज्ञानसे जान लिया। सर्पके जानेके मार्गमें सोती हुई चंदनाका हाथ रक्खा हुआ था सो मृगावतीने केवलज्ञानसे जान उसका हाथ एक ओर हटा दिया। हाथ हटानेसे चंदना जाग गई और उसने अपने हाथ हटानेका कारण पूछा; तब उसको मृगावतीके कहनेसे मालूम हुआ कि यहां एक सर्प आया था उससे बचानेके लिए मृगावतीने मेरा हाथ एक ओर हटा दिया था। तब चंदनाने मृगावतीसे पूछा ऐसे गाढ अंधकारमें तुमको सर्प कैसे जान पडा। तब मृगावतीके कहनेसे उसको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जानकर चंदना अपने दोषोंको मृगावतीसे क्षमा कराने लगी और उस प्रकार क्षमा कराते हुए उसको केवलज्ञान हो गया।

यह कथा हूबहू इसी रूपमें पं. काशीनाथजी जैन कलकत्ता लिखित तथा उन्हींके द्वारा सन १९२३ में प्रकाशित 'चंदनबाला' नामक पुस्तकमें लिखी गई है। केवल इतना विशेष है कि ५५ वें पृष्ठपर केवलज्ञान-धारिणी मृगावती चंदनासे केवलज्ञान उत्पन्न होनेके कारणमें यों कहती हैं कि-" यह सब आपकी कृपा है।"

इस कथामें प्रथम तो यह बात ही बिल्कुल असत्य है कि श्री महावीर स्वामीकी वंदनाके लिये चंद्रमा और सूर्य अपने विमान सहित कौशाम्बी नगरीमें आये। क्योंकि यह असंभव बात है। स्वभावसे ही ज्योतिषी देव कल्पवासी देवोंके समान अपने मूल विमानों सहित यहां कभी नहीं आते न कभी पहले आये हैं और न कभी आवेंगे।

चन्द्रमा सूर्यके मूल विमान सहित कौशांबी नगरीमें आनेकी निर्मूल बातको इसी कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें "अछेरा" कहकर न पूछने योग्य बतादिया है। सो बुद्धिमान मनुष्य इस असंभवित घटनाको कदापि नहीं स्वीकार कर सकते। यदि इस घटनाको हमारे श्वेताम्बरी भाई सत्य समझते हैं तो उन्हें यह बात भी झूठ नहीं मानना चाहिये कि—

मुल्तान नगरमें पहले शम्भस नामक एक मुसलमान फकीर रहता था उसके शरीरका कच्चा चमडा उतर जानेसे उसका शरीर घृणित दीखता था इसी कारण रोटी पकानेके लिये कोई भी मनुष्य उसको अग्नि नहीं देता था तब उसने विवश (लाचार) होकर सूरजको मुल्तानमें पृथ्वीपर उतारा और उसके ऊपर अपनी रोटियां पकाईं। इसी कारण उस दिनसे मुल्तानमें अब तक असह्य—बहुत भारी—गर्मी पडती है।"

यदि श्वेताम्बरी भाई इस कहानीको कल्पित अत एव सर्वथा असत्य समझते हैं तो उन्हें श्री महावीर स्वामीकी वंदनाकेलिये अपने विमान सहित कौशांबीमें चन्द्रमा सूर्यके आनेको भी असत्य समझनेमें न चूकना चाहिये।

दूसरे—कल्पित रूपसे ही मानलो कि यदि सूर्य चन्द्र कौशाम्बीमें आये तो और स्थानपर नहीं तो कमसे कम कौशाम्बीमें तो उनका प्रकाश अवश्य रहा होगा। फिर वहां चंदनाको कैसे रात दीख गई?

तीसरे—केवलज्ञानकी उत्पत्तिकी बात भी बिल्कुल असत्य है क्योंकि केवलज्ञान षट् आवश्यक करने या उसके अंशरूप प्रतिक्रमण करनेसे नहीं होता, न किसीके पैरोंपर पडनेसे होता है तथा न अपने अपराधोंकी क्षमा मांगने मात्रसे ही केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान

कोई अवधिज्ञान, लब्ध्यात्मक मति, श्रुत आदि सरीखा नहीं है जो किसी शुभ क्रियाके करनेसे क्षयोपशम हो जानेपर उत्पन्न हो जावे । केवलज्ञान उत्पन्न होनेके लिये तो ज्ञानावरण कर्मका समूल क्षय होना चाहिये ।

ज्ञानावरण कर्मका क्षय तब होता है जब कि उसके पहले मोहनीय कर्म समूल नष्ट होजाता है । मोहनीय कर्मके नष्ट करनेके लिए क्षपकश्रेणी चढना होता है । क्षपक श्रेणीपर उस समय चढते हैं जब कि शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है । इस कारण शुक्लध्यान प्रारम्भ किये विना कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता फिर केवलज्ञान तो दूरकी बात है ।

प्रतिक्रमण करना, अपने गुरु गुरुणीके पैरों पडना, अपने अपराधोंकी क्षमा मांगना आदि कार्य प्रमादसहित कार्य हैं । अत एव वे प्रमत्त नामक छठे गुणस्थान तक ही होते हैं । उसके सातवें आदि प्रमाद रहित गुणस्थानोंमें ऐसी क्रियाएं नहीं । वहां पर तो केवल अपने आत्माका ध्यान ही ध्यान है ।

इस कारण विना शुक्लध्यान किये केवल क्षमा मांगते मृगावती और चंदनाको केवलज्ञान हो जानेकी बात सर्वथा असत्य और सिद्धांतविरुद्ध है ।

इसी प्रकार केवलज्ञानधारिणी मृगावती द्वारा सर्पसे बचानेके लिये चंदनाका हाथ हटानेकी जो बात कही गई है वह भी बिलकुल असत्य है । वहां पर दो बाधाएं आती हैं । एक तो केवलज्ञानीको अज्ञानताका दोष । दूसरे उसको मोह भाव ।

मृगावती केवलज्ञानिनीको अज्ञानता का दोष तो इस कारण आता है कि उसको यह मालूम नहीं हो पाया कि " यह सर्प चंदनाको काटेगा या नहीं; और चंदनाको अभी जाग जानेपर केवलज्ञान उत्पन्न होगा या नहीं."

यदि सर्वज्ञा मृगावतीको उक्त दोनों बातें ज्ञात होतीं तो वह चंदनाका हाथ क्यों हटाती ? प्राण बचानेका उपाय तो हम तुम सरीखे अल्पज्ञ मनुष्य करते हैं जिनको कि होनेवाले प्राणनाश या प्राण-

रक्षणका कुछ बोध नहीं है। यदि मनुष्योंको भविष्यतकालीन—होने वाली बातका पहलेसे ही यथार्थ बोध हो जावे तो वे वैसा यत्न कदापि न करें। जब कि सर्पद्वारा चंदनाकी मृत्यु होनी ही नहीं थी जिसको कि मृगावती भी जानती होगी तो उसने फिर चंदनाका हाथ क्यों हटाया? इस कारण दो बातोंमें से एक बात माननी होगी कि या तो मृगावती को केवलज्ञान ही नहीं हुआ था। उसके केवलज्ञानकी उत्पत्ति बतलाना असत्य है। अथवा मृगावतीको केवलज्ञान था ही तो श्वेताम्बर संप्रदायके माने हुए सर्वज्ञोंमें कुछ अंश अज्ञानताका भी रहता है जैसा कि मृगावतीमें था।

तथा—मृगावतीको केवलज्ञान रहते हुए भी मोहभाव इस कारण सिद्ध होता है कि दूसरे जीवके प्राण रक्षणका कार्य तब ही होता है जब कि प्राण रक्षा करनेवालेमें कुछ शुभ राग हो। रागद्वेषका नाश हो जानेपर उपेक्षा भाव उत्पन्न होता है जिससे कि वीतराग किसी जीवके घात करने अथवा रक्षण करनेमें प्रवृत्त नहीं होता है। दूसरे जीवको बचानेके लिये प्रवृत्ति करना इस बातको सिद्ध करता है कि उस वीतराग नामधारीके भीतर इच्छा विद्यमान है। इस कारण मृगावतीने सर्पके आक्रमणसे बचानेके लिये जो चंदनाका हाथ एक ओर हटाया उससे सिद्ध होता है कि मृगावतीकी इच्छा चंदनाके प्राण बचानेकी थी। अन्यथा वह उसका हाथ वहांसे क्यों हटाती? अतएव उसके मोहभाव भी सिद्ध होता है।

एवं-पं० काशीनाथजी जो कि श्री चन्द्रसिंह सूरीश्वरके शिष्य हैं अनेक पुस्तकोंके लेखक हैं उनके लिखे अनुसार केवलज्ञानधारिणी मृगावतीने चंदनासे यह भी कहा कि मुझे जो केवलज्ञान हुआ है "वह आपकी कृपा है"। दूसरे व्यक्तिका आभार (अहसान) मानना अल्पज्ञ और मोहसहित जीवका काम है जो कि अपने ऊपर उपकार करनेवालेको अपनेसे ऊंचा समझता है। वीतरागी, सर्वज्ञ आत्माके भीतर किसीको अपने आपसे बडा या छोटा समझनेकी इच्छा ही नहीं होती और न वह दूसरेसे यों कहता ही है कि

महानुभाव आपकी कृपासे मैं केवलज्ञानी हुआ हूं। इस कारण मृगावतीने चंदनाके सामने जो उसका आभार स्वीकार किया इस बातसे समझा जाता है कि उस आत्मामें केवलज्ञान हो जानेपर भी मोहभाव विद्यमान था।

अर्हन्त अवस्थामें श्री महावीर-स्वामीके रागभाव.

यह बात दिगम्बरीय सिद्धान्तके अनुसार श्वेताम्बरीय सिद्धान्त भी पूर्णरूपसे मानता है कि मोहजनित राग द्वेष आदि दुर्भाव केवलज्ञान होने के पहले ही नष्ट होजाते हैं। केवलज्ञानके उदय समय रागद्वेष आदि दोष समूल नष्ट रहते हैं क्योंकि उनका उत्पादक मोहनीय कर्म उस समय तक बिल्कुल नष्ट हो जाता है।

किन्तु श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथोंमें भगवान महावीर स्वामीके केवलज्ञान हो जाने पर भी मोहभाव प्रगट करने वाली चेष्टाओंका उल्लेख है। वह इस प्रकार है—

एक तो श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें 'हे गौतम' इस सम्बोधनके साथ उसका उल्लेख हैं। परम वीतराग महावीर भगवान अपने उपदेशमें किसी एक व्यक्ति विशेषका संबोधन क्यों करें ? उनकेलिये तो गौतम गणधरके समान ही अन्य मनुष्य, देव, पशु, पक्षी थे। उस केवलज्ञानी दशामें गौतम गणधर ही एक परमप्रिय मित्र हों अन्य न हों यह तो असंभव है। वीतराग दशा होनेके कारण उनका न कोई मित्र ही कहा जा सकता है और न कोई शत्रु ही। इस कारण केवल गौतम गणधरका ही महावीर स्वामीके शब्दोंमें संबोधन बनता नहीं। फिर भी श्वेताम्बरीय शास्त्रोंने वैसा उल्लेख किया ही है। इसका अभिप्राय यह है कि वे शास्त्र श्री महावीर स्वामीके अर्हन्त दशामें मोहभाव की सत्ता बतलाते हैं।

तथा—मुक्ति प्राप्त करनेके दिन भी महावीर स्वामीके मोहभाव निम्न प्रकार प्रगट कर दिखाया है।

भगवान महावीरको जिस रात्रिके अन्तिम समयमें इस पौद्गलिक शरीर बन्धनको तोड़कर मुक्ति प्राप्त होनी थी उस दिन महावीर स्वामीने यह विचार कर कि मेरी मुक्ति हो जानेपर मेरे वियोगके कारण गौतम गणधरको बहुत दुख होगा, यदि मेरे पास उस समय न होगा तो इसको उतना दुख न होगा, गौतम गणधरको देवशर्माको उपदेश देनेके लिये भेज दिया।

इस बातको कल्पसूत्रमें ८४ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

"जे रात्रिए प्रभु निर्वाण पदने पाम्या ते रात्रिए प्रभुनी नजदीकमां रहेता एवा गौतम गोत्रनां इन्द्रभूति नामनां मोटा शिष्यने स्नेह-बंधन त्रुटते छते केवलज्ञान अने केवल दर्शन उत्पन्न थयां। तेनो वृत्तान्त नीचे प्रमाणे जाणवो।-प्रभुए पोतानां निर्वाण वखते गौतम स्वामिने कोइक गाममां देवशर्माने प्रतिबोधवावास्ते मोकल्या हता। तेने प्रति-बोधने पाछा वलतां श्री गौतम स्वामिए वीर प्रभुनुं निर्वाण सांभल्युं अने तेथी जाणे वज्रथीज हणाया होय नहीं तेम क्षणवारसुधि मौनपणाने धारण करीने रह्या।"

अर्थात्—जिस रातको भगवान महावीरने मुक्तिपद प्राप्त किया उस रातको भगवान्के समीप रहनेवाले गौतम गोत्रधारी इंद्रभूति नामक बड़े शिष्यका प्रेमबंधन टूटते ही भगवान्को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। उसका प्रसंग इस प्रकार है—भगवान महावीर स्वामीने अपने मुक्तिगमनके समय गौतम गणधरको किसी एक गांवमें देवशर्मा नामक गृहस्थ को प्रतिबोध देनेकेलिये (धर्म पालनमें तत्पर करनेकेलिये) भेज दिया था। देवशर्माको उपदेश देकर लौटकर आते हुए गौतमस्वामीने श्री महावीर स्वामीके मुक्त हो जानेकी बात सुनी। सुनकर गौतम स्वामी कुछ देर तक वज्रसे आहत (घायल) के समान मौन धार कर रहे।

कल्पसूत्रके इस कथनमें प्रथम तो केवलज्ञान उत्पन्न होनेकी बात मोटी भूल भरी है कि भगवान महावीर स्वामीको जिस रात्रिके अंतिम पहरमें मुक्ति प्राप्त हुई थी उसी रात्रिको केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न नहीं हुआ था किन्तु उससे ३० वर्ष पहले दीक्षा ग्रहण करने के १२

वर्ष पीछे केवलज्ञान उनको उत्पन्न हुआ था। जैसा कि कल्पसूत्रके ७७ वें पृष्ठपर भी लिखा हुआ है कि—

"एवी रीते तेरमा वर्षनी वैशाख सुदी दशमीने दहाडे.........बाधारहित तथा आवरण रहित एवां केवलज्ञान अने केवलदर्शन प्रभुने उत्पन्न थयां।"

अर्थात्—इस प्रकार तेरहवें वर्ष वैशाख सुदी दशमीके दिन......बाधा और आवरण रहित केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

इस तरह प्रथम तो कल्पसूत्रका पूर्वोक्त कथन परस्पर विरुद्ध है। किंतु यह तो स्पष्ट है कि मुक्त होनेसे तीस वर्ष पहले महावीर स्वामी अर्हत हो चुके थे इस कारण वे अंतिम तीस वर्षोंतक पूर्ण वीतराग रहे थे।

जब कि वे पूर्ण वीतराग थे फिर गौतम गणधरके साथ उनका प्रेमबंधन किस प्रकार संभव हो सकता है? प्रेमभाव तो सरागी पुरुषके ही होता है। यदि इस बातको यों समझा जाय कि प्रेमभाव महावीरको न होकर गौतमस्वामीको ही था तो फिर गौतम गणधरके प्रेमबन्धसे महावीर स्वामीके मुक्तिगमनमें क्या रुकावट थी? जिसको कि कल्पसूत्रके रचयिताने "**गौतमगणधरका प्रेमबन्धन टूटते हुए महावीर स्वामीको मोक्ष हो गई**" ऐसा लिखा है। प्रेमबन्धन गौतम गणधरके होवे और उसके कारण भगवान महावीर मोक्ष प्राप्त न कर सकें यह बात बिलकुल ऊटपटांग है।

तीसरे—जबकि महावीर स्वामी उत्तम वीतराग थे तब उन्हें देवशर्माको प्रतिबोध देनेके बहाने गौतम गणधरको बाहर इस लिये भेज देना कि "यह कहीं यहां रह गया तो मेरे मुक्त होनेपर मेरे वियोगसे दुखी होगा—अश्रुपात करेगा" कहां तक उचित है? ऐसा करना भी मोहजनित है।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथोंकी इस कथाके अनुसार भगवान महावीर स्वामीके अर्हन्त अवस्थामें मोहभाव सिद्ध होता है। जो कि असंभव तथा सिद्धान्तविरुद्ध बात है।

—:×:—

अर्हन्त भगवानकी प्रतिमा वीतरागी हो या सरागी ?

इस अपार असार संसारके भीतर जीवोंके लिये मुख्य तौरसे दोही मार्ग हैं वीतराग और सराग। इनमेंसे वीतराग मार्गके उपासक जैन-लोग हैं और सरागी मार्गकी उपासना करनेवाले अन्य मतानुयायी हैं।

जैनसमाज अपना आराध्य देव वीतराग (रागद्वेषरहित परमात्मा) को ही मानता है और अपना सच्चा गुरु भी उसको समझता है जो कि वीतरागताका सच्चा अभ्यासी होवे। तथा प्रत्येक जैन व्यक्ति स्वयं वीतराग बननेका उद्देश रखता है। इसी कारण वीतराग देवको अपना आदर्श मानकर उसकी मूर्ति बनाकर उसकी उपासना करते हुए उसके समान वीतरागता प्राप्त करनेके लिये उद्योग करता है।

वीतराग मार्गके उपासक जैसे दिगम्बर जैनसंप्रदाय है उसी प्रकार श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय भी होना चाहिये। श्वेताम्बरी भाई भी अर्हन्त भगवानको वीतराग कहते हैं तथा स्वयं वीतरागता प्राप्त करनेकेलिये ही अर्हन्त भगवानकी उपासना करते हैं। किन्तु आजकल उन्होंने अपने आदर्शको गिरा दिया है। आजकल वे जिस ढंगसे अपना आदर्श बनाकर उपासना करते हैं उस उपासना के ढंगमें वीतरागताका अंश न रहकर सरागताका दूषण घुस गया है।

कुछ समय पहलेकी बनी हुई श्वेताम्बरीय अर्हन्त भगवानकी प्रतिमाएं वीतराग ढंगकी होती थीं। उन प्रतिमाओंमें दिगम्बरी प्रतिमाओंसे केवल लंगोट मात्रका अंतर रहता था। अन्य सब अंगोंमें दिगम्बरी मूर्तियोंके समान वे भी वीतरागता संयुक्त होती थीं। किन्तु आजकल श्वेताम्बरी भाइयोंने उन अर्हन्त मूर्तियोंको कृष्ण, रामचन्द्र आदिकी मूर्तियोंसे भी बढकर वस्त्र आभूषणोंसे सुसज्जित करके सरागी बना दिया है।

पाषाण निर्मित वीतरागता--छविसंयुक्त प्रतिमाओंका वे खूब-शृङ्गार करते हैं। प्रतिमाके नेत्रोंकी शोभा बढानेकेलिये वे नेत्रोंके स्थानको

खोद कर दूसरे कृत्रिम काली पुतली संयुक्त सफेद पत्थरकी आंखोंको जड देते हैं। प्रतिमाके शिर पर राजा, महाराजाओं अथवा देव, इन्द्रोंके समान सुंदर मुकुट पहनाते हैं। कानोंमें चमकदार कुंडल पहनाकर सजा देते हैं। हाथोंमें सोनेके कडे, भुजामें बाजूबंद पहनाया करते हैं। गलेमें सुंदर हार रखते हैं और शरीरपर पहननेके लिये अच्छे सुंदर वस्त्रका अंगिया बनाते हैं जिसपर मलमा सतारेका काम किया हुआ होता है।'

वैसे श्वेतांबरी भाई प्रतिदिन कमसे कम अपने मंदिरकी मूलनायक प्रतिमाको ऐसे सुंदर वस्त्र आभूषणोंसे अवश्य सजाये हुए रखते हैं किंतु किसी विशेष उत्सवके समय तो वे अवश्यही उस प्रतिमाका भी मनोहर शृंगार करते हैं जिसको कि उत्सवके लिये बाहर निकालते हैं।

अनेक स्थानोंपर श्वेताम्बरी भाइयोंने। कुछ दिगम्बरी प्रतिमाओंपर अपना अधिकार कर रक्खा है अतः उन प्रतिमाओंकी वीतराग मुद्राको ढकनेके लिये भी उद्योग करते रहते हैं। आगरे में जुम्मा मसजिदके पास जो श्री शीतलनाथजीका मंदिर है उसमें श्री शीतलनाथ तीर्थंकरकी २॥—३ फुट उंची श्यामवर्णकी पाषाण निर्मित दिगम्बरीय प्रतिमा है जो कि बहुत मनोहर है उसपर शृंगार कराने के लिये सदा उद्योग करते रहते हैं। प्रातःकाल दिगम्बरी भाइयोंके दर्शन कर जाने के पीछे उसको सुसज्जित कर देते हैं। मक्सी पार्श्वनाथकी प्रतिमापर भी ऐसा ही किया करते हैं। अभी कुछ दिनसे केशरिया तीर्थक्षेत्रपर भी दिगम्बरी प्रतिमाओंको कृत्रिम आंख आदि जडकर श्वेताम्बरीय प्रतिमा बनानेके लिये शृंगारयुक्त करना चाहते हैं। इत्यादि।

इस प्रकार एक तरहसे श्वेताम्बरी भाई आज कल वीतरागताको छोडकर सरागताके उपासक बन गये हैं। यहांपर हमारा श्वेताम्बरी भाइयोंके सामने प्रश्न उपस्थित है कि आप लोग इस समय वीतराग देवकी आराधना, पूजन करते हैं अथवा सरागी देव की?

यदि आप सरागी देवकी पूजन आराधना करते हैं तो आप लोग

जैन नहीं कहला सकते क्योंकि जैन समाज वीतराग देवका उपासक है। वह सरागी देवकी उपासना नहीं करता है।

यदि आप वीतराग देवके उपासक हैं तो आपको अपनी अर्हन्त प्रतिमाएं वीतराग रूपमें रखनी चाहिये उनको सरागी नहीं बनाना चाहिये। आप अपनी प्रतिमाओं को मनोहर चमकीले वस्त्र आभूषण पहना कर जो शृंगारयुक्त कर देते हैं सो आपकी उस अर्हन्त प्रतिमामें तथा कृष्ण, रामचन्द्र आदि की मूर्तियोंमें कुछ भी अंतर नहीं रहता। बल्कि आपकी अर्हन्त मूर्तिसे कहीं अधिक बढ़कर बुद्धमूर्ति वैराग्यता प्रगट करनेवाली होती है।

इसके सिवाय इसी विषयमें हमारा एक प्रश्न यह है कि आप तीर्थंकर की प्रतिमा अर्हन्त दशाकी पूजते हैं अथवा राज्यदशा की?

कुछ श्वेताम्बरी भाई यह कहदिया करते हैं कि हम राज्यदशाके तीर्थंकरकी प्रतिमा बनाकर पूजते हैं। सो ऐसा मानना तथा ऐसा मानकर राज आभूषण संयुक्त प्रतिमाको पूजना बहुत भारी अज्ञानता है क्योंकि तीर्थंकर राज्यावस्थामें न तो पूज्य होते हैं और न राज्यावस्थाकी तीर्थंकर प्रतिमाको पूजनेसे आत्माका कुछ कल्याण ही हो सकता है।

राज्यअवस्थाकी मूर्तियां तो रामचन्द्र, लक्ष्मण, कृष्ण आदि की भी हैं जिनको कि अजैन भाई पूजा करते हैं। आपकी आराधनामें और उनकी आराधनामें अंतर ही क्या रहेगा। तथा जैसा मनुष्य स्वयं बनना चाहता है वह वैसेही आदर्श देवकी आराधना उपासना करता है। तदनुसार आप जो राज्यावस्थामें तीर्थंकरको पुजते हैं सो आपको क्या राज्य प्राप्त करनेकी इच्छा है? यदि राज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो समझना चाहिये कि आपको संसार अच्छा लगता है। तथा जो श्वेताम्बरी जैन राजा हो उसे तो फिर पूजन आराधना करनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उद्देशानुसार उसको यहांपर राज्यपद प्राप्त है।

यदि आप अर्हन्तदशाकी प्रतिमाको पूज्य समझते हैं तो फिर यह बतलाइये कि क्या अर्हन्त वस्त्र आभूषण पहने होते हैं? अथवा वस्त्र आभूषण आदि शृंगारसे हीन होते हैं?

यदि शृंगारसहित होते हैं तो आपकी समझ तथा कहना बिल्कुल असत्य; क्योंकि आपके समस्त ग्रंथोंमें लिखा है कि अर्हन्त भगवान राग द्वेष आदि दोषोंसे रहित होते हैं तथा उनके पास कोई जरासा भी वस्त्र आभूषण नहीं होता है। हां, इतना अवश्य है कि श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजी कृत तत्वनिर्णय प्रासादके ५८६ वें पृष्ठकी ११ वीं पंक्तिके लिखे अनुसार केवली भगवान के एक ऐसा अतिशय प्रगट होता है जिसके प्रभावसे नग्न दशामें विराजमान भी अर्हन्त भगवानकी लिंग इन्द्रिय दृष्टिगोचर नहीं होती।

यदि अर्हन्त भगवान वस्त्र आभूषण रहित होते हैं तो फिर आप लोग उनकी प्रतिमाको वस्त्र आभूषण आदि शृंगारसे सुसज्जित करके सरागी क्यों बना दिया करते हैं? अर्हन्तके असली स्वरूपको बिगाडकर सरागी बनाकर आप देवका अवर्णवाद करते हैं। शृंगारयुक्त प्रतिमाके दर्शन करनेसे मनके भीतर शृंगारयुक्त सराग भाव उत्पन्न होते हैं। जो कि जैनधर्मके उद्देशसे विरुद्ध है।

इस कारण श्वेताम्बरी अर्हन्त मूर्तिका शृङ्गार करके बहुत भारी अन्याय करते हैं स्वयं भूलते हैं और अन्य भोले भाइयोंको भूलमें डालते हैं। इस कारण उन्हें अर्हन्त मूर्तिका स्वरूप वीतराग ही रखना चाहिये।

यहांपर हम इतना और लिख देना उचित समझते हैं कि श्वेताम्बरीय साधु आत्मारामजीने अपने तत्वनिर्णय प्रासादके ५८४ वें पृष्ठपर यह लिखा है कि "तुम्हारे मत की द्रव्य संग्रहकी वृत्तिमें ही लिखा है कि जिनप्रतिमाका उपगूहन (आलिंगन) जिनदास नामा श्रावकने करा। और पार्श्वनाथकी प्रतिमाको लगा हुआ रत्न माया ब्रह्मचारीने अपहरण कर चुराया।" परंतु यह बात असत्य है। आप यदि उस कथा को पढकर मालूम करते तो आपको पता लग जाता कि हमारा समझना गलत है। कथा इस प्रकार है—

ताम्रलिप्त नगरमें एक जिनेन्द्रभक्त नामक सेठ रहता था। उसने अपने महलके ऊपर एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। उस चैत्यालयमें बहुत सुंदर रत्नकी बनी हुई एक पार्श्वनाथ तीर्थङ्करकी प्रतिमा थी।

उस प्रतिमाके शिर पर रत्नजडित तीन सुन्दर छत्र लटकते थे। छत्रमें जड़े हुए रत्नोंमेंसे एक वैडूर्य रत्न बहुत सुन्दर एवं अमूल्य था।

पाटलिपुत्र नगरके राजा यशोध्वज का पुत्र सुवीर था वह कुसंगतिके कारण चोर बन गया था इस कारण अनेक चोरोंने मिलकर उसको अपना सरदार बना लिया था।

उस सुवीरने जिनेन्द्रभक्त सेठके चैत्यालयका तथा उसमें विद्यमान छत्रमें लगे हुए उस अमूल्य रत्नका समाचार सुना था। इस कारण उसने अपने चोरोंको एकत्र करके सबसे कहा कि कोई वीर जिनेंद्रभक्त सेठके चैत्यालयवाले उस वैडूर्यरत्नको चुराकर ला सकता है क्या ? सूर्यक नामधारी एक चोरने कहा कि मैं इस कामको कर सकता हूं। यह सुनकर सुवीरने उसको वह रत्न लानेके लिये आज्ञा दी।

सूर्यकने मायाजालमें फसानेके लिये क्षुल्लकका वेश बना लिया। क्षुल्लक बनकर वह उस सेठके यहां आया। जिनभक्त सेठने उसको सच्चा क्षुल्लक समझकर भक्तिसे नमस्कार किया और अपने मकानके ऊपर बने हुए उस चैत्यालयमें ठहरा दिया। कपट वेशधारी चोरने वहांपर छत्रमें लगा हुआ वह रत्न देखा जिसको कि लानेकी उसने सुवीरसे प्रतिज्ञा की थी। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

आधी रातके समय उस कपटवेषधारी चोरने छत्रमेंसे वह वैडूर्यरत्न निकाल लिया और उसको लेकर घरसे बाहर चल दिया। पहरेदारोंने उसके पास चमकीला रत्न देखकर पकडना चाहा। उस कपटी चोरको अन्य कोई ठीक उपाय नहीं दीखा इस कारण भागकर वह जिनेन्द्रभक्त सेठकी शरणमें जा पहुंचा।

जब सेठने सब वृत्तांत सुना तब उसने पहरेदारोंसे कहा कि ये बड़े तपस्वी हैं चोर नहीं हैं। इस रत्नको ये मेरे कहनेसे लाये थे। यह सुनकर पहरेदार चले गये, सेठने उस कपटी चोरको उपदेश देकर विदा कर दिया।

इसी कथाको ब्रह्मचारी नेमिदत्तजीने भी अपने आराधनाकथाकोषकी १० वी कथामें ऐसाही लिखा है। कथाके कुछ आवश्यक श्लोक यहां हम उद्धृत करते हैं।

श्रीमत्पार्श्वजिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता ।
छत्रत्रयेण संयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ॥ ११ ॥
तस्याश्छत्रत्रयस्योच्चैरुपरि प्रस्फुरद्द्युतिः ।
मणिर्वैडूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वितः ॥ १२ ॥
स तस्करः समालोक्य कुटुम्बं कार्यव्यग्रकम् ।
अर्द्धरात्रौ समादाय तं मणिं निर्गतो गृहात् ॥ २४ ॥

अर्थात् — जिनेन्द्रभक्त सेठके उस चैत्यालयमें श्री पार्श्वनाथ भगवानकी तीन छत्रोंसे विभूषित रत्नमयी एक प्रतिमा थी। उसके तीन छत्रोंके ऊपर चमकदार बहुमूल्य एक वैडूर्य मणि लगी थी। १२। वह कपटी चोर सेठके परिवारको कार्यमें रुका हुआ देखकर आधी रातके समय उस वैडूर्यमणिको लेकर वहां से चल दिया। २४।

पाठक महाशयोंको मालूम होगया होगा कि वह रत्न छत्रमें लगा था न कि प्रतिमामें। दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रतिमामें उपरसे कोई आंख, रत्न आदि वस्तु नहीं लगाई जाती है। क्योंकि ऐसा करनेसे प्रतिमाकी वीतरागता बिगड जाती है। इस कारण आत्मानंदजीने अपना अभिप्राय सिद्ध करनेकेलिये जो उक्त कथाका सहारा लिया था वह निराधार है अत एव असत्य है। द्रव्यसंग्रहके लेखका भी ऐसा ही अभिप्राय है। अन्य नहीं।

अर्हन्त प्रतिमापर लंगोट भी नहीं होना चाहिये.

अर्हन्त प्रतिमाओंके ऊपर जिस प्रकार वस्त्र आभूषण नहीं होना चाहिये उसी प्रकार उन प्रतिमाओंपर लिंग इन्द्रिय छिपाने वाले लंगोटका चिन्ह भी नहीं होना चाहिये क्योंकि लंगोट (कनोडा) बना देने से अर्हन्त भगवानका असली स्वरूप प्रगट नहीं होता।

अर्हन्त दशामें भगवान अन्य वस्त्र आभूषणोंके समान लंगोटी भी नहीं पहने होते क्योंकि वे समस्त अन्य पदार्थों के संसर्गसे रहित पूर्ण वीतराग होते हैं। तत्काल जन्मे बालकके समान बिलकुल नग्न होते हैं।

यह बात आपके ग्रंथकारोंने भी लिखी है । देखो; तत्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथके ५८६ वें पृष्ठपर आपके आचार्य आत्मानंद अपरनाम विजयानंद लिखते हैं—

" जिनेन्द्रके तो अतिशयके प्रभावसे लिंगादि नहीं दीखते हैं और प्रतिमाके तो अतिशय नहीं है इस वास्ते तिसके लिंगादि दीख पडते हैं ।

इस प्रकार श्वे० आचार्य आत्मानंदजी अर्हंत भगवानकी नग्नताको स्वीकार करते हैं । किंतु साथ ही दिगम्बरीय पक्षके प्रतिवादमें इतना और मिलाते हैं कि अतिशयके कारण अर्हंत भगवानके लिंगादि दीख नहीं पडते सो उनका इतना लिखना अपने पासका है । क्योंकि ऐसा अतिशय किसी भी श्वेतांबरीय शास्त्रमें नहीं बतलाया गया है । स्वयं आत्मारामजीने स्वलिखित जैन तत्वादर्श ग्रंथके तीसरे चौथे पृष्ठपर जो अर्हंत भगवानके ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी उन्होंने कोई ऐसा अतिशय नहीं लिखा जिसके कारण अर्हंत भगवानके लिंगादि गुप्त रहे आवें; दीखें नहीं ।

तथा प्रकरणरत्नाकर तीसरे भागके ११७–११८ और ११९ वें पृष्ठपर जो अर्हंतके ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी लिंगादि छिपा देनेवाला अतिशय कोई भी नहीं बतलाया है । इस कारण आत्माराम जीने अतिशयके प्रभावसे अर्हंतदेवके लिंगादि छिपानेका अतिशय अपने पास से लिख दिखाया है ।

इस कारण सिद्ध हुआ कि अर्हन्त भगवान नग्न होते हैं और उनके लिंगादि दृष्टिगोचर भी होते हैं ।

यदि कल्पित रूपसे ही " अर्हन्त भगवानके अतिशय के कारण लिंगादि दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । " यह बात मान ली जावे तो वह अतिशय अर्हन्त भगवानकी मूर्तिमें किस प्रकार आ सकता है ? यहापर तो अर्हन्त भगवानका असली स्वरूप नग्न दशा दिखलाकर प्रगट करना चाहिये न कि लंगोटीकी उपाधि उस प्रतिमामें लगाकर अर्हन्त भगवानके असल स्वरूपको छिपा देना चाहिये ।

इस विषयमें यह शंका करना बहुत भोलापन है कि " अर्हन्त भगवानकी नग्न प्रतिमा बनाने पर उस प्रतिमाके लिंगादि अंगोंको देखने से स्त्री पुरुषोंके मनमें कामविकार उत्पन्न हो सकता हैं।" क्योंकि सरागी मूर्तिकी लिंग इन्द्रियको देखकर ही दर्शन करने वालेके मनमें कामविकार उत्पन्न हो सकता है। वीतराग मूर्तिके लिंगादि अंगोंके देखनेसे विकारभाव उत्पन्न नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि स्त्रियां छोटे छोटे बालकोंको प्रतिदिन नंगे रूपमें देखती रहती हैं उनके लिंगादि अंगोपर भी उनकी दृष्टि जाती हैं तथा उस नंगे बालकको वे शरीरसे भी चिपटा लेती हैं। किन्तु ऐसा सब कुछ होनेपर भी उनके मनमें कामविकार उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि उस बालकके मनमें कामविकार नहीं है जो कि उसकी लिंग इन्द्रियसे प्रगट हो रहा है।

युवा मनुष्यके उघडे हुए लिंगादि अंग इसी कारण स्त्रियोंके मनमें कामविकार उत्पन्न कर देते हैं कि उस मनुष्यके मनमें कामविकार मौजूद हैं जो कि उसकी लिंगेन्द्रियसे प्रगट होरहा है। यदि उसके मनमें कामविकार न होवे जैसा कि उसके अंगोंसे प्रगट हो जायगा तो उस युवक पुरुषको नग्न देखकर भी उनके मनमें कामविकार उत्पन्न नहीं हो सकता है।

सर्ववस्त्ररहित नग्न दिगम्बर मुनि भगवान ऋषभदेवके जमानेसे लेकर अबतक होते आये हैं। भगवान ऋषभदेव आपके अनुसार भी वस्त्ररहित नग्न थे। इस समय भी दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्नाटक देशमें विहार करने वाले आचार्य शान्तिसागर जी, मुनि वीरसागर आदि हैं। तथा राजपूताना, बुंदेलखंड, मालवा, संयुक्तप्रांत, विहार प्रदेशमें विहार करने वाले नग्न दिगम्बर मुनि शांतिसागरजी छाणी, आनंदसागरजी, सूर्यसागरजी चन्द्रसागरजी आदि हैं। उनके दर्शन करनेसे किसी भी स्त्री पुरुषके मनमें विकार भाव नहीं उत्पन्न होते क्योंकि वे स्वयं वीतराग मूर्ति हैं। कामविकारसे रहित हैं।

अन्य बात छोडकर श्वेतांबरी भाई अपनेही ग्रंथोंका अवलोकन

करें तो उन्हें मालूम होगा कि आपके ग्रंथोंमें बतलाये गये उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु दिगम्बर जैन मुनियोंके समान विलकुल नग्न होते हैं उनका भी तो श्वेतांवरीय स्त्री पुरुष दर्शन करते होंगे। तो क्या उनके दर्शनसे भी उनके कामविकार उत्पन्न होता होगा?

तथा—आपके ग्रंथोंके लिखे अनुसार दीक्षा लेने के १३ मास पीछे भगवान महावीर स्वामी भी बिलकुल नग्न हो गये थे। आचारांग सूत्रके ४६५ वें सूत्रमें भी ऐसा ही लिखा है। फिर अलग्न साधु दशामें उन महावीर स्वामीके भी तो लिंगादि अंग दर्शन करनेवाली भोजन करानेवाली स्त्रियोंको दीख पडते थे। फिर उनके मनमें भी काम विकार क्यों नहीं उत्पन्न होता था? (मुनि आत्मारामजीका कल्पित अतिशय भी केवलज्ञानीके प्रगट होता है)

इस कारण इस झूटे भ्रमको छोडकर श्वेताम्बरी भाइयोंको यह निश्चय रखना चाहिये तथा प्रत्यक्ष रूपसे अब भी दिगम्बर जैन मुनियों का, मूडबिद्री, कार्कल आदि दक्षिण कर्णाटक देशमें विराजमान बाहुबलीके विशाल प्रतिविम्बोंका एवं वावनगजाजी आदि खड्गासनवाली विशालकाय नग्न मूर्तियोंका दर्शन करके समझ लेना चाहिये कि वीतराग मूर्तिके दर्शनसे कामविकार उत्पन्न नहीं होता।

तदनुसार श्वेताम्बरी भाइयोंको चाहिये कि वे अपनी अर्हन्त प्रतिमाओंको असली अर्हन्त रूपमें नग्न निर्माण कराया करें, लंगोटीका चिन्ह लगवाकर उनकी वीतरागताको दूषित न किया करें।

—०—

गुरुगरिमा समीक्षण

जैनमुनिका स्वरूप कैसा है?

अब यहां पर जैनसाधुके स्वरूपका समीक्षण करते हैं क्योंकि श्री अर्हन्त भगवानके समान जैनसाधुके वेष तथा चर्याके विषयमें भी दिगम्बर, श्वेताम्बर समाजका मतभेद है। गुरु गृहस्थ पुरुषोंको तारणतारण होता है इस कारण परीक्षा द्वारा जैनगुरुका स्वरूप भी निर्णय कर लेना परम आवश्यक है।

जैन साधु पांच पापोंका पूर्ण तरहसे परित्याग करके महाव्रतधारी होता है तदनुसार वह अपने पास किसी भी प्रकारका परिग्रह नहीं रख सकता यह बात दिगंम्बर श्वेताम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायके शाखारूप स्थानकवासी सम्प्रदायको भी मान्य है और तदनुसार ही उन तीनो सम्प्रदायोंके आगम ग्रंथ प्रतिपादन करते हैं ।

किन्तु ऐसी मान्यता समानरूपमें होते हुए भी तीनों सम्प्रदायके साधुओंका वेश भिन्न भिन्न रूपसे है । उनमें से दिगम्बर सम्प्रदायके महाव्रतधारी साधु अपने शरीरको ढकनेके लिये लेशमात्र भी वस्त्र अपने पास नहीं रखते हैं । उत्पन्न हुए बालकके समान निर्विकार नग्नरूपमें रहते हैं । इसी कारण उनका नाम दिगम्बर यानी दिशारूपी कपडोंके पहनने वाले अर्थात नग्न साधु उनके लिये यथार्थ बैठता है ।

श्वेताम्बर संप्रदाय यद्यपि साधुका सर्वोच्च रूप नग्न ही मानता है तदनुसार उसके भी सर्वोच्च जिनकल्पी साधु समस्त पात्र आदि पदार्थ त्यागकर नग्न ही होते हैं । किन्तु इसके साथ ही श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथ यह भी कहते हैं कि जिस साधुसे नग्न रहकर लज्जा न जीती जा सके वह (दिगम्बर सम्प्रदायके ऐलकोंके समान) लंगोट पहन लेवे, अन्य वस्त्र न रक्खे । जिस साधुसे केवल लंगोट पहनकर शीत गर्मी आदि न सही जा सके वह (दिगम्बर सम्प्रदायके ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलकसे छोटी श्रेणीके क्षुल्लक समान) एक चादर और ले लेवे । जो एक चादर से भी साधुचर्या न पाल सके वह दो चादरें अपने पास रख लेवे । इत्यादि आगे बढाते बढाते ४–६–१०–१२ आदि वस्त्र अपने शरीरका कष्ट हटानेकेलिये अपने पास रख ले । जिनमें, कंबल बिछौना आदि सम्मिलित हैं । यहां पर इतना और समझ लेना आवश्यक है कि श्वेताम्बरीय साधु अपने पास वस्त्र सूती ही रक्खें या ऊनी, रेशमी आदि सब प्रकारके लेवें इस बातका स्पष्ट एक निर्णय हमने किसी श्वेताम्बरीय शास्त्रमें नहीं देखा । आचारांगसूत्रके सूत्रोंसे यही खुलासा मिलता है कि साधु कोई भी तरहका वस्त्र ग्रहण कर सकता है ।

वस्त्रोंके सिवाय श्वेताम्बरीय साधु भोजन पान गृहस्थके घरसे ला-

नेके लिये लकडीके पात्र तथा अपने पास एक लाठी भी रखते हैं।

स्थानकवासी साधुओंका अन्य सब रूप श्वेताम्बरीय साधुके समान होता है किन्तु वे अपने मुखसे एक कपडा बांधे रहते हैं जिसका उद्देश उनके कथनानुसार यह है कि बोलते समय मुखकी वायुसे वायुकायिक जीवोंका घात न होने पावे। तथा वे अपने पास लाठी भी नहीं रखते हैं।

श्वेताम्बरीय साधु श्वेत वस्त्र अपने पहनने ओढनेके लिये अपने पास श्वेतवस्त्र रखते हैं इस कारण उनका नाम श्वेताम्बर यथार्थ है।

साधुओंके दिगम्बर, श्वेताम्बर रूपकी मान्यताके कारणही दोनों सम्प्रदायोंका नाम दिगम्बर तथा श्वेताम्बर पड गया है। अस्तु।

दिगम्बर संप्रदायके आगम ग्रंथोंने वस्त्र आदि पदार्थोंको बाह्य परिग्रह बतलाया है इस कारण महाव्रतधारी साधुके अंतरंग परिग्रहका त्याग करानेके लिये उन वस्त्रोंका त्याग कर देना अनिवार्य प्रतिपादन किया है। इसी कारण दिगम्बर सम्प्रदायका मनुष्य महाव्रतधारी साधु होता है वह वस्त्र त्याग कर ही साधु होता है।

श्वेतांबरीय ग्रंथ (तत्वार्थाधिगम आदि) अपने सच्चे हृदयसे तो कपडे आदि पदार्थोंको परिग्रहरूप ही बतलाते हैं अत एव सर्वोच्च जिनकल्पी साधु दशा प्राप्त करनेके लिए उनका त्याग कर नग्नरूप धारण कर लेना अनिवार्य बतलाते हैं।

परन्तु इस सत्य समाचारपर पर्दा ढालते हुए कुछ श्वेतांबरीय ग्रंथ अपने निम्न श्रेणीके वस्त्रधारी साधुओंके परिग्रहत्याग महाव्रतकी रक्षा करनेके उद्देशसे वस्त्रोंको परिग्रहरूप नहीं बतलाते हैं। मानसिक ममत्व परिणामको ही वे परिग्रह कहते हैं। किंतु यह बात कुछ बनने नहीं पाती है।

महाव्रतधारी साधुके वस्त्रग्रहणके विषयमें श्वेतांबरीय ग्रंथ आचारांगसूत्र अपने छठे अध्यायके तृतीय उद्देशके ३६० वें सूत्रमें यों लिखता है—

“ जे अचेले परिवुसिये तस्सणं भिक्खुस्स एवं भवइः— परिजिन्ने-

मेनत्थं, वत्थे जाइस्सामि, सूई जाइस्सामि, संधिस्सामि, सीविस्सामि, उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि "। ३६०।

गुजराती टीका– जे मुनि वस्त्ररहित रहे छे ते मुनिने आवी चिंता नथी रहेती, जेवी के मारां वस्त्र फाटी गयां छे, मारे बीजुं नवुं वस्त्र लाववुं छे, सूत्र लाववुं छे, सोय लाववुं छे, तथा वस्त्र साधुवुं छे, सीववुं छे, वधारवुं छे, तोडवुं छे, पहेरवुं छे के विटाळवुं छे।

यानी–जो मुनि वस्त्ररहित (दिगम्बर–नग्न) होते हैं उनको यह चिन्ता नहीं रहती कि मेरा कपडा फट गया है, मुझे दूसरा नया कपडा चाहिये, कपडा सीनेके लिये सुई, धागा (सूत) चाहिये । तथा यह चिन्ता भी नहीं रहती कि मुझे कपडा रखना है, फटा हुआ अपना कपडा सीना है, जोडना है, फाडना है, पहनना है या मैला कपडा धोना है।

आचारांग सूत्रका यह ऊपर लिखा वाक्य दिगम्बर मुनि के मानसिक पवित्रताकी कैसे चुने हुए शब्दोंमें प्रशंसा करता है।

इसी आचारांग सूत्रके ८ वें अध्याय ५ वें उद्देशमें यों लिखा है–

" अह पुण एवं जाणेज्जा, उवक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेलए अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति । जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए सवत्तमेव अभिजाणिया।

गु. टी. हवे जो मुनि एम जाणे के शीयालो व्यतिक्रान्त थयो अने उनालो बेठो छे तो जे वस्त्र परिजीर्ण थया होय ते परठवी देवा, अथवा वसतसर पहेरवां, ओछा करवां एटले के एक वस्त्र राखवुं, अने अंते ते पण छोडी अचेल (वस्त्ररहित) थइ निश्चिन्त बनवुं। आम करतां तप प्राप्त थाय छे। माटे जेम भगवाने भाख्युं छे तेनेज जाणीने जेम बने तेम समपणुंज समजतां रहेवुं।

यानी– जो मुनि ऐसा समझे कि शीतकाल (जाडा) चला गया गर्मी आगई तो उसके जो कपडे पुराने हो गये हों उन्हे रख देवें,

या समय अनुसार पहने या फाड कर छोटा कर लेवे। यहां तक कि एक ही कपडा रखले और विचार रक्खे कि मैं अंतमें उस एक कपडेको भी छोड यानी नग्न होकर निश्चिन्त बनूं। ऐसा करनेसे तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवानने कहा है वैसा जैसे बने तैसे पूर्ण तौरसे समझना चाहिये।

यानी—मुनिके पास जब तक कोई एक भी कपडा रहेगा तब तक उसकी वस्त्र संबंधी चिन्ता नहीं मिट सकती है। इस कारण तपस्या प्राप्त करनेके लिये तथा चिन्ता मिटानेके लिये अपने कपडे घटाते घटाते अंतमें सब वस्त्र छोडकर नग्न (दिगम्बर) बननेका विचार रखना चाहिये। इस तरह आचारांग सूत्र के इस लेखसे भी सिद्ध होता है कि जैन साधुका असली वेश नग्न (दिगम्बर) है।

इसी आचारांग सूत्रके ८ वें अध्यायके सातवें उद्देशमें ऐसा लिखा है कि—

"अदुवा तत्थ परक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहिया-सेति अचेले लाघवियं आगमपमाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवति। जहेतं भगवया पवेदियं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समतमेव समभिजाणिया।" (४३४)

गु० टी०—जो लज्जा जीती शकाती होय तो अचेल (वस्त्ररहित) ज रहेवुं तेम रहेतां तृणस्पर्श टाढ ताप दंशमशक, तथा बीजापण अनेक अनुकूल प्रतिकूल परीषह आवे ते सहन करवा. एम कर्याथी लाघव (अल्पचिंता) प्राप्त थाय छे अने तप पण प्राप्त थाय छे। माटे जेम भगवाने कह्युं छे तेनेज जाणी जेम बने तेम समपणुं जाणता रहेवुं।

यानी—जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह मुनि नग्न (दिगंबर) ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श शर्दी, गर्मी, दंशमशक तथा और और जो परीषह आवें उनको सहन करे। ऐसा करनेसे मुनिको थोडी चिन्ता (थोडी आकुलता) रहती है और तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भग-वानने कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे पूर्ण समझता रहे।

सारांश-मुनि यदि परीषह सह सकता हो तो वह वस्त्र छोडकर नमही रहे। नग्न रहनेसे मुनिको बहुत चिन्ता नहीं रहती है और तप भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह वाक्य भी मुनिके दिगम्बर वेषकी पुष्टि और प्रशंसा करता है। इसी आचारांग सूत्रके ८ वें अध्यायके पहले उद्देशमें अंतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके तपस्या करते समयका वर्णन करते हुए १३६ पृष्ठपर यों लिखा है " संवच्छरं साहियं मास, जं णरिक्कासि वत्थगं भगवं, अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे। ४६५)

गु. टी. भगवाने लगभग तेर महिना लगीते (इन्द्रे दीधेलुं) वस्त्र स्कंधपर धर्युं हतुं पछी ते वस्त्र छांडीनें भगवान वस्त्र रहित अणगार थया।

यानी- महावीर स्वामीने लगभग १३ मास तक ही इन्द्रका दिया हुआ देवदूष्य कपडा कंधेपर रक्खा था किन्तु फिर उस वस्त्रको भी छोड कर वें अंत तक नग्न रह कर तपस्या करते रहे।

इस वाक्य से भी मुनियोंके दिगम्बर वेषकी अच्छी पुष्टि होती है क्योंकि जिन महावीर तीर्थंकरने नग्न वेषमें तपश्चरण करके मोक्ष पाई है जिस मार्गपर महावीर स्वामी चले उस मार्गका अनुयायी महाव्रत धारी मुनि उत्कृष्ट क्योंकर न होवे ?

इस विषयपर श्वेताम्बर संप्रदायका प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रंथ प्रवचनसारोद्धार १३४ वें पृष्ठपर अपने ५०० वी गाथामें ऐसा लिखता है—

जिनकप्पिआवि दुविहा पाणिपाया पडिग्गहधराय, पाउरण मपाउरणा एक्केकातेभवे दुविहा। ५००।

यानी-जिनकल्पी मुनि भी दो प्रकारके होते हैं। पाणिपात्र, पतद्गृहधर। इन दोनोंमेंसे प्रत्येक दो दो प्रकार का है। एक अप्रावरण यानी कपडा रहित और दूसरा सप्रावरण यानी कपडा सहित।

इस गाथासे भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सबसे ऊंचे मुनि वस्त्र और पात्ररहित जिनकल्पी मुनि होते हैं जिनको दूसरे शब्दों में दिगम्बर साधु ही कह सकते हैं। श्वेताम्बर ग्रंथ उत्तराध्ययन के २३ वें अध्याय की १३ वीं गाथाकी संस्कृत टीका में यह लिखा है—

" अचेलगोय जे धम्मो "

सं० टी० अचेलकश्चाविद्यमानचेलकः।

यानी-जो वस्त्र रहित दशा है वही उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि का धर्म है।

श्वेताम्बर समाजके परममाननीय आचार्य आत्मारामजीने अपने तत्व निर्णय प्रासादके ३२ वें स्थंभ में ५४३ वें पृष्ठमें यों लिखा है कि—

" जिनकल्पी साधु दो प्रकारके होते हैं एक पाणिपात्र, ओढनेके वस्त्र रहित होता है। दूसरा पात्रधारी और वस्त्रकर सहित होता है। "

इन दोनों श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें ऊपर लिखे वाक्योंसे भी यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी सबसे उत्कृष्ट साधु वस्त्र और पात्रोंके त्यागी दिगम्बर मुनिको ही मानते हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रंथ तो स्थविरकल्पी (शिष्योंके साथ रहनेवाले ग्रंथ रचना उपदेश देना आदि कार्योंमें प्रेम रखने वाले मुनि) तथा जिनकल्पी (अकेले विहार करनेवाले) दोनों प्रकारके मुनियोंको वस्त्र पहननेका सर्वथा निषेध करते हैं। उन्होंने तो मुनियों के २८ मूलगुणोंमें ' वस्त्रत्याग ' नामक एक मूलगुण बतलाया है। जिसके विना आचरण किये मुनिदीक्षा धारण नहीं हो सकती।

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायमें भी दिगम्बर सम्प्रदायके समान यद्यपि स्थविरकल्पी मुनिसे जिनकल्पी मुनि ऊंचे दर्जेका बतलाया है किन्तु उनके आगम ग्रंथोंने केवल सबसे ऊची श्रेणीके जिन-कल्पी मुनि ही कपडे रहित यानी नग्नदिगम्बर बतलाये हैं। उनसे नीचे दर्जेके साधुओंको वस्त्रका पहनना बतलाया है। इस तौरसे श्वेतांबर और स्थानकवासी संप्रदायके पूर्वोक्त आगम ग्रंथ भी वस्त्र रहित दिगम्बर मुनिकी उत्तमताका हृदयसे समर्थन करते हैं।

क्या वस्त्रधारक निर्ग्रंथ हो सकता है ?

वस्त्ररहित दिगम्बर साधु वास्तवमें निर्ग्रंथ (परिग्रहत्यागी) हो सकते हैं या वस्त्रधारी साधु भी निर्ग्रंथ हो सकते हैं ? अब इस बातको यहांपर निर्णय करते हैं।

यद्यपि मनुष्य अपने अंतरंग (मनके) अच्छे बुरे विचारोंसे धर्म और अधर्म करता है परंतु बाहरकी सामग्री भी उस धर्म अधर्ममें बहुत भारी सहायता करती है क्योंकि बाहरकी अच्छी बुरी वस्तुओंको देखकर उनका संसर्ग पाकर मनुष्यका मन अच्छे बुरे विचारोंमें फस जाता है। इसी कारण जो मनुष्य संसारके कामोंमें उदासीन हो जाते हैं वे गृहस्थ आश्रमको छोडकर साधु बन जाते हैं और किसी एकांत स्थानमें रहने लगते हैं।

साधु (मुनि) घरमें रहना इसीलिये छोड देते हैं कि वहां पर उनके मनमें मोह, मान, क्रोध, काम, लोभ आदि बुरे विचार उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं। पुत्र, स्त्री, नौकर चाकर, धन, मकान, दुकान आदि हैं तो सब बाहरकी चीजें, किन्तु उन्हींके संबन्धसे मनुष्यके मानसिक विचार मलिन होते रहते हैं।

इस कारण मुनि दीक्षा लेते समय अन्य पापोंके समान परिग्रह पापका भी त्याग किया करते हैं। परिग्रह का अर्थ—धन, वस्त्र, मकान, पुत्र, स्त्री आदि बाहरी पदार्थ और क्रोध, मान, लोभ, कपट आदि मैले मानसिक विचार हैं। इसलिये मुनि जिस प्रकार घर, परिवार इत्यादि बाहर की वस्तुओंको छोडते हैं उसी तरह उन सब चीजोंके साथ उत्पन्न होनेवाले प्रेम और द्वेष भावको भी छोड देते हैं। क्योंकि मन निर्मल करनेकेलिये राग, द्वेष, मोह आदि छोडना आवश्यक है और रागद्वेष छोडनेके लिये धन धान्य, घर वस्त्र आदि बाहरके पदार्थ छोडना आवश्यक है। ऐसा किये बिना मुनि परिग्रहत्याग महाव्रतको नहीं पाल सकते।

मुनिदीक्षा लेकर यदि कपडोंका त्याग न किया जाय तो परिग्रह-त्याग महाव्रत नहीं पल सकता। क्योंकि कपडे रखनेसे मुनिके मनमें दो तरह का मोह बना रहता है। एक तो शरीरका और दूसरा उन कपडोंका।

मुनि शरीरको विनाशीक पुद्गलरूप जान कर उससे मोहभाव छोडते हैं इसी कारण अनेक तप करते हुए तथा २२ परीषह सहते हुए

धर्मसाधनके लिये शरीरको कष्ट देते हैं। उसी शरीरको यदि कपडोंसे ढक कर सुख पहुंचाया जाय तो मुनिके भी गृहस्थ मनुष्योंके समान शरीरके साथ मोह अवश्य मानना पडेगा। क्योंकि कपडोंसे शरीर को शर्दी, गर्मी की परिषह नहीं मिल पाती है और परिषह न सहनेसे शरीरमें मोह उत्पन्न होता है।

दूसरे मुनि जिन वस्त्रोंको पेहनें ओढें उन कपडोंमे भी उनको मोह (प्रेमभाव) हो जाता है क्योंकि उन कपडोंमें मोहभाव पैदा हुए विना वे उन्हें ओढेंही किस तरह ? तथा कंबल चादर आदि ५–७ कपडे जिनको कि श्वेताम्बर, स्थानकवासी साधु अपने पास रखते हैं कमसे कम १५–२० रुपयेके तो होते ही हैं। इस कारण उन कपडोंको रखनेके कारण कम से कम १५–२० रुपये वाले धनके अधिकारी वे मुनि हुए और इससे वे निर्ग्रंथ न होकर सग्रंथ स्वयमेव हो जायंगे।

श्वेतम्बर तथा स्थानकवासी संप्रदायके परममान्य ग्रंथ आचारांग-सूत्र के १४ वें अध्यायके पहले अध्यायमें २९० वें पृष्ठपर मुनियोंके ग्रहण करने योग्य वस्त्रोंके विषयमें यों लिखा है।

" से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा वत्थं एसिज्जए। से उजं पुण वत्थं जाणेज्जा, तंजहा, जंगिय वा, भंगियं वा, साणयंवा, पोत्तयं वा, खोमियंवा तूलकडंवा, तप्पगारं वत्थं। ८०२। "

गु. टीका–मुनि अथवा आर्याए कपडां तपास पूर्वक लेवां। जेवां कि ऊननां, रेशमी शणना, धानना, कपासनां, अर्कतूलनां अने एवी तरेहना वीजी जातोनां।

अर्थात्–मुनि या आर्यिका गृहस्थके यहांसे अपने लिये कपडा ऊनका, रेशमका, सनका, कोशेका, कपास (रुई) का, आककी रुईका अथवा किसी और प्रकारका होवे।

यदि आचारांग सूत्रकी इस आज्ञा प्रमाण रेशमी कपडा ही अपने पहननेके लिये साधु ले तो उनके वस्त्र साधारण गृहस्थोंसे भी अधिक मूल्यवाले बढिया कपडे होंगे। उन रेशमी वस्त्रोंमें भी उनको मोह (प्रेम) यदि न हो तो समझना चाहिये कि फिर संसारमें कोई भी

वस्तु परिग्रहरूप नहीं हो सकती। उन रेशमी वस्त्रोंके बननेका कुछ भाग साधुको लेना होगा। इसके कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं।

साधु अपने पहननेके लिये गृहस्थसे मांगते समय अपनी मानसिक इच्छाको किस प्रकार गृहस्थके सामने प्रगट करे? यह बात आचारांग सूत्रके इसी १४ वें अध्यायके पहले उद्देशमें २८४ तथा २९५ पृष्ठ पर यों लिखी है—

"तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय वत्थं जाएज्जा, तंजहा, जंगियं वा, भंगियं वा, साणयं वा, पोत्तयं वा, खेमियं वा, तूलकडं वा, तप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा परो वा णं देज्जा फासुयं एसणीयं लाभे संति पडिगाहेज्जा। पढमा-पडिमा। ८११।"

गु० टी०—त्यां पहेली प्रतिज्ञा आ प्रमाणे छे मुनि अथवा आर्याए ऊनना, रेशमनां, शणनां, पाननां, कपाशनां के तूलनां कपडामानुं अमुक जातनुंज कपडुं लेवानी धारणा करवी, अने तेनुं कपडुं पोते मागतां अथवा गृहस्थे आपवां माडतां निर्दोष होय तो ग्रहण करवुं। ए पहेली प्रतिज्ञा। ८११।

यानी—मुनि या आर्यिका ऊन, रेशम, कोशा, कपास या आककी रुई(नकली रेशम) के बने हुए कपडोंमेंसे किसी एक तरहका कपडा पहननेका विचार निश्चित करले। फिर वह कपडा या तो स्वयं गृहस्थ से मांग ले या गृहस्थ स्वयं दे तो निर्दोष जानकर ले लेवे। यह वस्त्र लेनेकी पहली प्रतिज्ञा है।

दूसरी प्रतिज्ञा इस प्रकार है—

"अहावरा दोच्चा पडिमा—सेभिक्खूवाभिक्खुणी वा पेहाए वत्थं जाएज्जा, तंजहा, गाहावती वा, जाव, कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा "आउसोति" वा "भगिणीतिवा" "दाहिसि मे एत्तो अण्णतरं वत्थं?" तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, जाव फासुयं एसणीयं लाभे संते पडिगाहेज्जा दोच्चा पडिमा। ८१२।"

गु० टी०–बीजी प्रतिज्ञा–मुनि अथवा आर्याए पोताने खप लागतुं वस्त्र गृहस्थना घरे जोईने ते मागवुं। ते आ रीते के शरूआतमां गृहस्थनां घरमां रहेता माणसो तरफ जोईने कहेवुं के आयुष्मन्! अथवा बेहेन! मने आ तमारा वस्त्रोमांथी एकाद वस्त्र आपशो? आवी रीते मागतां अथवा गृहस्थे पोतानी मेले तेवुं वस्त्र आपतां निर्दोष जाणीने ते वस्त्र ग्रहण करवुं। ए बीजी प्रतिज्ञा। ५१२।

भावार्थ–मुनि अथवा आर्यिका को अपने लिये जिस कपडेकी आवश्यकता हो उस कपडेको गृहस्थके घर देखकर घरवाले मनुष्योंसे इस प्रकार मांगे कि हे आयुष्मन्! (बडी आयुवाले पुरुष) या हे बहिन! मुझको अपने इन कपडोंमें से दो एक कपडे दे दोगी? इस तरह मांगने पर या वह गृहस्थ स्वयं कपडा देने लगे तो उस कपडेको निर्दोष जानकर वह साधु या साध्वी ले लेवे। कपडा लेने वाली साधुकी यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

तीसरी प्रतिज्ञा यों है—

"अहावरा तच्चा पडिमा—से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से ज्जं पुण वत्थं जाणेज्जा, तंजहा, अंतारेज्जगं वा उत्तरिज्जगं वा तहप्पगारं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा जाव पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।८१३।"

गु० टी०—त्रीजी प्रतिज्ञा–मुनि अथवा आर्याए जे वस्त्र गृहस्थे अंदर पहेरीने वापरेलुं या उपर पहरीने वापरेलुं होय तेवी वस्त्र पोते मागी लेवुं, या गृहस्थे आपवा मांडतां निर्दोष जणातां ग्रहण करवुं। ए त्रीजी प्रतिज्ञा। ९१३।

भावार्थ—मुनि या आर्यिका गृहस्थके अन्य कपडोंके भीतर पहनकर या और कपडोंके ऊपर पहनकर काममें लाये हुए वस्त्रको स्वयं उस गृहस्थसे मांग लेवे या वह गृहस्थ ही स्वयं देवे तो उसको निर्दोष जान ले लेवे। यह तीसरी प्रतिज्ञा है।

चौथी प्रतिज्ञा इस प्रकारसे है—

"अहावरा चउत्था पडिमा–से भिक्खू वा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मियं वत्थं जाएज्जा। जं चण्णे बहवे समण माहण अतिहि किवण वणीमगा

णावकंखंति । तहप्पगारं उज्झियधम्मियं वत्थं सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा फासुयं जाव पडिगाहेज्जा । चउत्था पडिमा । ८१४ । ”

गु. टी.—चोथी प्रतिज्ञा—मुनि अथवा आर्याए फेंकी देवालायक वस्त्रो मांगवा एटले के जे वस्त्रो बीजा कोइ पण श्रमण, ब्राह्मण, मुसाफर, रांक, के भिकारी चाहे नहीं तेवां पोती मागी लेवांया गृहस्थे पोतानी मेले आपतां निर्दोष जणातां ग्रहण करवां । ए चोथी प्रतिज्ञा । ९१४ ।

यानी—मुनि या आर्यिका गृहस्थके ऐसे फेंक देने योग्य कपडेको गृहस्थसे मांगे जिसको कि कोई भी श्रमण, ब्राह्मण, देश विदेश घूमने फिरने वाला मनुष्य, दीन दरिद्र, भीख मांगने वाला भिखारी मनुष्य भी नहीं लेना चाहे। ऐसे कपडे को साधु, साध्वी या तो गृहस्थसे स्वयं मांग ले या गृहस्थ उसको स्वयं देने लगे तो निर्दोष जानकर लेले।

आचारांगसूत्र (जो कि श्वेतांबर मुनि आचारका एक प्रधान माननीय ग्रंथ है) ने साधु साध्वीको इन चार प्रतिज्ञाओंसे कपडा लेनेका आदेश दिया है। विचारनेकी बात है कि इन चार प्रतिज्ञाओंसे साधु साध्वीको परिग्रह तथा लोभ कषायका और साथही दीनताका कितना भारी दूषण आता है। देखिये पहली प्रतिज्ञामें रेशमी तथा आककी रूईके चमकीले बहुमूल्यवाले वस्त्र जिसको कि सिवाय धनवान मनुष्यके कोई पहन भी नहीं सकता है, गृहस्थसे मांगलेनेकी आज्ञा दी है। “ किसीसे कोई वस्तु अपने लिये मांगना ” आशा या लोभके शिवाय बन नहीं सकता और फिर वह मांगा जानेवाला पदार्थ सुंदर (खूबसूरत) बहु मूल्य वाली वस्तु हो। इस कारण पहली प्रतिज्ञासे वस्त्र लेनेवाले साधुके परिग्रह रखना, लोभ आशा दिखलाना तथा विलासिताका भाव अच्छी तरह सिद्ध होता है।

दूसरी प्रतिज्ञासे वस्त्र लेनेवाले मुनिके भी तीव्र लोभ प्रगट होता है साथ ही दूसरेका हृदय दुखाने या उसको दबानेका भी दूषण लगता है क्योंकि मुनि गृहस्थसे उसके कपडे देखकर उनमेंसे कोई कपडा अपने पहननेके लिए मांगे तो उस कपडेमें मोह और हृदयमें तीव्र

लोभ होगा ही। उसके विना ऐसा कार्य ही क्यों होवे ? तथा—वह गृहस्थ यदि साधारण हालतका हो तो अपने गुरूके याचना भरे वाक्योंसे दवकर या संकोच करके कि इनको एक दो कपडे देनेकी क्यों मनाही (निषेध) करें ऐसा विचार कर दो एक कपडा दे भी दे तो उसका हृदय थोडा वहुत अवश्य दुखेगा; क्योंकि उस वेचारेके पहनने ओढनेके कपडे कम हो जायंगे।

तीसरी प्रतिज्ञासे कपडा लेनेवाले साधुके भी ऐसी ही बात है बल्कि यहां उसके लोभ कषायकी मात्रा और बढी चढी प्रगट होती है। क्योंकि गृहस्थ द्वारा पहने हुए कपडेको साधु विना तीव्र लोभके क्यों तो मांगे? और क्यों दीन मनुष्यके समान उसे पहने?

चौथी प्रतिज्ञासे कपडे लेनेवाले साधुकी दीनताकी तथा लोभकी चरम सीमा (अखीरी हद) समझनी चाहिये क्योंकि वह अपने पहनने के लिये ऐसे बुरे कपडेको गृहस्थसे मांगता है जिनको कि घर घर भीख मांगनेवाला भिखारी भी नहीं मांगे। यदि उसे वे गंदे कपडे कोई दे भी तो वह भिखारी उन्हें नहीं ले।

केवल एक लंगोट (चोलपट्ट) पहननेके लिये रखना ही परिग्रह-त्यागी साधुके लिये कितनी वडी आफत (जंजाल) की वस्तु है वह निम्न लिखित कथासे मालूम हो जाता है—

एक साधु किसी नगरके बाहर एक झोपडीमें रहते थे। उनके पास केवल दो लंगोट (चोलपट्टी) थे। एक पहने रहते थे एक को धोकर सुखा देते थे। एक दिन चूहेने उनके दूसरे लंगोटको काट डाला। यह देखकर साधुजीको वहुत दुःख हुआ।

दूसरे दिन जब उनके समीप उनके शिष्य (चेले) आये तो साधुजीने सारी कथा उन्हें कह सुनाई। लोगोंने साधुजीको एक नया लंगोट बनाकर देदिया साथही झोपडीमें एक बिल्ली भी लाकर रखदी जिससे चूहा फिर न लंगोट कतर जावे।

साधुजीके पास खाने का यथेष्ट (काफी) सामान न होनेके कारण वह बिल्ली भूखसे व्याकुल रहने लगी। तब साधुजी के शिष्योंने बिल्ली

को दूध पिलानेके लिये गाय रख दी और गायको खाने के लिये तीन बीघा खेत भी देदिया जिसकी घास चरकर गाय रहने लगी। किन्तु खेत का राजकर (मालगुजारी) चुकानेका साधुजीसे कुछ प्रबन्ध न हो सका। इस कारण खेतकी मालगुजारी लेने वाले राजकर्मचारी (सिपाही) साधुजीको पकडकर राजाके पास ले गये।

राजाने साधुसे पूछा कि महात्माजी! साधु बनकर तुमने अपने पीछे यह क्या झगडा लगाया जिससे कि आज आपको यहां मेरी कचहरी (न्यायालय) में आना पडा। साधुने अपनी सारी पुरानी कथा राजाके सामने कह सुनाई और अंतमें अपना एक मात्र कपडा लंगोटीको उतारकर फाडते हुए कहा कि हे राजन्! "यदि मेरे पास यह लंगोटी न होती तो मैं इतने झगडेमें न फसता"।

यह यद्यपि है तो एक कथा, किन्तु इस कथासे भी अपने पास वस्त्र रखनेसे जो अनेक संकट आ उपस्थित होते हैं उनपर अच्छा प्रकाश पडता है।

आचारांगसूत्र के छठे अध्यायके तीसरे उद्देशका ३६० वां सूत्र यह बात खुले रूपसे कहता है कि साधुको वस्त्र रखनेसे बडे कष्ट और चिन्ता होती हैं तथा वस्त्र छोड देनेसे शांति, निराकुलता, संतोष होता है। अब हम यहां इस विषयमें प्रवचनसारोद्धार आदि श्वेताम्बरीय मान्य ग्रंथोंका विस्तारभयसे प्रमाण न देते हुए यह लिखते हैं कि साधुको—

वस्त्र पहननेसे क्या क्या दुख-असंयम होता है

१—कपडे पहननेपर अपने [साधुके] शरीरके पसीने तथा मैलसे कपडोंमें जूं आदि पैदा हो जाते हैं। कपडोंसे बाहर निकाल फैंकनेमें या कपडोंको धोनेमें अथवा कपडा अलग रखनेमें उन जीवोंका घात होगा।

२—सफेद कपडा ७-८ दिनमें मैला होजाता है उस मैले कपडेको स्वयं धोनेमें या अन्य मनुष्य द्वारा धुलानेमें साधुको गृहस्थके समान आरम्भका दोष लगता है।

३–कपडोंमें मक्खी, मच्छर, जूं चींटी, कुंथु, खटमल आदि छोटे छोटे जीवजंतु आकर रह जाते हैं उनका शोधन प्रत्येक समय कपडा उतार उतारकर देखनेसे बनता है जो कि हो नहीं सकता। इस कारण बैठते, सोते, वस्त्र बांधते, सुखाते आदि समय साधुसे उन जीवोंका घात हो सकता है।

४–कपडेपर यदि अपना या दूसरे जीवका रक्त (लोहू) विष्टा, मूत्र आदि लग जाय तो उसको साधु अवश्य धोकर आरंभ करेगा अन्यथा देखनेवालोंको ग्लानि होगी।

५–यदि वस्त्र फट जाय तो मुनिके मनमें खेद उपजे। और या तो उस वस्त्रको उसी समय सीं लेवे अन्यथा आने जानेमें लज्जा उत्पन्न होगी।

६–यदि साधुका कपडा कोई चोर चुरा ले जावे तो साधुको दुःख, क्रोध होगा तथा नंगे आने जानेमें भी असमर्थ होनेसे उसको रुकावट होगी।

७–एकान्त स्थान वन, गुफा, पर्वत, कंदरा, मैदान, सूने मकान आदि स्थानोंमें रहते समय साधुके मनमें भय रहेगा कि कहीं कोई चोर, डाकू, भील मेरे कपडे न लूट ले जावे। इस भयसे अपने आपको या अपने कपडोंको छिपा रखनेका प्रयत्न (कोशिश) साधुको करना होगा।

८–ध्यान करते समय कपडा वायु (हवा) से हलै, चलै, उडे तब साधुका मन ध्यानसे चिग-(चलायमान हो)-सकता है।

९-वर्षा ऋतुमें कपडे भीग जाने पर मनमें साधुको खेद पैदा होगा और उन कपडों के निचोंडने सुखानेसे पानीके रहने वाले त्रस जीवोंकी तथा स्थावर जीवों की हिंसा अवश्य होगी जिससे कि संयमका नाश होगा।

१०–शीत ऋतुमें गर्म मोटे कपडेकी तथा गर्मी ऋतुमें पतले ठंडे कपडे की इच्छा होती है। यदि वैसा कपडा मिल गया तब तो ठीक अन्यथा मुनिके मनमें खेद होगा।

११–वस्त्र पहनते रहनेसे शरीर सुखिया हो जाता है और शीत, उष्ण, दंशमशक आदि परीषह सहनेका अवसर साधुको नहीं मिल पाता है।

१२ कपडे पहनते हुए साधुके अटल ब्रह्मचर्य तथा वीतराग भावकी परीक्षा या निर्णय भी नहीं हो सकता क्योंकि स्पर्शन इंद्रिय का विकार मूत्रेन्द्रिय पर प्रगट होता है जो कि वस्त्रधारी साधुके कपडोंमें छिपी रहती है।

१३ कपडा मांगनेसे साधुके मनमें दीनता तथा संकोच प्रगट होता है और जिस गृहस्थसे वस्त्र मांगा जावे उस गृहस्थपर दबाव पडता है।

१४ अपने मनके अनुसार कपडे मिल जाने पर साधुके मनमें हर्ष होता है और मनके अनुसार कपडे न मिलने पर साधुके हृदयमें दुख होता है।

१५ जो कपडे मिल गये उनके पहनने, रखने, उठाने, धोने, सुखाने, फाडने, सीने, जोडने फेंकने, रक्षा करने, शोधने, निचोडने आदि कार्योंमें मुनि को चिन्ता, असंयम, भय, आरंभ आदि करने पडते हैं।

इस प्रकार साधुके कपडा रखने पर परिग्रहत्याग महाव्रत तथा संयम धर्म और अहिंसा महाव्रत एवं लोभकषायपर विजय नहीं मिल पाती है अतः वास्तवमें महाव्रतधारी मुनि वस्त्रत्यागी ही हो सकता है।

अचेल-परिषह

महाव्रतधारी साधुको कर्मनिर्जराके लिये जो कष्ट सहने पडते हैं उनको परीषह कहते हैं। वे परीषह २२ बाईस बतलाई हैं। साधुओंके लिये बाईस परिषह सहन करना जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में बतलाया है उसी प्रकार श्वेताम्बरमें भी बतलाया गया है।

उन बाईस परीषह में अचेल या नाग्न्य (नग्नता) बतलाई गई है जिसका अर्थ है नग्न यानी वस्त्ररहित रहनेसे साधुको लज्जा आदि जो कुछ भी कष्ट आवे उसको वह शान्तिपूर्वक धैर्यसे सहन करे।

इस नाग्न्य अपरनाम अचेल परीषहका उल्लेख निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें विद्यमान है। देखिये प्रथम तत्वार्थाधिगमसूत्रके नौवे अध्यायके ९ वें सूत्रको—

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।
नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परीषह हैं।

इनमें नाग्न्य यानी नग्न रहनेकी परीषहका नाम स्पष्ट आया है।

वीर सं० २४५१ में आगरासे प्रकाशित 'नवतत्व' नाम श्वेतांबरीय ग्रंथकी २१ वीं २२ वीं गाथा इस प्रकार है—

खुहा पिवासा सीउण्हं दंसाचेलाऽरइत्थिओ।
चरिआ निसिहिया सिज्जा, अक्कोस वह जायणा। २१।
अलाभ रोग तणफासा, मलसक्कार परीसहा।
पन्ना अन्नाण सम्मत्तं, इअ बावीस परीसहा॥ २२॥

अर्थात्—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरति, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व ये २२ परीषहें हैं।

यहांपर भी अचेल यानी वस्त्र छोडकर नंगे रहनेकी परीषहका स्पष्ट उल्लेख है।

प्रकरण रत्नाकर तृतीय भाग अपरनाम प्रवचनसारोद्धारके २६५ वें पृष्ठपर लिखा है—

खुहापिवासा सीउण्हं, दंसाचेला रइच्छिओ।
चरिया निसीहिआ सेज्जा, अक्कोस वह जायणा। ६९२।

अर्थात्—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश, अचेल, अरतिं, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना इनके अतिरिक्त शेष ९ परीषह भी इस ग्रंथके गुजराती टीकाकारने बिना मूल गाथा लिखे टीकामें लिखदी हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके उपर्युक्त उल्लेख इस बातको सिद्ध करते हैं कि महाव्रतधारी साधु वस्त्ररहित नग्न ही होते हैं। उनके पास नाममात्र भी वस्त्र नहीं होता है। क्योंकि यदि उनके पास कोई वस्त्र हो तो फिर उनके अचेल परीषह नहीं बन सकती। नाग्न्य परीषहके विजेता उनको नहीं कहा जा सकता।

इस कारण श्वेताम्बर आम्नायका यह पक्ष स्वयमेव धराशायी हो जाता है कि "महाव्रती साधु चादर, लंगोट, बिस्तर, कंबल आदि वस्त्रोंके धारक भी होते हैं।"

कतिपय श्वेताम्बरीय ग्रंथकार अचेल का अर्थ ईषत् चेल यानी थोडे कपडे तथा कुत्सित चेल अर्थात बुरे कपडे ऐसा करते हैं। सो उनका यह कहना भी बहुत निर्बल है क्योंकि प्रथम तो अचेल परिषह का दूसरा नाम तत्वार्थाधिगम सूत्रमें 'नाग्न्य' यानी नग्नता आया है उसका स्पष्ट अर्थ सर्वथा वस्त्ररहित नग्न रहना होता है। उस नाग्न्य शब्दसे 'थोडे या बुरे कपडे' ऐसा अर्थ नहीं निकल सकता।

दूसरेः— थोडे या बुरे कपडोंका कोई निश्चित अर्थ भी नहीं बैठता क्योंकि शीत और गर्मीकी बाधा मिटाने योग्य समस्त कपडे रहने पर भी साधुओंको थोडे वस्त्रधारक कहकर अचेल समझ लें तो समझमें नहीं आता कि सचेल का अर्थ क्या होगा!

इस कारण सचेलका अर्थ जैसे 'वस्त्रधारी' है उसी प्रकार 'अचेल' का अर्थ वस्त्ररहित नग्न है।

अतः सिद्ध हुआ कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार भी साधुका वास्तविक स्वरूप नग्न ही मानते थे अन्यथा वे इस परीषहको न लिखते।

नग्न मुनिकी वीतरागता.

कुछ भोले भाले भाई एक यह आक्षेप प्रगट करते हैं — भोले ही नहीं किन्तु तत्वनिर्णयप्रासाद आदि ग्रंथोंके बनानेवाले बडे भारी आचार्य स्वर्गीय श्री आत्मारामजी भी इस आक्षेपको लिखते नहीं चूके हैं कि "मुनि यदि कपडा न पहने तो उनका दर्शन करने वाली स्त्रियोंके भाव उनका नग्न शरीर देख बिगड जावेंगे।"

इस आक्षेपका उत्तर आचार्य आत्मारामजी या अन्य कोई श्वेताम्बरीय तथा स्थानकवासी आचार्य अपने मान्य-आचार ग्रंथों [आचारांगसूत्र, कल्पसूत्र प्रवचनसारोद्धार आदि) से ले सकते हैं । उनके ग्रंथोंमें खुले शब्दोंमें सबसे बडा साधु वस्त्ररहित यानी नग्न जिनकल्पी साधु बतलाया है। क्या स्त्रियां उनका दर्शन नहीं करती हैं ? क्या उनके दर्शन से भी स्त्रियोंका मन कामविकारमें फस जाता है ।

दूसरे-श्वेताम्बरीय तथा स्थानकवासी ग्रंथोंमें लिखा है कि श्रीमहावीर तीर्थंकर १३ मास पीछे तथा भगवान ऋषभदेव भी कुछ समय पीछे देवदूष्य वस्त्र छोडकर अंत तक वस्त्ररहित नग्न रहे थे। तो क्या उस नग्न दशामें किसी स्त्री साध्वी आदिने उनका दर्शन नहीं किया होगा ? और दर्शन करने पर क्या उनके भी कामविकार हो गया होगा ? चंदना बालाने नग्न भगवान महावीर को आहार किस प्रकार कराया होगा ?

इन प्रश्नोंका समाधान ही उनके आक्षेपका समाधान है । क्योंकि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुका ही दूसरा नाम दिगम्बर मुनि है ।

तथा-जिस पुरुषके मनमें कामविकार होता है उसीका नग्न शरीर देखकर स्त्रीके मनमें विकार भाव उत्पन्न हो सकता है । परन्तु जिस महात्माके हृदयपर अखंड-अटल ब्रह्मचर्य जमा हुआ है उसके नग्न शरीरको देखकर विकारके बदले दर्शन करने वालेके हृदयमें वीतराग भाव उत्पन्न होता है । जैसे कि भगवान महावीर स्वामीके नग्न शरीरको देखकर चंदना बालाके हृदयमें वीतरागभाव जागृत हुआ था ।

यह बात हम इन लौकिक दृष्टान्तोंसे समझ सकते हैं कि माता या अन्य स्त्रियां, ५-१० वर्षके नग्न (नंगे) बालकको देखकर लज्जित नहीं होती हैं और न उसके नंगे शरीरको देखकर उनके मनमें कामविकार पैदा होता है क्योंकि वह बालक निर्विकार है-कामसेवनको बिलकुल जानता नहीं है ।

तथा एक ही पुरुषको उसकी माता, बहिन तथा पुत्री आलिंगन करती है किंतु उस पुरुषका शरीर भुजाओंसे भर लेनेपर भी (आलिंगन करलेने पर भी) उनके मनमें कामविकार उत्पन्न न होकर स्नेह,

प्रेम तथा भक्ति पैदा होती है। ऐसा क्यों ? ऐसा केवल इसलिये कि उन माता, बहिन और पुत्रीके लिए उस पुरुषका मन निर्विकार है कामवासनासे रहित है।

उसी पुरुषका आलिंगन जब उसकी स्त्री करती है तब उन दोनों के हृदयमें कामवासना पैदा हो जाती है क्योंकि उस समय दोनोंके मनमें कामविकार मौजूद है।

इसी प्रकार जिस पुरुषके मनमें कामविकार मौजूद है उसको नंगा देखकर दूसरे स्त्री पुरुषोंका मन अवश्य कामविकारमें फसजाता है क्योंकि उसके काम विकारकी साक्षी उसकी लिंगेंद्रिय देती है। परन्तु जिस महात्माके मनमें कामविकार का नाम निशान भी नहीं है; अखंड ब्रह्मचर्य कूट कूट कर भरा हुआ है उसके नंगे शरीर में कामविकार भी नहीं दीख पडता है। अत एव उसके दर्शन करनेवाले स्त्री पुरुषोंके हृदयमें भी कामवासना नहीं आ सकती।

जो साधु मनमें कामवासना रखकर ऊपर से ब्रह्मचर्यका ढोंग लोगोंको दिखलावे तो कपडोंसे ढके हुए उसके कामविकारको भी लोग समझ नहीं सकते। ऐसा साधु अनेक वार लोगोंको ठग सकता है। किन्तु जो साधु अखंड ब्रह्मचर्यसे अपने आत्माको रंग चुका है वह यदि नंगे वेषमें हो तो लोगोंको उसके ब्रह्मचर्य व्रतकी परीक्षा हो सकती है। क्योंकि मनमें कामवासना जग जानेपर लिंग इन्द्रिय पर विकार अवश्य आ जाता है।

यदि किसी श्वेताम्बर या स्थानकवासी भाईको इस विषयमें कुछ संदेह हो तो " हात कंगनको आरसीसे क्या काम ? " इस कहावतके अनुसार इस समय भी दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्णाटक प्रान्तमें विहार करनेवाले मुनिसंघके श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी मुनिवर्य वीर-सागरजी आदिको तथा ग्वालियर राज्य व संयुक्त प्रान्तके बनारस, लख-नऊ और विहार प्रान्तके गया, आरा, गिरीडी, हजारीबाग कोडरमा आदि नगरोंमें विहार करनेवाले मुनिराज श्री शांतिसागरजी (छाणी), सूर्यसागरजी, मुनीन्द्रसागरजी आदि दिगम्बर मुनियोंका दर्शन कर

सकते हैं जिनके पास कि जरासा भी वस्त्र नहीं है। और जिनको स्थान स्थान पर जैन, अजैन स्त्री पुरुषोंके झुंड नमस्कार दर्शन पूजन करते हैं। इन पूज्य मुनीश्वरोंके निर्विकार, अखंडब्रह्मचर्यमंडित नंगे शरीरको देखकर किसी स्त्री या पुरुषके हृदयमें लज्जा या कामवासना उत्पन्न ही नहीं होती।

श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजीके समयमें भी दक्षिण कर्णाटक देशमें श्री १०८ अनन्तकीर्तिजी दिगम्बर मुनि विद्यमान थे। वे उनका दर्शन करके अपना भ्रम दूर कर सकते थे।

सारांश–पूर्वोक्त बातोंपर दृष्टि डालते हुए निष्पक्ष विद्वान स्वीकार करेंगे कि साधुका परिग्रहरहित, निर्ग्रंथ रूप दिगम्बर (नग्न–वस्त्र–रहित) वेश ही है। और उसी नग्न दिगम्बर वेशसे साधुके पवित्र मन तथा अखंड ब्रह्मचर्यकी परीक्षा हो सकती है। जिसको कि श्वेताम्बरीय ग्रंथ आचारांगसूत्र, प्रवचनसारोद्धार आदि भी स्वीकार करते हैं।

—०—

क्या साधु अपने पास लाठी रक्खे ?

अब हम लाठी प्रकरणपर उतरते हैं। कारणके अनुसार कार्य होता है; यह सब कोई समझता है। गृहस्थाश्रममें पुत्र, स्त्री, धन, मकान, दुकान आदि कारणोंसे पुरुषको मोह उत्पन्न होता है। इस कारण संसारसे विरागी पुरुष इन मोहके कारणोंको छोडकर मुनिदीक्षा लेकर एकांतस्थान, वन, पर्वत, गुफा, मठ आदिमें रहता है क्योंकि वहांपर उसके मनमें मोह पैदा करनेवाले बाहरी पदार्थ नहीं हैं।

घरबार परिग्रहको छोडकर अहिंसा महाव्रतके पालनेवाले मुनिराज अपने पास लाठी रक्खें या न रक्खें ? इस प्रश्नपर विचार करनेके पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि दिगम्बर, श्वेतांबर तथा स्थानकवासी ऐसे तीन तरहके जैन साधुओंमेंसे केवल श्वेतांबर जैन साधु ही अपने पास लाठी (डंडा) रखते हैं। जैसा कि श्वेतांबरीय ग्रंथ प्रवचनसारोद्धार के २६२ पृष्ठ ६७७ वीं गाथामें लिखा है–

लट्ठी आयपमाणा विलट्ठि चतुरंगुलेण परिहीणे।
दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमेत्ताओ ॥ ६७७॥
लट्ठीए चउरंगुल समुसीया दंडपंचगे नाली।

यानीं-साधु ५ तरहका दंडा रक्खे। १-लाठी-जो कि अपने शरीर के बराबर ३॥ साढे तीन हाथ लंबी हो। २-विलट्ठी-जो कि अपने शरीरसे चार अंगुल छोटी हो। ३-दंड-जो कि अपनी भुजा (बांह) के बराबर हो। ४-विदंड जो अपने कांख (कंधों) के बराबर ऊंचा हो। ५-नाली-जो लाठी से भी चार अंगुल ऊंची हो। यह नाली नदी पार करते समय पानी नापनेके लिये साधुके काम आती है।

लाठी रखनेमें साधुको श्वेताम्बरीय ग्रंथों और उनके रचयिता आचार्योंने अनेक लाभ बतलाये हैं जैसे कि—लाठीके सहारे साधु कीचड़में फिसलनेसे बचजाता है। लाठीके सहारे चलनेसे उपवास करने वाले साधुको खेद नहीं होता, लाठी देखकर कुत्ता, बिल्ली, चोर, डाकू डर कर पास नहीं आने पाते, लाठी के सहारे खड्डे आदिमें गिरनेसे साधु बच जाता है, लाठीसे सामने आये हुए सांप अजगरको साधु हटा सकते हैं। लाठीसे पानी नापकर मुनि नदी पार कर सकते हैं इत्यादि।

अभी (कार्तिक सु. ११ वीर सं. २४५३) कोटासे प्रकाशित "आगमानुसार मुहपत्तिका निर्णय और जाहिर घोषणा" नामक पुस्तकके ८३-८४-८५ वें पृष्ठपर ऐसे ही १५ तरहके गुण लाठी रखनेसे मुनि को बतलाये हैं। इस पुस्तकको श्री० मुनि मणिसागरजीने लिखा है। १५ वा गुण लाठी (दंडा) रखनेका साधुको यह बतलाया है—

"दर्शन ज्ञान चारित्रकी आराधना करनेसे मोक्ष प्राप्तिका कारण शरीर है और शरीरकी रक्षा करनेवाला दंडा है। इस लिये कारण कार्य भावसे दर्शन ज्ञान चारित्र तथा मोक्षका हेतु भी दंडा है।"

श्वेतांबर ग्रंथोंके उपर्युक्त वाक्योंसे यह सिद्ध होता है कि लाठीके कारण साधुके शरीरको आराम मिलता है। इसी कारण सर्व

सिद्धिका कारण लाठी बतला दी है। अब यहां विचार करना है कि वास्तवमें लाठी (लकडी) साधुके चारित्र (संयम) की उपकारिणी है या अपकारिणी है ?

साधु (मुनि) अहिंसा महाव्रतके धारक होते हैं। उनको अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये जिसके कारण उनका अहिंसा महाव्रत मलिन न होने पावे। किन्तु साधु यदि अपने पास लाठी रक्खे तो उसके अहिंसामहाव्रतमें मलिनता अवश्य आवेगी। क्योंकि लाठी एक हथियार है जिससे कि दूसरे जीवोंको मार दी जाती है। ऐसा घातक हथियार अपने पास रखनेसे साधुओंके मनमें विना किसी निमित्त भी हिंसा करनेके भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

गृहस्थ लोग तो विरोधि हिंसाके त्यागी नहीं होते हैं। इस कारण वे अपने शत्रुसे, चोर डाकू या हिंसक पशुसे अपने आपको बचानेकेलिये उसके साथ लडनेके निमित्त लाठी, तलवार, बंदूक आदि हथियार अपने पास रखते हैं और उनसे मौकेपर काम भी लेते हैं। परन्तु साधु तो विरोधी हिंसाके भी त्यागी होते हैं। वे तो अपने ऊपर आक्रमण (हमला) करनेवाले दुष्ट मनुष्य, चोर, डाकू या हिंसक पशुके साथ लडने को नहीं तयार होते हैं। फिर वे ऐसे घातक हथियार लाठीको अपने पास क्यों रक्खें ?

दूसरे— साधु परम दयालु होते हैं। उनके बराबर दया किसी और मनुष्यके हृदयमें होती नहीं है। इसी लिये वे मन वचन कायसे दूसरे जीवोंको अभय (निडरता) देते हैं। इस बातको श्वेताम्बर ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। परन्तु लाठी रखने पर साधुके यह बात बनती है नहीं। क्योंकि लाठीको देखकर मनुष्य नहीं तो बेचारे पशु तो अवश्य भयभीत हो जाते हैं क्योंकि लाठी पशुओंके मारनेका एक सुलभ हथियार है। इस कारण लाठीधारी साधु यदि वचनसे नहीं तो लाठी के कारण मन और कायसे अवश्य दूसरे जीवोंके हृदयमें भय (डर) उपजाते हैं। इस कारण उनके संयम धर्म तथा अहिंसा महाव्रत में कमी आती है।

तीसरे—लाठी रखनेसे साधुके मनमें भी दूसरे जीवोंको और नहीं तो कमसे कम अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले जीवको तो अवश्य ही मारने पीटनेके भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे तलवार, छुरी, बंदूक हाथमें लेकर मनुष्यके भाव दूसरे जीवका वध या उसको घायल करनेके विचार हो जाते हैं। तलवार बंदूक आदि लोहेके हथियार हैं और लाठी लकड़ीका बना हुआ हथियार है। अंतर केवल इतना ही है।

चौथे—लाठी वही मनुष्य रखता है जिसको परम अहिंसाधर्मसे बढ़कर अपना शरीर, प्राण प्यारे (प्रिय) होते हैं और इसी कारण वह अपने शरीरकी रक्षाके लिए, किसी भयसे बचनेके लिए अपने पास लाठी रखता है। किंतु सब तरहकी हिंसाके तथा अंतरंग बहिरंग परिग्रहके सर्वथा त्यागी मुनिके हृदयमें न तो अपने शरीरसे राग होता है जिससे कि उनके हृदयमें किसीसे डर लगता रहे और उस डरके मिटानेके लिये वे अपने पास लाठी रक्खें। तथा न वे लाठीसे दूसरे जीवको भय दिखलाकर अपने शरीरको ही बचाना चाहते हैं। क्योंकि ऐसा मोटा प्रमाद गृहस्थीके ही होता है।

पांचवें—यदि साधु लाठीके सहारे ही अपनी रक्षा करने लगें तो उनमें और अन्य गृहस्थोंमें या अन्य अजैन साधुओंमें क्या अंतर रहा?

छठे—शरीरकी रक्षाके साधन लाठीके समान जूता, टोपी, छाता, आदि और भी अनेक वस्तुएं हैं उनमेंसे भी कुछ चीजें लाठीके समान साधुओंको रखना चाहिये।

सातवें—लाठीसे मोह होजानेके कारण साधुको लाठी अपने पास रखनेसे परिग्रहका भी दोष लगता है। शरीरकी रक्षाका कारण मानकर लाठी प्रत्येक समय अपने पास रखना, विना मोहके बनता नहीं है।

आठवें—लाठी यदि संयम साधनका ही कारण हो तो श्वेताम्बरोंके सर्वोत्कृष्ट जिनकल्पी साधु (जिनके पास कि रंचमात्र भी कोई वस्तु नहीं होती, नग्न दिगम्बर होते हैं) लाठी अपने पास क्यों नहीं रखते?

नवमे—लाठी विना यदि साधुचर्यामें कुछ हानि पहुंचती तो श्री महावीर आदि तीर्थंकर भी लाठी अवश्य रखते किन्तु उन्होंने लाठी अपने साथ नहीं रक्खी सो क्यों?

इस कारण सारांश यह है कि लाठी या डंडा साधुके संयममें हानि पहुंचाता है। संयम पालनमें लाठीसे कुछ सहायता नहीं मिलती है। हां! लाठीके कारण शरीरको अलबत्ता सुख मिलता है। सो यदि शरीरको ही सुख देनेका अभिप्राय हो तो गृहस्थाश्रम छोड साधु बनना व्यर्थ है। मुनिदीक्षा लेकर तो कायोत्सर्ग, कायक्लेश व्युत्सर्ग करना पडता है, २२ परीषह निश्चल रूपसे बिना खेद सहनी पडती हैं। अनशन, ऊनोदर आदि तप करके शरीर कृश करना पडता है। इस कारण डंडा लेकर शरीरकी रक्षा करना मुनिचारित्रके विरुद्ध है। यदि डंडा रखने मात्रसे परम्परा लगाकर मुक्ति मिल जावे तो समझना चाहिये कि मुक्ति मिलना कुछ कठिन नहीं। जिस साधुने डंडा लिया कि दर्शन ज्ञान चारित्र उस को प्राप्त हुए और मोक्ष अपने आप मिल गई।

भोले भाले भाइयो! लाठी डंडा गृहस्थोंके हथियार हैं। अहिंसा महाव्रतधारी निर्भय मुनि साधुके लिये उस लाठी डंडाके कारण साधुओं के क्रोध कषायकी तीव्रता जग जाती है और कभी कभी वे, गृहस्थ स्त्री पुरुषों के ऊपर भी कहीं कहीं लाठीका हाथ झाड देते हैं। इस कारण लाठी रखना मुनि धर्मका घातक है, साधक नहीं है।

लाठी एक शस्त्र है साधु जिसके द्वारा हिंसा कर सकते हैं।

हिंसा चार प्रकारकी होती है संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इन चार प्रकारकी हिंसाओंमें से साधारण व्रती जैन गृहस्थके संकल्पी हिंसाका त्याग होता है। शेष तीन प्रकारकी हिंसाओं का नहीं होता है। क्यों कि भोजनादि बनानेमें उसको आरम्भी हिंसा और व्यापार करनेमें उद्योगी हिंसा करनी पडती है। एवं शत्रुसे आत्मरक्षा, धर्मरक्षा, संघरक्षा आदि करनेमें विरोधी हिंसा भी उससे हुआ ही करती है।

आत्मरक्षाके लिये ही जैन गृहस्थ अपने पास तलवार, बन्दूक आदि हथियारोंके साथ साथ लाठी भी रखते हैं क्योंकि लाठी भी

आत्मरक्षणके लिये तथा आक्रमण करनेवाले शत्रुके प्रहारका उत्तर देनेके लिये उपयुक्त साधन है। किन्तु जैनसाधु पांच महाव्रतोंके धारक होते हैं। उनके लिये चारों प्रकारकी हिंसाका परित्याग होना अनिवार्य है। वे अपने अहिंसा महाव्रतके अनुसार अपने ऊपर आक्रमण करनेवाले शत्रुका भी सामना नहीं कर सकते। शत्रुके प्रहार करनेपर जैन साधुको शान्ति और क्षमा धारण करनेका विधान है। अत एव कोई आवश्यकता नहीं कि साधु हिंसाके साधनरूप लाठीको अपने पास रक्खे।

इसके विरुद्ध श्वेताम्बर साधु लाठी अपने पास सदा रखते हैं। यह उनके अहिंसा महाव्रतका दूषण है क्योंकि अवसर मिलनेपर वे उस लाठीसे हिंसा कर सकते हैं। जैसा कि उनके ग्रंथोंमें उल्लिखित कथासे भी पुष्ट होता है। देखिये श्वेताम्बरीय ' निशीथचूर्णिका ' में लिखा है कि " **एक साधुने अपने गुरूकी आज्ञा पाकर अपनी लाठीसे तीन सिंहोंको मार डाला।** " यह कथा किस प्रकार लिखी हुई है यह हमको मालूम नहीं क्योंकि निशीथचूर्णिका ग्रंथ हमारे देखनेमें नहीं आया। किन्तु श्वेताम्बरीय महाव्रती साधुने गुरूकी आज्ञासे लाठी द्वारा तीन सिंहोंको मार डाला यह बात असत्य नहीं ऐसा हमको पूर्ण विश्वास है। क्योंकि आधुनिक प्रसिद्ध श्वेताम्बरी आचार्य आत्मानंदजी ने (जिनको कि श्वेताम्बरी भाई ' कलिकाल सर्वज्ञ ' लिखते हैं) स्वरचित ' सम्यक्त्वशल्योद्धार ' नामक पुस्तकके १९० तथा १९१ वें पृष्ठपर स्पष्ट लिखा है कि—

" जेठेने (जेठमलनामक एक ढूंढिया विद्वानने समकितसार नामक एक पुस्तकके प्रतिवादस्वरूप आत्मारामजीने यह सम्यक्त्व शल्योद्धार नामक पुस्तक लिखी है) श्री निशीथचूर्णिका तीन सिंहके मारनेका अधिकार लिखा है परन्तु **उस मुनिने सिंहको मारनेके भावसे लाठी नहीं मारी थी उसने तो सिंहके हटाने वास्ते यष्टि प्रहार किया था इस तरह करते हुए यदि सिंह मर गये उसमें मुनि क्या करे? और गुरुमहाराजाने भी सिंहको जानसे मारनेके लिये नहीं कहा था उन्होंने कहा था कि जो सहजमें न हटे तो लाठीसे हटा देना।** "

आत्मानंद जीके, इस लेखसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि निशीथ चूर्णिमें श्वेताम्बर जैन साधु द्वारा लाठीसे एक दो नहीं किन्तु तीन सिंहोंको जानसे मारे जानेकी कथा अवश्य लिखी है। उस महाहिंसाके दोषको छिपानेके प्रयत्न से आत्मानन्दजीने अयुक्तिपूर्ण समाधान किया है।

प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है कि हाथि सरीखे महाबली दीर्घ-काय पशुको भी विदारण कर देनेवाला वनराजा सिंहका लाठीद्वारा हटाये जाने मात्रसे मरना असंभव है जब तक कि उसके ऊपर पूर्ण बलसे लाठीका प्रहार न हुआ हो। लाठी द्वारा हटाने मात्रसे कुत्ता बिल्ली आदि साधारण पशु भी नहीं मर सकते; सिंहकी बात तो अलग रही।

दूसरे—साधुकी लाठीसे तीन सिंह क्रमशः मरे होंगे; एक साथ तो मरे ही न होंगे। जब ऐसा था तो एक सिंहके मरजाने पर ही कमसे कम साधुको महान् पंचेंद्रिय पशुकी हिंसा अपने हाथसे हुई जानकर शेष दो सिंहोंका पीछा छोड देना था। उसने ऐसा नहीं किया इससे क्या समझना चाहिये ? इस बातका विचारशील पाठक स्वयं विचार करें।

तीसरे—महाव्रती साधुओंको किसी जीवपर लाठी प्रहार करनेका आदेश भी कहां है ? साधुको तो अपने ऊपर आक्रमण करने वालेके समक्ष भी शान्तिभाव प्रगट करनेका आदेश है। लाठीसे किसी जीव जंतुको पीडित करना अथवा उसपर प्राणान्त करनेवाला असह्य प्रहार कर बैठना साधुचर्याके सरासर विपरीत है।

इस कारण या तो श्वेताम्बरीय शास्त्रोंको निर्दोष ठहरानेके लिये उस साधुको दोषी ठहराना आवश्यक है अथवा उस साधुको निर्दोष निश्चित करते हुए श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके मेट वह दोष रखदेना चाहिये कि वे साधुके ऐसे कार्यको भी अनुचित नहीं समझते।

किन्तु कुछ भी हो यह बात तो प्रत्येक दशामें स्वीकार करनी पडेगी कि लाठी महाव्रती साधुके लिये महादोषजनक शस्त्र है जिसके

निमित्तसे वह उपर्युक्त कथाकी घटनाके अनुसार संकल्पी अथवा विरोधी हिंसा भी कर सकते हैं।

पाणिपात्र या काष्ठपात्र.

अब यहांपर यह बात विचारनेके लिये सामने आई है कि निर्ग्रंथ साधु जो कि समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं पाणिपात्र यानी हाथमें भोजन करनेवाले हों अथवा काष्ठपात्र यानी लकडी मिट्टी या तूंबीके वर्तन अपने साथ रखनेवाले हों ?

इस विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायका अभिप्राय तो यह है कि स्थविरकल्पी हो या जिनकल्पी मुनि हो, अन्य कोई पात्र धारण न करे; हाथमें ही भोजन करे। किन्तु श्वेताम्बर और स्थानकवासी संप्रदायका इस विषयमें यह कहना है कि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तो पाणिपात्र यानी हाथमें भोजन करनेवालाही हो अन्य कोई पात्र धारण न करे। किन्तु स्थविरकल्पी साधु भोजन करनेके लिये पात्र और उस पात्रको रखने तथा बांधनेके कपडे अपने पास रक्खे।

यहांपर इतना समझ लेना चाहिये कि दिगम्बर सम्प्रदायके अभिमतको श्वेतांबर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय सबसे उत्कृष्ट रूप मानकर स्वीकार करते हैं, जैसा कि उनके प्रवचनसारोद्धार ग्रंथकी ५०० वीं गाथामें कहा है—

जिणकप्पिआ वि दुविहा पाणीपाया पडिग्गहधराय।

यानी—जिनकल्पी साधु भी दो प्रकारके हैं एक पाणिपात्र और दूसरे पतद्ग्रहधर।

किंतु विचार इतना और भी करना है कि क्या अन्य महाव्रतधारी जैन मुनि भी पात्र ग्रहण करें ? इस प्रश्नपर विचार करते समय जब सर्व परिग्रहत्यागी साधुके स्वरूपकी ओर देखा जाय तो कहना होगा कि पात्र अपने पास रखना साधुको अपना परिग्रहत्याग महाव्रत मलिन करना है। क्योंकि साधुके लिये पात्र रखना दो तरहसे परिग्रहका दोष प्रगट करता है एक तो इस तरह कि यदि पात्र परिग्रहरूप नहीं है तो उत्कृष्ट

जिनकल्पी मुनि उन पात्रोंको छोडकर पाणिपात्र (हाथमें भोजन करनेवाले) क्यों होते हैं ? पात्र परिग्रहरूप वस्तु है इसी कारण वे उनका त्याग कर देते हैं । दूसरे—पात्र रखनेसे कोई महाव्रत, संयम आदिका उपकार नहीं होता इस कारण वह एक मोह पैदा करनेवाली वस्तु है । उसके ग्रहण करने, अपने पास रखने तथा उसके रक्षा करनेमें मोह मौजूद रहता है । पात्र ग्रहण करनेमें साधुके मोह भाव होता है यह बात उसकी ४ प्रतिज्ञाओंसे भी सिद्ध होती है ।

देखिये आचारांग सूत्रके १५ वें अध्यायके पहले उद्देशमें २०९ —२१० वें पृष्ठपर लिखा है—

" से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय उद्दिसिय पायं जाएज्जा तंजहा, लाउयपायं वा, दारुपायं वा, मट्टियापायं वा तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा, जाव पडिगाहेज्जा । पढमा पडिमा । ८४७ ।

अर्थात्—साधु या आर्यिका किसी एक प्रकारका पात्र अपने लिये निश्चित करके तूंबी, लकडी या मिट्टी आदि के बने हुए पात्रोंमें से अपना निश्चित प्रकारका पात्र गृहस्थसे स्वयं मांगे या गृहस्थ स्वयं देवे तो ले लेवे । यह पहली प्रतिज्ञा है ।

इस प्रतिज्ञासे सिद्ध होता है कि साधुके हृदयमें पात्रके लिये ममत्व भाव है जिसके कारण उसे गृहस्थसे स्वयं याचना करनी पडती है ।

दूसरी प्रतिज्ञा यों है—

" से भिक्खू वा भिक्खुणी वा पेहाए पेहाए पायं जाएज्जा, तंजहा, गाहावई वा, जाव कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा " आउसोत्तिवा, भइणीतिवा, दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं पादं, तंजहा लाउयपादं वा " जाव तहप्पगारं पायं सयं वा णं जाएज्जा परो वा से देज्जा जाव पडिगाहेज्जा । दोच्चा पडिमा । ८४८ ।

अर्थात्—मुनि या साध्वी अपने निश्चय किये हुए (लकडी आदि जातिके) पात्रको गृहस्थके घरमें देख कर गृहस्थके घर वालोंसे कहे कि " हे आयुष्मन् ! या हे बहिन ! तुंबीपात्र, काठका बर्तन या

मिट्टी आदिके वर्तनों में से अमुक वर्तन क्या मुझे देगी? ऐसे मांगने पर या स्वयं गृहस्थके देने पर ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

इस दूसरी प्रतिज्ञासे पात्र लेने पर साधुके लोभ, संकोच, दीनता प्रगट होती है। गृहस्थोंके घर वर्तन देखकर मन संकोच कर उससे वर्तन मांगना, यदि गृहस्थने मांगे अनुसार पात्र देदिये तो ठीक; नहीं तो वर्तन न मिलनेपर खेदखिन्न या क्रोधी होना या मिल जानेपर हर्षित होना आदि बातें साधुके ऊंचे पदको नीचे करने वाली हैं तथा मनको मलिन करने वाली हैं और दीनता प्रगट करने वाली हैं।

तीसरी प्रतिज्ञा यह है—

"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण पायं जाणेज्जा संगतियं वा वेजयंतियं वा तहप्पगारं पायं सयं वा जाव पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।"

यानी—मुनि या आर्यिका गृहस्थ के वर्ते हुए (काम लिये हुए) या वर्ते जाने वाले (काममें आते हुए) दो तीन वर्तनोंमेंसे एक पात्र स्वयं मांगे। उसके मांगनेपर या स्वयं गृहस्थके देने पर—पात्र ग्रहण करे।

इस तीसरी प्रतिज्ञासे पात्र लेनेवाले साधुके दीनता तथा मोहबुद्धि और भी अधिक बढी हुई समझनी चाहिये क्योंकि दूसरेका काममें लिया हुआ वर्तन वह ही ग्रहण करता है जो अत्यंत लोभी या दीन होता है। मुनिको यदि लोभी या अतिदीन माना जाय तो वे महाव्रतधारी साधु नहीं हो सकते क्योंकि लोभ अंतरंग परिग्रह है। और यदि वे पांच महाव्रतधारी साधु हैं तो ऐसी दीनता तथा लोभकषाय नहीं दिखला सकते।

चौथी प्रतिज्ञा यह है—

"से भिक्खूवा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मियं पादं जाएज्जा जं च-ण्णे बहवे समणमाहणा जाव वणीमगा णाव कंखंति, तप्पगारं पादं सयं वाणं जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा। ८५०।"

भावार्थ—मुनि अथवा आर्यिका ऐसा पात्र गृहस्थसे स्वयं मांगकर लेवे जो कि फेंक देने योग्य हो और जिसको कोई भिक्षुक (अजैन

साधु) ब्राम्हण अथवा घरघर भीख मांगनेवाले भिखारी भी नहीं लेना चाहें। अथवा ऐसे वर्तनको गृहस्थ स्वयं देवे तो वह ले लेवे ।

इस चौथी प्रतिज्ञासे पात्र लेनेवाले साधुके तो महादीनता प्रगट होती है क्योंकि भिखारीके भी न लेने योग्य पात्रको मांगकर लेनेवाला पुरुष भिखारीसे भी बढकर दीन दरिद्री होता है। क्या महाव्रतधारी, सिंह वृत्तिसे चलने वाले मुनि ऐसे दीन होते हैं ?

इस प्रकार पात्र ग्रहण करनेमें साधुके दीनता, मोह, परिग्रह आदि दोष आते हैं। प्रवचनसारोद्धारके १४१ वें पृष्ठपर ५२४ वीं गाथामें पात्र रखनेसे जो गुण बतलाये हैं कि—

छकायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पण्णत्तं ।
जे य गुणा संभोए हवंति ते पायगहणेवि ॥ २५४ ॥

यानी-पात्र रखनेसे साधुके छह कायके जीवों की रक्षा होती है तथा जो गुण संभोगमें बतलाये गये हैं वे गुण पात्र रखनेमें भी हैं। ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ।

यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि पात्र न रखकर हाथमें भोजन करने वाले मुनिके किस प्रकारसे छह काय के जीवोंकी हिंसा होती है ? तथा आपके (श्वेताम्बरीय) उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु जो पात्र न रखकर हाथमें भोजन करते हैं सो क्या वे भी छह कायके जीवोंका घात करते हैं ? कैसा उपहास है—जैसे तैसे काके पात्रसे ही छहकायिक जीवोंकी रक्षा बतलाई जाती है। पात्रके द्वारा उठाने, रखने, धोने, पोंछने, बचा हुआ भोजन फेंकने आदि क्रियाओंसे जो जीवों का घात होता है उसका नाम भी नहीं ।

अब हम इस विषयको अधिक न बढाकर पात्र रखनेसे साधुको जो जो दोष प्राप्त होते हैं उनको संक्षेपसे बतलाते हैं। पात्र रखनेमें साधुको निम्न लिखित दोष लगते हैं ।

१—पात्र (बर्तन) पौद्गलिक पर वस्तु है जिससे कि संयम का कुछ उपकार नहीं होता है। क्योंकि भोजन हाथोंमें लेकर खाया जा सकता है, अतः पात्रोंको ग्रहण करनेमें परिग्रह का दोष लगता है।

२–पात्र अपने मनके अनुसार मिल जानेपर मुनि को हर्ष तथा पात्रसे प्रेम हो सकता है तथा इच्छानुसार न मिलनेपर दुःख हो सकता है। इस कारण पात्र मुनिके राग द्वेष उत्पन्न करनेका कारण है।

३–पात्र मांगनेमें मुनिके आत्मामें दीनता का प्रादुर्भाव होता है।

४ पात्र मिल जानेपर साधुको उसकी रक्षा करनेमें सावधानी रखनी पड़ती है कि कहीं कोई चोर न चुराले जावे।

५ पात्र टूट फूट जानेपर या चोरी चले जानेपर साधुके मनमें दुख हो सकता है।

६ पात्र रखनेमे उसके साथ सूती तथा ऊनी तीन कपड़े और भी रखने पड़ते हैं। जिससे परिग्रह और भी बढ़ता है।

७ पात्रको साफ करने, धोने, पोंछने, सुखाने आदिमें सूक्ष्म त्रस जीवोंका घात होता है। तथा आरंभका दोष आता है।

८ पात्रमें भोजन ले आने पर ऊनोदर (भूखसे कम खाना) तप यथार्थ रूपसे नहीं पल सकता। यदि तप पालने के लिये भूखसे कम भोजन करके शेष बचे हुए भोजनको साधु कहीं फेंक देवें तो वहां जीवोंकी उत्पत्ति तथा घात होगा।

९ अन्न पानीके सम्बन्धसे काठके पात्रमें सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे वर्तनको रगड़ रगड़ कर धोनेपर उनका घात हो सकता है।

१०—एक ही पात्रमें अनेक प्रकारके अन्न, दाल, दूध, दही, नमक, खांड आदिके बने हुए सूखे, गीले पदार्थ मिलानेपर द्विदल आदि हो सकता है। जिसके कि खानेमें हिंसाका दोष लगता है।

११—पात्रोंको कोई डाकू, भील, चोर, लूट, छीन, या चुरा न लेवे इस भयसे साधु पात्रोंको लेकर वन, पर्वत, श्मशान आदि एकांत स्थानोंमें निर्भयरूपसे आ जा नहीं सकते हैं और न निराकुल होकर ध्यान कर सकते हैं।

इत्यादि अनेक दोष साधुओंको पात्र रखनेमें आते हैं । इस कारण महाव्रतधारी मुनिको पात्र धारण करना ठीक नहीं है, दोषजनक है । कमंडलु तो इस कारण रखना योग्य है कि उसमें अचित्त जल रखकर उस जलसे पेशाब टट्टी करनेके पीछे हाथ पैर आदि अशुद्ध अंग धोने पडते हैं । किंतु भोजन पात्र रखनेके लिये तो वैसी कोई विवशता (लाचारी) नहीं है । निर्दोष भोजन तो साधु गृहस्थके घरपर हाथोंमें खा सकते हैं जैसा कि उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि किया करते हैं ।

इस कारण साधुको अपने पास पात्र रखना भी अपना मुनिचारित्र विगाडना है । यानी पात्र रखने पर साधुके मूलगुण भी नहीं पालन किये जा सकते । इसलिये डंड (लाठी) धारणके समान पात्र धारण भी व्यर्थ तथा हानिजनक है ।

क्या साधु अपने पास बिछौना रक्खे ?

अब यहां यह प्रश्न सामने आया है कि क्या महाव्रतधारी जैन साधु संस्तारक (बिछौना, बिस्तर) सोनेके लिये अपने पास रक्खे ?

इसका उत्तर दिगम्बर सम्प्रदायके आचारग्रंथ तो महाव्रतधारी मुनि को रंच मात्र भी वस्त्र न रखनेका आदेश देते हैं फिर संस्तारक तो जरा दूरकी बात रही । किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रंथ तथा स्थानकवासी शास्त्र मुनियोंको संस्तारक (संथारा. बिछौना या बिस्तर) ही नहीं किन्तु उसके ऊपर बिछानेके लिये एक उत्तर पट यानी मलमल आदि कोमल कपडेकी चादर भी रखनेकी आज्ञा देते हैं ।

आचारांगसूत्रके ११ वें अध्यायके ६९२ वें सूत्रसे लेकर ७१२ वें सूत्रतक साधुको अपने पास संस्तारक (सोनेके लिये बिछौना) रखनेका वर्णन किया है जिसमें वस्त्र तथा पात्र ग्रहणके समान इस संस्तारक लेनेके लिये भी ४ प्रतिज्ञाओंको बतलाया है जिनको लिखना व्यर्थ समझ हम छोड देते हैं । उनका मतलब केवल इतना ही है कि साधु गृहस्थके घरसे मांगकर अपने सोनेके बिछौना ले आवे ।

प्रवचनसारोद्धारके १४० वें पृष्ठपर यों लिखा है—

संथारुत्तरपट्टो अड्ढाइज्जाय आयया हुच्छा ।
दोण्हंपि य विच्छारो हुच्छो चउरंगुलो चेव ॥ ५२१ ॥

यानी—साधुओंके सोनेका विछौना (संस्तारक) और उसके ऊपर विछानेकी चादर दोनों ही ढाई हाथ लंबे तथा एक हाथ चार अंगुल चौडे होवें।

प्रवचनसारोद्धारके गुजराती टीकाकारने इस विछौना और चादर रखनेका यह प्रयोजन बतलाया है कि—

" संस्तारके करी प्राणी तथा शरीरे जे रजोरेणु लागे तेनी रक्षा थाय छे; माटे तेनो अभाव होय तो शुद्धभूमि विषे शयन करया छतां पण साधु पृथ्वी आदि प्राणीओना उपमर्दन करनारो थाय अने शरीरने ऊपर रेणु लागे। तथा उत्तरपट्ट पण क्षौमिक षट्पदादि संरक्षणार्थे एटले दावना करेला संस्थारामांनी भ्रमरिओने घात न थवा माटे संस्तारकनी ऊपर पथराय छे। एम न करतां कंबलमय संस्तारक करयाथी शरीरना संघर्षणने लीधे जुं प्रमुख जीवोनी विराधना थाय।"

यानी—विछौने (संस्तारक) से जमीनपर चलने फिरनेवाले छोटे छोटे जीवोंकी रक्षा होती है और शरीरपर धूल नहीं लगने पाती है। यदि साधु शुद्ध, जीवजन्तुरहित भूमिमें शयन करे (सोवे) तो उसके शरीरसे पृथ्वीकायिक आदि (न मालूम आदिसे क्या लिया) जीव कुचल जावें और जमीनकी धूल मुनिके शरीरसे लग जावे। यदि उस विछौनेपर चादर न विछाई जाय तो भौंरा आदि जीवोंकी रक्षा कैसे हो। इसलिये विछौने (संस्तारक) पर आये हुए भौंरे आदि जीवोंकी रक्षाके लिये एक चादर अवश्य चाहिये। साधु यदि चादर ऊपर न विछावे तो कंबलके विछौने और शरीरके रगडनेसे जूं खटमल आदि जीव मर जावें।

प्रवचनसारोद्धारके इस लेखको देखकर कहना पडता है कि जीव रक्षाके बहाने साधुओंके शरीरको सुख पहुंचानेके लिए विछौना रखना बतलाया है। क्योंकि विचार कीजिये कि जिन साधुओंने सब तरहका परिग्रह त्याग कर परिग्रहत्याग महाव्रत धारण

किया है उन्हें अपने साथ बिछौना और उस बिछौनेके लिये चादर अपने साथ रखनेकी क्या आवश्यकता है ? इधर परिग्रहत्याग महाव्रत धारण करना और उधर बिछौना चादर आदि परिग्रह रखना परस्पर विरोधी बात है।

साधु यदि पीछी (रजोहरण या ओघा) से जीवजंतु रहित भुमिको फिर भी शोधकर तथा उसी पीछी (ओघा) से अपना शरीर झाड कर पृथ्वीपर सोवें तो उनके संयमकी क्या हानि है ? यदि बिस्तर और चादर विना नहीं सोया जाता है तो फिर पलंग रखने में भी क्या हानि हैं ?

सोनेसे पृथ्वी कायिक जीव पिचला जाता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि पृथ्वीकायिक जीव चलने फिरने उठने बैठने वाले ऊपरके पृथ्वी पटलमें नहीं होता है, नीचेके पटलमें होता है। और यदि ऊपरकी पृथ्वीमें भी हो तो क्या बिछौना बिछानेसे वह बच जांयगा क्योंकि साधु के शरीरका वजन (बोझ) तो फिर भी जमीनपर ही रहेगा। तथा चलते फिरते और उठते बैठते समय उस पृथ्वीकायिक जीवके न कुचलनेका क्या प्रवन्ध सोचा है ?

बिछौना चादर साथ रखने से जो दोष आते हैं उनको संक्षेपसे लिखते हैं। बिछौना का अर्थ श्वेताम्बर भाई संथारा या संस्तारक समझें। चादरका अर्थ उत्तरपद।

१–बिछौना और चादर ध्यान, संयम आदिका कारण नहीं, शरीरका सुखसाधन है। इससे ये दोनों वस्तु परिग्रहरूप हैं। इनको अपने साथ रखनेसे साधुके परिग्रहत्याग महाव्रत नष्ट होता है।

२–बिछौना चादर गृहस्थसे लेनेमें साधु को याचना करनी पडती है।

३–बिछौना चादर इच्छानुसार मिल जानेपर साधुको हर्ष तथा इच्छा प्रतिकूल मिलने पर शोक होगा।

४–बिछौना चादरमें जूं खटमल आदि जीव पैदा हो जाया करते हैं तथा मक्खी, मच्छर, कुंथु आदि जीव उनमें आकर रह जाते हैं जिससे कि उस बिछौने पर सोनेसे उन जीवोंका घात होगा।

५–बिछौने चादरकी चोर आदि से रक्षा करने के लिये साधुको सदा सावधान रहना होगा। जैसे गृहस्थको अपने परिग्रहके रक्षाके लिये सावधान रहना पडता है।

६–चोर, डाकू, भीऊ आदि उस बिछौने, चादरको चुरा, लूट या छीन ले जांय तो साधुके चित्तमें क्षोभ, व्याकुलता, दुख होगा।

७–उस बिछौनेकी रक्षाके निमित्तसे साधु एकांत स्थान पर्वत, वन, श्मशान आदिमें ध्यान आदि नहीं कर सकेगा।

८–बिछौना चादर मुनिचारित्रका घात करने वाली है इसीं कारण श्वेतांबरी भी उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तथा दीक्षित तीर्थंकर इनको नहीं ग्रहण करते हैं।

९–बिछौना चादरको उठाने, रखने, बिछाने, सुखाने, झाडने पोंछने, फटकारने, आदिमें असंयम होता है।

१०–रातको सोते समय अंधेरेमें बिछौने पर ठहरे हुए छोटे जीवोंका शोधन भी नहीं हो सकता।

११–बिछौना चादर यदि फट जाय तो साधुको उसे सीने सिलानेकी चिन्ता लगती है। यदि मैला हो जाय या उससे किसी तरह खून, पीव, विष्टा, मूत्र आदि लग जाय तो साधुको उसे धोनेकी चिंता होगी। धोने धुलानेपर आरंभका पाप लगेगा।

१२–बिछौना चादर गर्मीके दिनोंमें ठंडा और शीत ऋतुमें (शर्दीके दिनोंमें) गर्म मिले तो साधुको अच्छा लगे, सुख शान्ति मिले। यदि वैसा न मिले तो साधुके मनमें अशान्ति दुख होगा इत्यादि।

इस कारण महाव्रतधारी साधुको बिछौना चादर आदि भी वस्त्र पात्र तथा लाठी आदिके समान अपने पास न रखना चाहिये क्योंकि इन वस्तुओंके रखने से साधुका रूप परदेशमें यात्रा करनेवाले गृहस्थके समान हो जाता है। क्योंकि गृहस्थ भी विदेश यात्राके समय खाने पीनेके वर्तन, पहनने ओढनेके कपडे, बिछानेका बिछौना, तथा लाठी आदि ही रखता है।

— ० —

इस विषयमें विशेप कुछ न लिखकर हम अपने श्वेतांबरी भाइयोंके ऊपर छोडते हैं। वे ही विचार करें कि क्या बरसातसे बचने के लिये परिग्रहत्यागी साधुको छाता रखना भी योग्य है? यदि ऐसा हो तो जिस देशमें वर्फ बहुत पडती हो वहांपर मुनियोंको शिरपर पहननेके लिये टोप तथा पैरोंमें पहनने के लिये ऊनके मौजे (जुराबें-स्टाकिंग) भी रखने चाहिये।

क्या साधु चर्मका उपयोग भी करे?

अब यहां ऐसे विषयपर उतरते हैं जिसके कारण साधुका अहिंसा धर्म कलंकित होता है। उस विषयका नाम है चर्म यानी **चमडेका उपयोग**।

यद्यपि व्रत धारण करने वाले प्रत्येक मनुष्य को किसी भी जीवका चमडा अपने उपयोगमें नहीं लाना चाहिये क्योंकि प्रथम तो चमडा जीवहिंसासे प्राप्त होता है। दूसरे—अपवित्र वस्तु है और तीसरे सम्मूर्च्छन जीव उत्पत्तिका योनिस्थान है। परन्तु अहिंसा महाव्रत धारी साधु जो कि एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंकी हिंसासे भी अलग रहते हैं अपने पदके अनुसार चमडे का उपयोग किसी प्रकार नहीं कर सकते। क्योंकि ऐसा करनेसे उनके असंयम तथा अहिंसा महाव्रतका नाश कराते है।

परन्तु दुःखके साथ लिखना पडता है कि हमारे श्वेताम्बरीय ग्रंथ अपने श्वेताम्बरीय महाव्रतधारी साधुओंके लिये चमडे का उपयोग भी बतलाते हैं। प्रवचनसारोद्धारके १६५ वें पृष्ठ पर अजीवसंयमका वर्णन हुए यों लिखा है—

"इहां पिंडविशुद्धिनी महोटी वृत्तिमांहे 'संयमे णत्ति' एटले संयमनुं वखाण करते अजीवसंयम पुस्तक अप्रत्युत्प्रेक्ष्य, दुःप्रत्युत्प्रेक्ष्य, दूष्य, तृण, चर्म पंच, मद्य हिरण्यादिकनो अग्रहणरूप।"

"इहां शिष्य पूंछे छे एना अग्रहणे संयम? किंवा ग्रहणे संयम

गाय? ॥

" गुरू उत्तर कहे छे के अपवादे तो ग्रहणे पण संयम थाय।
यदुक्तं

दुप्पडिलिहियदूसं अद्धाणाइ विवित्तगिण्हंति ।
घिप्पइ पोच्छइ पणगं कालियनिज्जुत्ति कासट्ठा । १ ।

अर्थ--मार्गादिके विविक्तसागारि जेम गृहस्थ न देखे अने पुस्तक पांच ते कालिकनिर्युक्तिनी रक्षाने अर्थे छे । "

अर्थात्--पिंडविशुद्धिग्रंथकी वृत्तिमें संयमका व्याख्यान करते हुए अजीवसंयम अप्रत्युत्पेक्ष, दुःप्रत्युत्पेक्ष्य, दृष्य, तृण, चमकी ऐसी पांच प्रकार की पुस्तक तथा सोना आदिको अग्रहण रूप कहा है ।

इसपर शिष्य पूछता है कि उपर्युक्त पांच तरहकी पुस्तकोंके ग्रहण करनेसे संयम होता है ? अथवा ग्रहण न करनेसे संयम होता है ?

गुरु उत्तर देते हैं कि अपवाद मार्गमें (किसी विशेष दशामें) तो चर्मादि पांच तरहकी पुस्तक ग्रहण करनेसे भी संयम होता है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है—

" मार्ग आदि ऐसे स्थानपर जहां कि कोई गृहस्थ मनुष्य न देखता हो तो कालिक निर्युक्तिकी रक्षाके लिये वे पांच प्रकारकी पुस्तकें बतलाई हैं । "

सारांश यह है कि यदि कोई गृहस्थ न देखने पावे तो साधु किसी विशेष समय चमडेकी भी पुस्तक अपने पास रख लेवे ।

कैसा हास्यकारक विधान है । महाव्रतधारी साधु चमडेकी और कोई भी वस्तु नहीं किन्तु पुस्तक जिसमें कि जिनवाणी अंकित होगी अपने पास रक्खे और वह भी गृहस्थ की आंखोंसे बचाकर रक्खे । यद्यपि अपवाद दशामें किन्हीं साधारण नियमोंकी कुछ सीमा तोडी जाती है किन्तु ऐसा कार्य नहीं किया जाता जिससे व्रतनाश हो । चमडेकी पुस्तक रखना अहिंसा महाव्रतका नाश करना है तथा साधुपदको मलिन करना है । मृगछाला आदि चमडा रखनेके कारण अन्य अजैन साधुओंकी निन्दा श्वेतांबरीय आचार्य (ग्रंथकार) किस तरह कर सकते हैं ? क्योंकि चमडेका उपयोग उनके यहां भी विद्यमान है ।

इतनाही नहीं किन्तु २६३ वें पृष्ठपर इसी प्रवचन सारोद्धारमें साधुको अपने काममें लानेके लिये पांच प्रकारका चमडा और भी बतलाया है । देखिये,

" अथ एलगावि महिसी मिगाणमजिणंच पंचमं होइ ।
तलिगाखल्लगवद्धे कोसगकित्तीयवायंतु ॥ ६८३ ॥

अर्थ— छालीनो चर्म, गाडरनो चर्म, गायनो चर्म, भेंसनो चर्म, हरिणनो चर्म ए पांचना अजिन के. चामडो थाय छे ।— "

यानी १ बकरीका चमडा, २ मेंडाका चमडा, ३ गायका चमडा ४ भेंसका चमडा, ५ हरिणका चमडा, ये पांचका चमडा होता है ।

" अथवा बीजा आदेशे करी चर्मपंचक प्रयोजन सहित कहे छे । एना जे तलिया ते एक तलियो अने तेना अभावे बेहुतलाना पण लीजे । ते जे वारे रात्रे मार्ग न देखाय अथवा सथवारो मेली जाय ते वारे उजाडे जातां चोर श्वापदादिकना भयथी उतावला जतां कांटादिकथी पोतानो रक्षण करवाने अर्थे पगमां पहेरिये । अथवा कोई कोमल पगवालो होय तो पण लीये बीजो खलग ते खासडा ते पगे व्याइ थाय एटले वायुथी पग फाटी गया होय तो मार्गे जतां तृणादिक दुर्लभ थाय वली अतिसुकुमाल पुरुषने सीयाले दुर्लभ होय तो पहेरवाने अर्थे राखे । त्रीजा-वधेके. वाधरी ते चामडो व त्रुटेला खाशडा प्रमुखने सांधवामणी काम आवे । चोथो-कोसग ए चर्ममय उपकरण विशेष छे ते कोइकना नख अथवा पगने कांइ लागवाथी फाटी जाय तो ते केस आगलें अंगुठे बांधिये अथवा नखप्रमुख राखवाने अर्थे दाबवाने काम आवे । पांचमो कित्तीयलत्ति ते कोइक मार्गमां दावानलना भयथकी आडो करवाने अर्थें धारण कराय छे अथवा पृथ्वी कायादिक सचित्तपणो थाय तेनी यतनाने अर्थे मार्गमां पाथरीने वेसीयें अथवा मार्गमां चोर लोकोये वस्त्र लेइ लीधा होय तो पहेरवामां पण काम आवे । एने कोइक कृति कहे छे ने कोइक नचि कहे छे । एवा ने नाम छे । ए यजिननयोग्य पंचक कह्युं । "

यानी—अथवा पांच तरहका चमडा साधुके लिये दूसरे प्रकार मतलवसहित वतलाते हैं। १—साधु अपने पैरोंमें पहननेके लिए एक तलीका चमडेका जूता या वैसा न मिलनेपर दो तली वाला (चमडेकी दो पट्टीसे जिसका तला बना हो) जूता रक्खे। यह जूता रात के समय ऊजडमें (शहर गांवके बाहर—मैदानमें) चोर, या जंगली जानवरोंके भयसे जल्दी जल्दी जाते हुए कांटे आदिसे बचनेके लिये पैरोंमें पहने। अथवा कोई साधु कोमल पैरोंवाला हो—नंगे पैर न चल फिर सकता हो तो उसके लिये भी यह काम आता है। २—खलग—वायु आदिसे पैर फट गये हों (बिवाई हो गई हो) जिससे कि चलते समय तिनके चुभते हों या बहुत सुकुमार मनुष्य शर्दीके दिनोंमें नंगे पैर न फिर सकता हो तो वह पैरोंमें पहननेके लिये अपने पास रक्खे। ३— वाघरी—यह बाधरी नामक चमडा फटे हुए जूते आदिको जोडनेके लिये काममें आता है।

४-कोसग—यह चमडेकी एक चीज होती है जो कि किसी साधुके नाखून टूट जानेपर या पैर फट जानेपर अंगूठे, उंगलीपर बांधनेके लिये. नाखून आदि रखनेके लिये दबानेके लिये काम आती है।

५ किसी रास्तेमें जंगलमें लगी हुई आगके भयसे बचनेके लिये जो चमडा ओढा जाय, या पृथ्वी कायिक आदि बहुत सचित्त स्थान होय वहां यत्नाचारके लिये उस चमडेको बिछाकर साधु बैठे, या यदि चोर आदिने साधुके कपडे चुरालिये हों, लूट लिये हों तो वह चमडा पहननेके भी काम आवे। इस प्रकार यह पांच प्रकारका चमडा महाव्रतधारी साधुओंको योग्य बतलाया है।

इस प्रकार चमडेका उपयोग करनेके लिये साधुको जब खुली आज्ञा है तो श्वेताम्बरी भाई अजैन साधुओंके पास मृगछाला आदि चमडा देखकर उसपर आक्षेप नहीं कर सकते। दूसरे--वे अपने साधुओंको महाव्रतधारी किसी तरह नहीं कह सकते क्योंकि जीवोंकी योनिस्थान भूत (क्योंकि पानीसे भीगे हुए चमडे में सम्मूर्छन जीव पैदा हो जाते हैं)

चमडेकी उत्पत्ति भी हिंसासे होती है इस कारण तो अहिंसा महाव्रत नष्ट हो जाता है।

प्रवचन सारोद्धारके पूर्वोक्त लेखसे यह बातें भी सिद्ध हो गई कि एक तो कपडा रखना साधुके लिये परिग्रह है और चोरोंसे उसकी रक्षा करनेकी चिन्ता साधुको प्रत्येक समय रहती है। दूसरे–श्वेताम्बर साधुओंको ईर्यासमितिके पालनेकी विशेष परवा नहीं। रातको भी जल्दी जल्दी सपाटेसे अंधेरेमें घूम फिर सकते हैं। तीसरे–कोमल शरीर वाला साधु जूता भी पहन सकता है। चौथे–साधु बिछानेकेलिये भी अपने पास चमडा रख सकता है। पांचवें-साधु चमडा शरीरमें कपडे के समान पहन सकता है। जबकि साधुही चमडे को पहनें बिछावें तो फिर श्रावक ऐसा क्यों न करे?

सारांश– चमडा रखनेसे साधुको निम्नलिखित दोष लगते हैं–

१– चमडा रखनेसे साधुको हिंसाका दोष लगेगा क्योंकि चमडा त्रस जीवकी हिंसासे ही पैदा होता है।

२– चमडा अपने पास रखनेसे साधुको परिग्रहका दोष भी लगता है क्योंकि चमडा संयमका उपकरण नहीं। उसका ग्रहण शरीरको सुख पहुंचानेके लिये उसमें ममत्व भावसे होता है।

३– चमडेका जूता पहननेसे साधुके ईर्या समिति नहीं बन सक्ती।

४–चमडा जीव उत्पन्न होनेका स्थान है उस पर बैठने सोने आदिसे उन सम्मूर्च्छन जीवोंकी हिंसा मुनिको लगेगी।

५–चमडेके उठाने, रखने, सुखाने, मरोडने, तह करने, फाडने, आदिमें असंयम होता है।

६–मुनिको इच्छानुसार चमडा मिल जानेपर हर्ष और वैसा न मिलनेपर शोक होगा।

७–साधुको अपने चमडे या जूतेके चोर आदि द्वारा चोरी हो जानेपर या लूट जानेपर साधुका मन मलिन होगा।

८–हिंसा तथा अपवित्रतासे बचनेके लिये जबकि गृहस्थ मनुष्य भी पहनने, बिछानेके लिये चमडा अपने पास नहीं रखता है तो महाव्रतधारी साधु उसका उपयोग करे यह निन्दनीय एवं पापजनक बात है।

९–जब कि साधुने समस्त परिग्रहका त्याग करदिया है फिर वह चमडे सरीखी गंदी चीज अपने पास कैसे रख सकता है।

इत्यादि अनेक दोष आते हैं। खेद है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंने ऐसा खोटा विधान करके साधुके पवित्र ऊंचे पदको तथा पवित्र जैन धर्मको बदनाम किया है।

—०—

साधु आहारपान कितने बार करे ?

अब हम इस प्रश्नपर प्रकाश डालते हैं कि महाव्रतधारी साधु दिनमें कितनी बार भोजन करे।

दिगम्बर सम्प्रदायके चरणानुयोगी ग्रंथ दिनमें मुनियोंका एक बार आहार पान करनेका आदेश देते हैं क्योंकि मुनियोंके २८ मूल गुणोंमें 'दिनमें एक बार शुद्ध आहार लेना' यह भी एक मूलगुण है। तदनुसार दिगम्बर जैन मुनि ही नहीं किंतु ११ वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक भी दिनमें एक ही बार आहार किया करते हैं। श्वेतांबरीय ग्रंथोंमेंसे प्रवचनसारोद्धारके २९९ वें पृष्ठपर यों लिखा है–

कुक्कुडिअंडयमेत्ता कवला बत्तीस भोयणप्रमाणे।
राएणा सायंतो संगारं करइ स चरित्तं॥ ७४२॥

अर्थात्—कुकडी पक्षी (मुर्गी) के अंडेके बराबर प्रमाणवाले ३२ बत्तीस ग्रास (कौर) मुनिके भोजनका प्रमाण है। साधु यदि इससे अधिक भोजन ले तो दोष और यदि इससे कम भोजन करे तो गुण होता है।

प्रवचनसारोद्धारके इस कथनसे भी दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार ही विधान सिद्ध होता है क्योंकि अधिकसे अधिक ३२ ग्रास आहार ही दिगम्बरीय शास्त्रोंमें बतलाया है। यह कथन इस प्रकार ठीक दीखता हुआ भी इसके विरुद्ध कथन श्वेताम्बर व स्थानकवासी सम्प्रदायके अति माननीय ग्रंथ कल्पसूत्रके (वि. सं. १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणेक मुंबई द्वारा प्रकाशित गुजराती टीकावाला) ९ वें व्याख्यानमें ११२ वें पृष्ठपर लिखा है कि—

" साधुओने हमेशां एक एक वार आहार करवो कल्पे पण आचार्य आदिक तथा वैयावच्छ करनारने बे वार पण आहार लेवो कल्पे। अर्थात एक वार भोजन कर्याथी जो ते वैयावच्छ आदिक न करी शके तो ते बे वार पण आहार करे। केम के तपस्या करतां पण वैयावच्छ उत्कृष्ट छे।"

अर्थात्- साधुओंको सदा एक बार आहार करना योग्य है किन्तु आचार्य आदिक तथा दूसरे किसी रोगी साधुकी वैयावृत्य (सेवा) करने वाले को दो बार भी दिनमें आहार करना योग्य है। यानी एकवार भोजन करनेसे जो वह वैयावृत्य आदिक न कर सके तो वह दो बार आहार करे। क्योंकि तपस्या करने से भी बढकर वैयावृत्य है।

इस कथनमें परस्पर विरोध है सो तो ठीक ही है किन्तु अन्य साधुओंको उनके छोटे अपराधोंको प्रायश्चित्त देनेवाले आचार्य स्वयं दो बार भोजन करें और अन्य मुनियोंको एकही बार भोजन करने दें। यह कैसा आश्चर्य और हास्यजनक बात है।

किसी मुनिकी सेवा करने वाला साधु इस लिये अपने एकवार भोजन करनेके नियमको तोडकर दो बार दिनमें आहार करे कि तप करनेसे वैयावृत्य उत्कृष्ट है। यह भी अच्छे कौतुककी बात है। इस तरह तो साधुओंको तपस्या छोडकर केवल वैयावृत्य में लग जाना चाहिये क्योंकि भोजन भी दो बार कर सकेंगे और फल भी तपस्यासे अधिक मिलेगा।

उसके आगे यों लिखा है-

" वली ज्यां सुधी डाढी मुंछना वालो न आव्या होय अर्थात् बालक एवां साधु साधवीओने बे वार पण आहार करवो कल्पे। तेमां दोष नथी। माटे एवी रीते आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान अने बालक साधुने बे वार पण आहार करवो कल्पे।"

यानी-जब तक डाढी मूछोंके बाल न आये हों अर्थात् बालक साधु साध्वीको दो बार भी आहार करना योग्य है। उसमें दोष नहीं है। अत एव इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय, रोगी साधु और बालक साधु साध्वीको दो बार भी आहार करना योग्य है।

इस कथनमें यह गड़बड़ गुटाला है कि साधु साध्वी कब तक बालक समझे जाकर दो बार भोजन करते हैं। स्त्रियोंको तो डाढ़ी मूंछ निकलती ही नहीं। वे रजस्वला होती हैं सो प्रायः १२ वर्षकी आयुमें ही रजस्वला हो जाती हैं। अब मालूम नहीं कि आर्यिका (साध्वी) कबतक दो बार भोजन करती रहे।

पुरुषोंमें भी बहुतसे ऐसे खूसट पुरुष होते हैं जिनके डाढी मूंछ निकलतीही नहीं है। नेपाली, चीनी, जापानी पुरुषोंके डाढी मूंछ बहुत अवस्था पीछे निकलती है। किसी मनुष्यके जल्दी डाढी मूंछ निकल आती है। इससे यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक समय तक साधु दो बार आहार करे और उसके पीछे एक बार आहार करे।

तथा—जब कि सभीने महाव्रत धारण करके मुनिदीक्षा ली है तब यह भेदभाव क्यों; कि कोई मुनि तो अवस्थाके कारण दो बार आहार करे और कोई एक ही बार भोजन करे।

एवं—मुनि संघमें सबसे अधिक बड़े और ज्ञानधारी होनेके कारण ही क्या आचार्य, उपाध्याय दो बार आहार करें? क्या महाव्रतधारियोंमें भी महत्वशाली पुरुष को अनेक बार आहार करने सरीखी सदोष छूट है?

तदनंतर इसी कल्पसूत्रके ११२ वें पृष्ठमें यह लिखा है—

"वली एकांतरी आ उपवास करनार साधु प्रभातमां गोचरीए जइ, प्राशुक आहार करीने, तथा छाश आदि पीने, पात्रां धोइ साफ करीने जो तेटलाज भोजनथी चलावे तो ठीक, नहीं तर हजु जो क्षुधा होय, तो ते बीजी वार पण भिक्षा लावी आहार करी शके। वली छट्ठनां उपवासी साधुने बे वखत तथा आठमवालाने त्रण वखत पण जवुं कल्पे। अने चार पांच आदिक उपवासवालाने गमे तेटली वार दिवसमां गोचरीए जवुं कल्पे।"

अर्थात्—एकान्तर उपवास (एक उपवास एक पारणा) करने वाला साधु सबेरे (प्रातःकाल) गोचरीके लिये जाकर प्रासुक आहार

करके, छाछ आदिक पीकर, पात्र धो साफ कर; यदि उतने ही भोजनसे काम चल जावे तो ठीक, नहीं तो यदि अभी भूख और हो तो दूसरी वार भी भिक्षा मांग कर वह साधु भोजन कर सकता है। तथा वेला (दो उपवास) करनेवाला साधु दो वार और तेला (३ उपवास) करने वाला तीन चार भिक्षा के लिये जा सकता है। और चार, पांच आदि उपवास करने वाला साधु दिनमें कितनी ही वार भिक्षाके लिये जा सकता है।

श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदायकी मुनिचर्या एक तो वस्त्र, पात्र, बिछोना आदि सामान रखने के कारण वैसे ही सरल थी किन्तु कुछ आहार पानीके विषयमें कष्ट होता सो यहां दूर कर दिया। अगर एकान्तर उपवास करे तो दो वार भोजन करले। यदि वेला करे तो दो वार आहार पाले, तेला करने वाला तीन वार, चौला करने वाला चार वार। सारांश यह कि जितने उपवास करे उतने ही वार पारणाके दिन भोजन कर सकता है। इस हिसावसे यदि किसीने ५ उपवास किये हों तो पारणाके दिन डेढ डेढ घंटे पीछे और जिसने १२ उपवास किये हों वह घंटे घंटे भर पीछे दिन भर खाता पीता रहे। एक साथ तीस तीस उपवास भी वहुतसे साधु या श्रावक भाद्रपद में किया करते हैं तो वे कल्पसूत्रके पूर्वोक्त लिखे अनुसार दिनमें ३० वार यानी दो दो घंटेमें पांच पांच वार बराबर खाते पीते चले जावें। सारांश यह कि उनका मुख चलना उस दिन बंद न रहे तो कुछ अयोग्य नहीं।

अतः यदि इस प्रकार देखा जाय तो एक प्रकारसे मुनि तथा गृहस्थ के भोजन करनेमें विशेष कुछ अंतर नहीं रहा। गृहस्थ यदि प्रतिदिन दो वार भोजन करता है तो श्वेताम्बरीय मुनि किसी दिन एक वार, किसी दिन दो वार, कभी तीन वार और कभी एक वार भी नहीं इत्यादि अनियत रूपसे भोजन कर सकते हैं।

इस विषयमें विशेष कुछ न लिखकर हम अपने श्वेताम्बर भाइयोंके ऊपर इसको छोडते हैं। वे स्वयं इस शांतिसे विचार करें कि यह बात कहांतक उचित है।

इस विषयमें निम्नलिखित दोष दीख पडते हैं—

१– महाव्रतधारी साधु दिनमें कितनी बार भोजन न करें यह नियम नहीं मालूम हो सकता। गडबड गुटालेमें बात रह गई।

२–दिनमें दो तीन आदि अनेक बार आहार करने से साधु गृहस्थ पुरुषोंके समान ठहरे। अनशन, ऊनोदर तप उनके बिलकुल न ठहरे।

३–अनेक बार आहार करनेसे किये हुए उपवासोंका करना कुछ सफल नहीं मालूम पडा क्योंकि उपवास करनेसे भोजन लालसा घटनेके बजाय अधिक हो गई।

४–आचार्य, उपाध्याय सरीखे उच्च पदस्थ मुनि स्वयं दो बार आहार करें और अन्य साधुओंको दो बार आहार करनेमें दोष बतलावें यह स्पष्ट अन्याय है क्योंकि अधिक निर्दोष तप करनेवाला मुनि ही महान हो सकता है और वह ही दूसरोंको प्रायश्चित्त दे सकता है।

५–बालक साधु साध्वी किस आयुतक समझे जांय, और वे कितनी आयुतक दो बार तथा कितनी आयुके बाद वे दिनमें एक बार भोजन करना प्रारंभ करें इसका भी कुछ निर्णय नहीं हो सकता जिससे कि उनकी उचित अनुचित चर्याका निर्धारण हो सके। इत्यादि।

साधु क्या कभी मांस भक्षण भी करे?

अब हम यहां एक ऐसे विषयको सामने रखते हैं जिसके कारण जैनमुनि ही नहीं किन्तु एक साधारण जैन गृहस्थ भी पापी या अभक्ष्य भक्षक कहा जा सकता है। वह विषय है "क्या साधु मांस भक्षण कर सकते है?" इस विषयको प्रकाशमें लाते यद्यपि संकोच होता है क्योंकि मांस भक्षण एक जैनधर्मधारी साधारण गृहस्थ मनुष्यके लिये भी अयोग्य बात है। विना मांसत्यागके जैनधर्म धारण नहीं किया जाता है। फिर यह तो एक जैनसाधुके विषयमें मांसभक्षण के विचार करनेकी बात है। किन्तु अनुचित बातका विधान देख कर रहा भी नहीं जाता है।

दिगम्बर जैन सम्प्रदायके तो किसी भी ग्रंथमें मुनिको ही क्या किन्तु साधारण गृहस्थको भी मांस भक्षणका विधान नहीं है क्योंकि उसे अभक्ष्य बतला कर प्रत्येक मनुष्यको त्याग करनेके लिये उपदेश दिया है।

किन्तु हमको खेद और हार्दिक दुःख होता है कि हमारे श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी भाइयोंके मान्य, परममान्य ग्रंथोंमें वह बात नहीं है। उनमें मनुस्मृति आदि ग्रंथोंके समान कहीं तो मांसभक्षणमें बहुतसे दूषण बतलाये हैं किन्तु कहीं किन्हीं ग्रंथोंमें उसी मांस-भक्षणका पोषण किया है और वह भी अविरती या व्रती श्रावकके लिये नहीं किन्तु महाव्रतधारी साधुओंके लिये किया है। यद्यपि इस अभक्ष्य भक्षण विधानका आचरण किसी एक आध भ्रष्ट साधुने भले ही किया होगा, अन्य किसीने भी न तो इसको अच्छा समझा होगा और न ऐसा आचरण ही किया होगा। किन्तु फिर भी आज्ञाप्रधानी स्वल्पज्ञानी कोई साधु इन ग्रंथोंकी आज्ञानुसार मांस भक्षण कर सकता है। इस कारण इस विषय का प्रकाशमें आना आवश्यक है।

प्रथमहि-कल्पसूत्र संस्कृत टीका पृष्ठ १७७ में यों लिखा है—

"यद्यपि मधुमद्यमांसवर्जनं यावज्जीवं अस्त्येव तथापि अत्यन्तापवाद-दशायां बाह्यपरिभोगाद्यर्थं कदाचिद् ग्रहणेपि चतुर्मास्यां सर्वथा निषेधः"

इसका गुजराती टीकावाले कल्पसूत्र (विक्रम सं. १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणेक बंबई द्वारा प्रकाशित—गुजराती भाषान्तर कर्ता श्रीविनय विजयजी) के ९ वें व्याख्यानके १११ वे पृष्ठपर २४—२५—२६ वीं पंक्तिमें लिखा है—

"वली मद्य, मांस अने माखण जो के साधुओने जावोजीव वर्जनीय छे, तो पण अत्यंत अपवादनी दशामां, शरीरनां बहारनां उपयोग माटे कोइ पण वखते ते ग्रहण करवानो चौमासामां तो निषेधज छे।"

यानी—मधु, (शहद) मांस और मक्खन जो कि साधुओंको आजन्म त्याग करने योग्य हैं फिर भी अत्यंत अपवादकी दशामें शरीरके

बाहरी उपयोगके लिये किसी समय ग्रहण करने हों तो चौमासेमें तो उनका सर्वथा निषेध है।

यहां मांसके साथ साथ मधु और मक्खन का उपयोग भी अपने शरीरके लिये किसी बहुत भारी विशेष अवस्थामें बतलाया है किन्तु समय चौमासेका नहीं होना चाहिये।

टीकाकारने महाहिंसाके आक्षेपसे बचनेके अभिप्रायसे शरीरके बाहरी उपयोगके लिये मांस सेवन बतलाया सो कुछ समझमें नहीं आया क्योंकि मांस कोई तेल नहीं जिसकी चमडेपर मालिश हो और न वह मल्हमका ही काम देता है।

आचारांगसूत्र (वि. सं. १९६२ में मोरवी काठियावाड से मूल सहित गुजराती भाषान्तरके साथ भाषाकार प्रोफेसर रवजीभाई देवराजद्वारा प्रकाशित) १० वें अध्यायके चौथे उद्देशके ५६५ वें सूत्रमें १७५ पृष्ठपर यों लिखा है—

"संति तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा, गाहावती वा, गाहावतीणो वा, गाहावतिपुत्ता वा, गाहावतिधूयाओ वा, गाहावतिसुण्हाओ वा, धाईओ वा, दासी वा, दासीओ वा, कम्मकरा वा, कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छसंथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपविसिस्सामि, अविय इत्थ लभिस्सामि, पिंडं वा, लोयं वा, खीरं वा, दधिं वा, नवणीयं वा, घयं वा, गुलं वा, तेल्लं वा, महुं वा, मज्जं वा, मांसं वा, संकुलिं वा, फाणियं वा, पूयं वा, सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव भच्चा पेच्चा, पडिगाहं संलिहिय सपमज्जिय, तत्तो पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावतिकुलं पिंडवाय पडियाए पविसिस्सामि निक्खमिस्सामि वा। माइट्ठाणं फासे। णो एवं करेज्जा। से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण, अणुपविसित्ता तत्थियरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा"

इसकी गुजराती टीका यों लिखी है—

"कोइ गाममां मुनिना पूर्वपरिचित तथा पश्चात्परिचित सगावाला

रहेता होय; जेवाके गृहस्थो, गृहस्थ बानुओ, गृहस्थ पुत्रो, गृहस्थ पुत्रीओ, गृहस्थ पुत्रवधुओ, दाइओ, दास, दासीओ, अने चाकरोके चाकरडीओ, तेवा गाममां जतां जो ते मुनि एवो विचार करे के हुं एकवार बधाथी पहेला मारा सगाओमां भिक्षार्थे जइश, अने त्यां मने अन्न, पान, दूध, दहिं, माखण, घी, गोल, तेल, मधु, मद्य, मांस तिलपापडी, गोलवालुं पाणी, बुंदी के श्रीखंड मलशे ते हुं सर्वथी पहेलां खाइ पात्रो साफ करी पछी बीजा मुनिओ साथे गृहस्थना घरे भिक्षा लेवा जइश, तो ते मुनि दोषपात्र थाय छे माटे मुनिए एम नहिं करवुं, किंतु बीजा मुनिओ साथे वखतसर जुदा जुदा कुलोमां भिक्षा निमित्ते जइ करी भागमां मलेलो निर्दूषण आहार लइ वापरवो। "

अर्थात्–किसी गांवमें किसी मुनिका अपने [पितापक्षका] तथा अपनी ससुरालके (अपनी पत्नीके पक्षवाले) गृहस्थ पुरुष, गृहस्थ स्त्री, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू, धाय, नौकर, नौकरानी, सेवक, सेविका रहतें होंय उस गांवमें जाते हुए वह मुनि ऐसा विचार करे कि मैं एक बार और सब साधुओंसे पहले अपने सगे संबधिओंमें (रिश्तेदारोंमें) भिक्षाके लिये जाऊंगा, और मुझे वहां अन्न, पान, दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, तेल, मधु. (शहद) मद्य, (शराब) मांस, तिलपापडी, गुडका पानी (गन्नेका रस, शर्वत या सीरा) बूंदी या श्रीखंड मिलेगा उसे मैं सबसे पहले खाकर अपने पात्र साफ करके पीछे फिर दूसरे मुनियोंके साथ गृहस्थके घर भिक्षा लेने जाऊंगा, (यदि वह मुनि ऐसा करे) तो वह मुनि दोषी होता है। (क्योंकि एक तो अन्य मुनियोंसे छिपाकर भिक्षाके लिये पहले गया और दूसरे दो वार भिक्षा भोजन किया) इसलिये मुनियोंको ऐसा नहीं करना चाहिये। किन्तु और मुनियोंके साथ समयपर अलग अलग कुलोंमें भिक्षाके लिये जाकर मिला हुआ निर्दूषण आहार लेकर खाना चाहिये।

'निर्दूषण' विशेषण मूल सूत्रमें नहीं है यह विशेषण गुजराती टीकाकारने अपने पाससे रक्खा है। तथा टीकाकारने सूत्रमें कहीं मधु-मांस, मदिरा, मक्खन आदि अभक्ष्य, निंद्य पदार्थोंके खानेका निषेध

भी नहीं किया है। इसके सिवाय आचारांग सूत्रके इसी १७५ वें पृष्ठ के सबसे नीचे मद्य मांस शब्दकी टिप्पणीमें यह लिखा है कि—

" वखतें कोई अतिप्रमादि गृद्ध होवाथी मद्यमांस पण खावा चाहे माटे ते लीधा छे एम टीकाकार लखे छे "

यानी—किसी समय कोई साधु अति प्रमादी और लोलुपी होकर मद्य (शराब) मांस भी खाना चाहे उसके लिये यह उल्लेख है ऐसा संस्कृत टीकाकार शीलाचार्यने लिखा है।

सारांश यह है कि किसी मुनिका मन कभी बहुत शिथिल हो जावे और वह मद्य मांसको खाए बिना न रहना चाहे उस लोलुपी, प्रमादी मुनिके लिये सूत्रकारने ऐसा लिखा है। अर्थात्—अति प्रमादी और लोलुपी मुनि मद्य मांस मुनि अवस्थामें रहता हुआ भी खा सकता है। यह मूल सूत्रकार और संस्कृत टीकाकारको मान्य है क्योंकि उन्होंने यहां ऐसा कोई स्पष्ट निषेध नहीं किया कि वह मद्य, मांस भक्षण कर मुनि न रहसकेगा। परंतु अहिंसाप्रधान जैनधर्मके गुरु मद्य मांस खा जावें। कितने अंधेर, अन्यायकी बात है।

इसी आचारांग सूत्रके इसी १० वें अध्यायके ९ वें उद्देशके ६१९ वें सूत्रमें २०१ पृष्ठपर यह लिखा है—

" से भिक्खूवा जाव समाणे सेज्जं पुव्वं जाणेज्जा मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पइए तेल्लपूययं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाएणो खद्धं खद्धंणो उवसंकमित्तु ओभासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए। ६१८ "

इसकी गुजराती टीका यह है—

" मुनिए मांस के मत्स्य भुंजाता जोइ अथवा परोणाना माटे पूरीओ तेलमां तलाती जोइ तेना सारु गृहस्थ पासे उतावला दोडी ते चीजो मांगवी नहीं। अगर मांदगी भोगवनार मुनिना सारु खपती होय तो जुदी वात छे। "

अर्थात्—मुनि किसी मनुष्यको मांस या मछली खाता हुआ देखकर या (आगंतुक) मेहमानके लिये तेलमें तलती हुई पूड़ियां देख कर उनको लेनेके लिये जल्दी जल्दी दौडकर उन चीजों को मांगे

नहीं। यदि किसी रोगी मुनिके लिये उन चीजों की आवश्यकता हो तो दूसरी बात है।

यानी—मुनि मछली और मांस रोगी मुनिके लिये ले सकता है। इससे इतना तो सिद्ध अपने आप हो जाता है कि रोगी मुनिकी चिकित्सा (इलाज) मांसके द्वारा हो सकती है। मांस मछली से चिकित्साका अर्थ यह ही है कि वह उस रोगी मुनिको खिलाया जावे क्योंकि मांस मछली खानेके ही काममें आते हैं। यदि कोई लोलुपी साधु मांस मछली खाना चाहे तो रोगी बनकर चिकित्साके रूपमें मांस मछलीसे अपनी इच्छा तथा बीमारी मिटा सकता है।

तथा—साधुकी वैयावृत्य करनेके लिये वैयावृत्य करने वाला साधु मांस और मछली भी गृहस्थके यहां से मांगकर ला सकता है। ऐसा ग्रन्थकारका तथा टीकाकारका मत है। यह बात साधुओंके लिये है जो ।-एकेन्द्रिय तकके जीवोंकी रक्षा करनेवाले होते नुचित अभक्ष्य भक्षण की बात और कौनसी । समझें। कुछ और देखना चाहते हैं तो और

साधुक चारित्रका ही प्ररूपण करने वाले इसी आचारांग सूत्रके १० वें अध्यायके १० वें उद्देशके २०६ वें तथा २०७ वें पृष्ठपर ६२८ तथा ६३० का अवलोकन कीजिये—

" से भिक्खू वा से ज्जं पुण जाणेज्जा, बहुअट्ठियं मंसंवा, मच्छंवा, बहुकंटगं, अस्सि खलु पडिगाहितंसि अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए—तहप्पगारं बहुअट्ठियं मंसं मच्छंवा बहुकंटगं लाभे संते जावणोपडिजाणेज्जा ॥ ६२ ॥ "

अर्थात्—बहुत अस्थियो (हड्डियों) वाला मांस तथा बहुत कांटे वाली मछली को जिनके कि लेनेमें (हड्डियां, कांटे आदि) बहुत चीज छोडनी पडे और थोडी चीज (मांस) खानेके लिये बने तो मुनिको वह नहीं लेना चाहिये।

यानी मुनी ऐसा मांस खाने के लिये नहीं लेवे जिसमें फेंकने

योग्य हड्डियां बहुत हों और खाने योग्य मांस थोडाही हो तथा ऐसी मछली भी नहीं ले जिसके शरीरपर फेंक देने योग्य कांटे तो बहुत हों और मांस थोडा हो। सारांश यह कि जिस मांस वा मछली में खाने योग्य चीज बहुत हों उसको साधु खानेके लिये ले लेवे और जिसमें खानेके लिये चीज थोडी ही निकले उसको न लेवे।

आगेका सूत्र भी देखिये—

"से भिक्खू मा जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण, मच्छेण उवणिमंतेज्जा " आउसंतो समणा, अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहत्तए ? " एयप्पगार णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा, " आउसोत्ति वा बहिणित्ति वा णो खलु मे कप्पइ से बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं, जावइयं ताव-इयं पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं " से सेवं वदंतस्स परो ओभहटु अंतो पडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा; तह-प्पगारं पडिग्गहगं परिहत्थंसि वा परमायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया, तं णो "ही" त्ति वएज्जा। णो ' अणहि ' त्ति वइज्जा। से त मायाए एगंत—मवक्कमेज्जा, अहे आरामं सिवा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडए जाव अप्पसंताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहायसे त मायाए एगंतमवक्क-मेज्जा। अहे ज्झामथंडिलंसि वा जाव पमज्जिय परिट्ठवेज्जा ॥६३०॥

अर्थात्—कदाचित मुनिको कोई मनुष्य निमंत्रण करके कहे कि हे आयुष्मन् मुने! तुम बहुत हड्डियों वाला मांस चाहते हो ? तो मुनि यह वाक्य सुनकर उसको उत्तर दे कि " हे आयुष्मन्! या हे बहिन! मुझे बहुत हड्डियोंवाला मांस नहीं चाहिये यदि तुम वह मांस देना चाहते हो तो जो भीतरका खाने योग्य चीज है वह दे दो हड्डियां मत दो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि बहुत हड्डियोंवाला मांस दे-नेके लिये ले आवे तो मुनि उसको उसके हाथ या बर्तनमें ही रहने दे। लेवे नहीं।

यदि कदाचित् वह गृहस्थ उस बहुत हड्डिवाले मांसको मुनिके पात्रमें झट डाल देवे तो मुनि गृहस्थको कुछ न कहे किन्तु ले जाकर एकान्त स्थानमें पहुंच जीवजंतुरहित बाग या उपाश्रयके भीतर बैठ कर उस मांस या मछलीको खालेवे और उस मांस, मछलीके कांटे तथा हड्डियोंको निर्जीव स्थानमें रजोहरणसे (पीछी या ओघासे) साफ करके रख आवे।

इससे बढकर मांस भक्षणका विधान और क्या चाहिये ? अहिंसा-धर्मकी हद होगई। सूत्रके मांस, मत्स्य शब्दका खुलासा करनेके लिये इसी २०६ वें पृष्ठके सबसे नीचे टिप्पणीमें यों लिखा है---

" टीकाकार बाह्य परिभोगादि माटे अनिवार्य कारणयोगे मूलपाठना शब्दोंनो अर्थ मत्स्य, मांस अपवाद मार्गे करे छे। "

यानी-संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य " बहुअट्ठिएण मंसेण मच्छेण " सूत्रकार के इन शब्दोंका अर्थ मत्स्य, मांस अनिवार कारण मिलनेपर अपवाद मार्ग में करता है।

महाव्रतधारी साधुके लिये मांस भक्षणका ऐसा स्पष्ट विधान होनेपर हमारे श्वेतांबरी भाई अपने आपको या अपने गुरुओंको अहिंसाधर्मधारी या मांसत्यागी किस प्रकार कह सकते हैं और किस तरह दूसरे मनुष्योंको मांस त्याग करनेका उपदेश दे सकते हैं ?

दशवैकालिक सूत्र में ऐसा लिखा है-

बहुअट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं।
अच्छियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडचसिंबलिं॥
अप्पे सिया भो अणिजाए बहुउज्झियधम्मियं।
दितिअं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥

अर्थात्-बहुत हड्डियोंवाला मांस, बहुत कांटे वाला मांसा तेंदुक, गन्ना (ईख) बेल, शाल्मलि, ऐसे पदार्थ जिनमें खानेका अंश थोडा और छोडनेका अधिक तो उन्हे " मुझे नहीं चाहिये " ऐसा कहकर साधु न ले।

यह जानकर औरभी अधिक दुख होता है कि श्वेतांबर तथा

स्थानकवासी संप्रदायमें आज तक सैकडों अच्छे विद्वान साधु हुए हैं किन्तु उनमें से किसीने भी इन वाक्योंका न तो परिशोध किया न बहिष्कार ही किया और न ऐसे ग्रंथोंको अप्रामाणिक ही बतलाया। पवित्र जैन ग्रंथसमुदायसे कलंक मिटानेके लिये यह भी नहीं लिखा कि शायद ऐसे सूत्र किसी मांसभक्षीने मिला दिये हैं

मुनि आत्मारामजीने मांसविधान आदि को लेकर वेदोंकी निंदा तो बहुत की है और मांसभक्षणमें अगणित दोष बतलाये हैं किंतु उन्होंने अपने इन मांस विधायक ग्रंथोंकी निंदा जरा भी नहीं की है। कहनेको वे इन्हें अनेक बार देख गये होंगे।

संभव है ऐसे ही कारणोंसे सूत्र ग्रंथोंको देखने पढनेका गृहस्थोंको श्वेतांबरीय आचार्योंने अधिकार नहीं दिया हो।

यद्यपि हमारी समझसे श्वेतांबरीय तथा स्थानकवासी साधु आचारांगसूत्रके लिखे अनुसार मांस, मधु आदि अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण नहीं करते हैं। किंतु यदि कोई साधु मांस खा लेवे तो आचारांगसूत्रके लिखे अनुसार वह अपराधी नहीं होगा।

तथा—एक कौतूहलकी बात यह है कि बेचारे व्रती ही नहीं किंतु अव्रती भी गृहस्थ श्रावक तो मांस भक्षण न करें क्योंकि गुरूजी महाराजने निषेध कर रक्खा है और महाव्रती गुरू महाराज आप खा जावें। क्या यहां यह कहावत चरितार्थ नहीं होती कि 'समरथ को नहीं दोष गुसाइं"

आश्चर्य इस बातका भी है कि प्रतिवर्ष कल्पसूत्रको आरंभसे अंततक सुननेवाले श्रावकोंने भी ऐसे मांसभक्षण विधानको कभी नहीं पकडा। इसका कारण ऐसा भी सुना है कि श्रावकोंकी सूत्र ग्रंथ सुननेकी आज्ञा है शंका करनेकी उनको आज्ञा नहीं है क्योंकि साधु जी कह देते हैं शास्त्रोंमें जो शंका करे वह अनंतसंसारी है।

कुछ भी हो श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें इस प्रकार मांसविधान होनेके कारण जैनधर्म पर नहीं तो श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायके मस्तक पर अवश्य ही कलंकका टीका लगता है। इसका प्रतिशोध हो जाना आवश्यक है।

—०—

क्या साधु मधु तथा मद्य सेवन करे ?

अब यह विषय सामने आता है कि क्या जैन साधु मधु, (शहद) और मद्य (शराब) खा पी सकते हैं ? इस विषयमें दिगम्बरीय जैन शास्त्र तो स्पष्ट तौरसे गृहस्थ तथा मुनिको मधु और मद्यके खान पानका निषेध करते हैं। इन दोनों पदार्थोंको मांस के समान अभक्ष्य बतलाया है। जघन्य श्रावकके आठ मूलगुणोंमें मद्य, मांस, मधु इन तीनों अभक्ष्य पदार्थोंका त्याग बतलाया है। जो अभक्ष्य श्रावक के लिये त्याज्य है वह दिगम्बर जैन मुनिके लिये भी त्याज्य है। प्राणरक्षणके लिये भी वह इन अभक्ष्योंका भक्षण नहीं करेगा क्योंकि विनश्वर प्राणोंसे बढकर धर्मसाधन बतलाया है।

किंतु यह बात श्वेतांबरीय जैन ग्रंथोंमें नहीं पाई जाती है। वहांपर इस विषयमें भारी गडबड है। इधर तो गृहस्थी श्रावकके लिये २२ अभक्ष्य वस्तु बतला मद्य मांस, मधुको उनमेंसे महाविगय कहते हुए सर्वथा त्याग देनेका उपदेश लिखा है किंतु उधर महाव्रतधारी साधुओंके लिये उनकी छूट कर दी है।

हमने मधु और मद्य भक्षणके कुछ श्वेतांबरी शास्त्रोंके प्रमाण "क्या साधु मांस भक्षण करते हैं।" नामक प्रकरणमें दिखलाये हैं। जैसे कि आचारांगसूत्रके (इस ग्रंथमें सब पच्चीस अध्याय और एक हजार ब्यानवें १०९२ सूत्र हैं, पृष्ठ ४०३ हैं) दशवें अध्यायके चौथे उद्देशवाले ५६५ वें सूत्रमें १७५ पृष्ठपर मधु, मद्य, मांसका लेना साधुको लिखा है।

२—कल्पसूत्रके नवमे अध्यायके १११ वें पृष्ठपर मधुसेवन चौमासे के दिनोंमें निषेध किया है। इसका सारांश यह ही होता है कि अपवाद दशामें साधु चौमासेके सिवाय अन्य दिनोंमें मधु यानी शहद खा सकता है।

इसके सिवाय आचारांग सूत्रके दशवें अध्याय के ८ वें उद्देशमें १९५ वें पृष्ठपर यह लिखा है कि—

" से भिक्खू वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमडागं वा, मड्डुं वा, मज्जं वा, सप्पिं वा, खोलं वा। पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूता एत्थ पाणा संवुड्ढा, एत्थ पाणा जाया, एत्थ पाणा अवुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणता, एत्थ पाणा अविद्धत्था णो पडिगाहेज्जा॥ ६०७॥ "

इसकी गुजराती टीका इसी पृष्ठपर यों लिखी है—

" मुनिए गोचरीए जतां अर्धी रंधाएल शाकभाजी न लेवी तथा सडेलुं खोल न लेवुं, तथा जूनुं मध, जूनी मदिरा, जूनुं घृत, जूनी मदिरानी नीचे बेशतो कचरो ए पण न लेवां, एटले के जे चीज जूनी थतां तेमां जीव जंतु उपजेला अने हजु हयातीमां वर्तनारा जणाय ते चीज न लेवी। "

यानी–मुनि गोचरी को जाते हुए आधी पकी शाक भाजी न ले; और पुराना मधु यानी शहद तथा पुरानी मदिरा यानी शराब, पुराना घी, पुरानी शराबके नीचे बैठा हुआ मसाला ये पदार्थ भी न लेवे क्योंकि ये पदार्थ जब पुराने हो जाते तब उनमें छोटे छोटे जीव जंतु उत्पन्न हो जाते हैं। और जो वस्तु इसी समय जीव जंतुवाली मालूम हो जावे तो उसको भी न लेवे।

सारांश यह है कि पूर्ण पकी हुई शाक भाजी, बिना सडा खोल तथा नवा मधु, नयी शराब, नया घी ये पदार्थ सूत्रकारके लिखे अनुसार साधु लेलेवे; क्योंकि उसमें जीवजन्तु नहीं होते हैं।

किसी पदार्थके एक अंशका निषेध करना उस के दूसरे संभवित अंशका विधान ठहराता है। यह अर्थापत्ति न्याय है। जैसे " साधु पुराना घी नहीं खावे " इस वाक्यका अर्थापत्तिसे मतलब यही निकलता है कि " साधु ताजा घी खाते हैं। " इसी प्रकार " साधु पुरानी मदिरा और पुराना मधु खाने के लिये न लेवे " इस वाक्यका भी अर्थापत्तिसे यह ही अर्थ निकलता है कि " साधु नयी मदिरा और नया मधु खानेके लिये ले लेवे। " इसलिये आचारांगके इस ६०७ वें सूत्रसे पुराने घीके समान पुरानी

मदिरा, मधुके लेनेके निषेधसे नये घीके समान नयी मदिरा, नये मधुके लेनेका विधान सिद्ध होता है।

सूत्रमें घीके साथ साथ मधु और मद्यका उल्लेख है इस कारण घीके समान ही मधु, मदिराका विधान और निषेध होगा। तदनुसार पुराने घी, मधु, मद्य के निषेध से नये घी, मधु, मद्यका विधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि घी भक्ष्य है। पुराना हो जाने से उसमें जीव जंतु उत्पन्न हो जानेसे वह न लेने योग्य हो जाता है। ऐसा ही उन दोनों के लिये ग्रंथकारके लिखे अनुसार समझना चाहिये।

इस प्रकार साधु-आचारके प्ररूपण करनेवाले श्वेतांबरीय ग्रंथोंमें दबे छुपे शब्दोंमें इस प्रकार अभक्ष्य भक्षणका विधान देखकर हृदयमें बहुत दुख होता है। यह जानकर आश्चर्य और भी अधिक बढ जाता है कि ग्रंथोंके आधुनिक गुजराती टीकाकार महाशयोंने भी ऐसे सूत्रों पर, अभक्ष्यभक्षण विधानोंपर कुछ ध्यान नहीं दिया है।

कहां तो साधु आत्मारामजी अपने जैनतत्त्वादर्श ग्रंथमें मदिरापानमें ५१ दोष लिख कर उसका निषेध करते हैं और कहां ये प्राचीन ग्रंथ इस प्रकार खोटा विधान करते हैं। इन ग्रंथोंमें इस प्रकार टेढे सीधे अभक्ष्य भक्षणका विधान रहनेपर अन्य मनुष्योंको इनके त्याग करनेका उपदेश कैसे दिया जा सकता है?

इस विषयपर भी अधिक कुछ न लिखकर अपने श्वेताम्बरी भाइयोंको धैर्यपूर्वक विचार करनेकेलिये इस प्रकरणको हम यहीं समाप्त करते हैं।

आगम समीक्षा.

श्वेताम्बरीय आगम मान्य क्यों नहीं?

धार्मिक मार्गके उद्घाटन करने वाले महात्माके बतलाये गये धार्मिक नियम जिन ग्रंथोंमें पाये जाते हैं वे ग्रंथ **आगम** कहे जाते हैं। जैन आगम वे ही कहे जाते हैं जो सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशकता रूप तीन गुणोंसे विभूषित श्री अर्हंत भगवान्के उपदेशके

अनुसार ग्रंथ रचे गये हों, जिनमें पूर्वापर विरोध न हो, जो युक्तियोंसे खंडित न हो सकें, सत्य हितकर बातोंका उपदेश जिनमें भरा हुआ हो। आगमका यह लक्षण श्वेतांबरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं।

अब हम इस बातको विचार कोटिमें उपस्थित करते हैं कि आगमके उपर्युक्त लक्षणपर श्वेतांबरीय ग्रंथ तुलते हैं या नहीं ? इस विचारको चलानेके पहले इतना लिख देना और आवश्यक समझते हैं कि अधिकतर श्वेतांबरी सज्जनोंकी यह धारणा है जिसको कि अपने भोलेपनसे गर्वके साथ वे कह भी देते हैं कि " इस समय जो आचारांग, समवायांग, स्थानांग आदि आदि श्वेताम्बरीय सूत्र ग्रंथ उपलब्ध हैं ये वे ही ग्रंथ हैं जो कि भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिके अनुसार श्री गौतम गणधरने द्वादशांगरूप रचे थे। भगवानकी अर्द्धमागधी भाषा ही इन ग्रंथों की भाषा है। " इत्यादि।

श्वेताम्बरी भाइयोंकी ऐसी समझ गलत है क्योंकि एक तो श्री गौतम गणधरने शास्त्र न तो अपने हाथसे लिखे थे और न किसीसे लिखवाये ही थे। उस समय जैनसाधु द्वादशांगको कण्ठस्थ स्मरण रखते थे। बुद्धि प्रबल होनेके कारण पढने पढानेके लिये ग्रंथ लिखने लिखानेका आश्रय नहीं लिया जाता था। गुरूजी मौखिक पढाते थे और शिष्य अपने क्षयोपशम [बुद्धि] के अनुसार उसको मौखिक याद कर लेते थे। जब महावीर स्वामीके मुक्तिसमयको लगभग पौने पांचसौ वर्ष समाप्त हो गये उस समय मनुष्योंके शारीरिक बल के साथ साथ मानसिक बल भी इतना निर्बल हो गया कि मौखिक पढकर अभ्यास कर लेना कठिन हो गया। पहले जो साधु द्वादशाङ्गको धारण कर लेते थे, उस समय पूर्ण अङ्गकी बात तो अलग रही किन्तु पूर्ण पदको धारण कर लेना भी मनुष्योंको असंभव सरीखा हो गया। इस कारण उस समय अङ्गज्ञान किसी भी साधुको स्मरण नहीं रहा। यह देखकर आचार्योंने कलिकालकी विकराल प्रगतिको देखकर भगवान महावीर स्वामी के प्रदान किए हुए, बुद्धि अनुसार थोडेसे बचे हुए

तत्वज्ञानको सुरक्षित रखनेके लिए जेठ सुदी पंचमी के दिन उस ज्ञानको लिखकर शास्त्रोंके रूपमें निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। तदनुसार उस दिनसे जैन ग्रंथोंकी रचना आरम्भ हुई। उससे पहले न तो कोई जैनशास्त्र लिखा गया था और न लिखनेकी पद्धति तथा आवश्यकता थी। इस कारण आचारांग आदि ग्रंथोंको गौतमगणधर निर्मित कहना गलत है।

दूसरे—ये श्वेतांबरीय ग्रंथ इस कारण भी गणधरप्रणीत द्वादशांगरूप नहीं कहे जा सकते हैं कि ये बहुत छोटे हैं। कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं जो कि कमसे कम एक पदके बराबर भी हो। क्योंकि सिद्धांत ग्रंथोंमें एक मध्यम पदके अक्षरोंकी संख्या सोलह अरब, चौंतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठसौ अठासी (१६३४८३०७८८८ अक्षर) बतलायी गई है. जिसके कि अनुष्टुप् छन्द (श्लोक) इक्यावन करोड आठ लाख चौरासी हजार छहसौ इक्कीस (५१०८८४६२१) होते हैं। यह सिद्धान्त श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रंथोंको भी स्वीकार है। तदनुसार यदि देखा जावे तो कोई भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ इतना विशाल उपलब्ध नहीं है, न किसी श्वेताम्बरीय विद्वानने ही कोई ऐसा विशाल ग्रंथ बनाया है जिसकी कि श्लोक संख्या इक्यावन करोड तो अलग रही, पांच करोड या पांच लाख भी हो। ये आचारांग, स्थानांग आदि शास्त्र ५१ हजार श्लोकोंके बराबर भी नहीं हैं। फिर भला ये असली आचारांग स्थानांग आदि कैसे हो सकते हैं?

श्वेताम्बरीय सज्जन शायद यह भूल गये हैं कि उपर्युक्त ५१ करोड श्लोक प्रमाणवाले आचारांगमें मध्यमपद अठारह हजार हैं। स्थानांगमें बियालीस हजार मध्यमपद होते हैं और समवायाङ्गमें एक लाख चौंसठ हजार पद होते हैं। तथा उपासकाध्ययनांगमें ग्यारह लाख सत्तर पद होते हैं। क्या कोई भी श्वेताम्बरीय भाई अपने उपलब्ध आचारांग, स्थानांग, समवायांग, उपासकाध्ययनांग आदि ग्रंथोंका प्रमाण इतना बतला सकता है? यदि नहीं तो इनको गणधरप्रणीत द्रव्य श्रुतज्ञान

के मूल अंगरूप असली शास्त्र मानना तथा कहना कितनी मोटी हास्य-जनक भूल है। क्या कोई मनुष्य ' महेन्द्र ' नाम से ही ' महेन्द्र ' (चतुर्थ स्वर्ग का इन्द्र) हो सकता है ?

तीसरे—इन ग्रंथोंकी भाषाको अर्द्धमागधी भाषा कहना भी अयुक्त है क्योंकि भगवानके शरीरसे प्रगट होनेवाली निरक्षरी [जिसको लिख न सकें) दिव्य ध्वनिको मगध देव समवसरणमें उपस्थित समस्त जीवोंकी भाषामें परिवर्तन कर देते हैं उसको अर्द्धमागधी भाषा कहते हैं। इस कारण सभी तीर्थंकरोंकी भाषा का नाम अर्द्धमागधी भाषा होता है। इन आचारांग सूत्र आदि ग्रंथोंकी भाषा पुरानी अशुद्ध प्राकृत है। अतएव इसको मनुष्यके सिवाय अन्य कोई भी जीव नहीं समझ सकता है। भगवानकी अर्द्धमागधी भाषाको तो भिन्न २ अनेक प्रकारकी भाषाओंको बोलनेवाले सभी मनुष्य, सभी पशु पक्षी समझते हैं। इन ग्रंथोंकी भाषा को तो विना पढे अभ्यास किये श्वेताम्बरी लोग भी नहीं समझ सकते। फिर इन ग्रंथोंकी भाषा वास्तविक अर्द्धमागधी भाषा कैसे हो सकती है ? उसका नाम यदि अर्द्धमागधीके स्थानपर दिव्यध्वनि भी रख दिया जावे तो भी कुछ हानि नहीं।

यह तो हुआ हमारा युक्तिपूर्ण विचार; अब श्वेताम्बरीय ग्रंथोंका उल्लेख भी देखिये। हमारी धारणाके अनुसार अनेक विचारशील श्वेताम्बरीय विद्वानोंकी भी यह सुनिश्चित अटल धारणा है कि आचारांग आदि ग्रंथ श्री महावीर भगवानके निर्वाण हो जाने पर लगभग ६०० छहसौ वर्ष पीछे बनाये गये हैं। अतः न तो वे गणधरप्रणीत हैं और न वे वास्तविक आचारांग आदि ही हैं। तथा उनकी भाषा भी प्राकृत भाषा है। इन विद्वानोंमें से एक तो स्वर्गीय मुनि आत्माराम जी हैं उन्होंने अपने तत्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथके ७ वें पृष्ठपर लिखा है कि—

" जो सूत्रार्थ श्री स्कंदिलाचार्यने संधान करके कंठाग्र प्रचलित करा था सो ही श्रीदेवर्द्धिगण क्षमा श्रमणजीने एक कोटी पुस्तकोंमें आरूढ करा।"

इसी बातको मुनि आत्मारामजी प्रश्नोत्तर रूपमें आगे इस प्रकार इसी पृष्ठपर लिखते हैं—

" पूर्व पक्ष—जब जैनमतके चौदहपूर्वधारी, दशपूर्वधारी विद्यमान थे तबसे ही लेकर ग्रंथ लिखे जाते तो जैनमतका इतना ज्ञान काहेको नष्ट होता ? क्या तिस समय में लोक लिखना नहीं जानते थे ?

उत्तरपक्ष—हे प्रियवर ! पूर्वोक्त महात्माओंके समयमें किसीकी भी शक्ति नहीं थी जो संपूर्ण ज्ञान लिख सक्ता. और ऐसे ऐसे चमत्कारी विद्याके पुस्तक थे जे गुरु योग्य शिष्योंके विना कदापि किसीको नहीं दे सक्ते थे। वे पुस्तक कैसे लिखे जाते ? और बीजक मात्र किंचित् लिखे भी गये थे।"

मुनि आत्मारामजीके इस लेखसे स्पष्ट है कि देवर्द्धिगणजी के समय (वीर सं. ६००) से श्वेतांबरीय ग्रंथ रचना प्रारंभ हुई थी दिगम्बर श्वेतांबर रूपमें संघभेद इसके बहुत पहले हो चुका था। श्वेतांबर साधु मुनि आत्मारामजी यह खुले हृदयसे स्वीकार करते हैं कि जिस समय साधुओंको अंगों तथा पूर्वोका ज्ञान हृदयस्थ था उस समय ग्रंथरचना नहीं हुई। अत एव वर्तमानमें उपलब्ध आचारांग आदि ग्रंथ वास्तविक आचारांग आदि ग्रंथ नहीं हैं। उनके नामसे अपूर्ण संक्षिप्त दूसरे नवीन छोटे ग्रंथ हैं।

अब हम अपनी पहली उद्दिष्ट बात पर आते हैं। इस समय यहां यह बात सामने उपस्थित है कि वर्तमान समयमें उपलब्ध श्वेताम्बरीय ग्रंथ सच्चे आगम कहे जा सकते हैं या नहीं ?

कतिपय श्वेताम्बरीय प्रख्यात ग्रंथोंके अवलोकन करने से हमारी यह धारणा है तथा अन्य कोई भी निष्पक्ष विद्वान यदि उन ग्रंथोंका अवलोकन करेगा तो वह भी हमारी धारणा अनुसार यह विचार प्रगट करेगा कि कल्पसूत्र, आचारांगसूत्र आदि अनेक प्रख्यात श्वेताम्बरीय ग्रंथोंको आगम ग्रंथ मानना भारी भूल है। क्योंकि इन ग्रंथोंमें अनेक ऐसी बातें उल्लिखित हैं जो कि धार्मिक कोटिसे तथा जैनसिद्धान्तसे बाहरकी बातें हैं। देखिये—

१—आचारांगसूत्र ग्रंथ केवल महाव्रतधारी साधुके आचरणको प्रकाशित करने वाला श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमें परममान्य ऋषिप्रणीत ग्रंथ है। उसमें जो कोई भी बात मिलनी चाहिये वह उच्च कोटिकी तथा पवित्र आचार वाली होनी चाहिये। किन्तु इस ग्रंथमें ऐसा नहीं पाया जाता। इस ग्रंथमें महाव्रतधारी साधुके लिये मांस भक्षण, मद्यपान, मधुसेवन आदि पापजनक बातोंकी ढील दी गई है जो कि न केवल जैन समुदायमें किन्तु सर्व साधारण जनतामें भी निंद्य घृणित कार्य माना जाता है।

देखिये १७५ वें पृष्ठपर ५६५ वें सूत्रमें लिखा है कि—

कोई साधु किसी गांवमें यह समझ कर कि वहां पर मेरे पूर्व परिचित मनुष्य स्त्रियां हैं वे मुझे मद्य-मांस, मधु आदि भोजन देंगे उन्हें मैं अकेला खा पीकर पात्र साफ करके फिर दूसरी बार अन्य साधुओंके साथ भोजन लेने चला जाऊंगा। ऐसा करना साधुके लिये दोष-जनक है इस कारण साधुको दूसरे साधुओंके साथ जाना चाहिये।

इस प्रकार इस सूत्रमें मद्यपान, मांस भक्षणका उल्लेख करके मांस भक्षणका विरोध न करते केवल अकेले भोजन लानेका निषेध किया है।

सूत्रके संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य इस सूत्र पर अपनी यह सम्मति लिखते हैं कि कभी कोई साधु प्रमादी और लोलुपी हो जावे, मद्य मांस खाना चाहे उसके लिए सूत्रमें ऐसा लिखा है। परन्तु इसका अभिप्राय पाठक महाशय स्वयं निकाल लेवें।

पृष्ठ १०५ पर ६०७ वें सूत्रमें लिखा है कि—

"साधु पुराना शहद (मधु) पुरानी शराब आदि न लेवे क्योंकि पुरानी शराब आदिमें जीव जंतु उत्पन्न हो जाते हैं।"

क्या इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नई शराब शहद आदि साधुको कोई दे देवे तो उसे वह ग्रहण कर लेवे? जिस शहद और शराबमें वह चाहे नयी हो अथवा पुरानी, अनन्त जीव पाये जाते हैं उस शराब

शहदका सेवन पुराने रूपमें ही निषेध करना ग्रंथकारके किस अभिप्राय पर प्रकाश डालता है ? इसका विचार पाठक स्वयं करें।

इसके आगे २०१ पृष्ठपर ६१९ वें सूत्रमें लिखा गया है कि—

" साधु किसी गृहस्थको मांस खाता देखकर अथवा गर्म पूडियां तलते देखकर शीघ्रता से दौडकर उस गृहस्थसे वे पदार्थ न मांगे। अगर किसी रोगी साधुके भोजन करनेके लिये वे पदार्थ मांगे तो कुछ हानि नहीं। "

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रोगी मुनिके लिये अन्य साधु मांस भी ला सकता है । इसमें आचारांगसूत्रके रचयिताको कुछ अनुचित नहीं मालूम होता है ।

तदनन्तर २०६–२०७ वें पृष्ठपर ६२९ वें तथा ६३० वें सूत्रमें बतलाया गया है कि—

" साधुको यदि ऐसा मांस या मछली भोजनमें किसी गृहस्थके द्वारा मिले जिसमें खाने योग्य भाग थोडा हो और फेंकने योग्य हड्डी, कांटे आदि चीजें बहुत हों तो उस मांस, मछलीको न लेवे । "

यदि साधुको कोई गृहस्थ निमंत्रण देकर कहे कि आपको बहुत हड्डी कांटेवाला मांस मछली चाहिये ? तो साधु कहे कि नहीं; मुझे बहुत छोडने योग्य हड्डी, कांटेवाला मांस नहीं चाहिये । यदि तुम देना चाहते हो तो खाने योग्य केवल दे दो। हड्डी आदि न दो, ऐसा कहते हुए भी यदि वह गृहस्थ उस हड्डीवाले मांस मछलीको साधु के वर्तनमें झट डाल देवे तो साधु उस गृहस्थसे कुछ न कहकर कहीं एकांतमें जाकर वह मांस मछली खा लेवे और वह हड्डी आदि छोडने योग्य चीजें किसी जीवजन्तु रहित स्थान में डाल देवे।

इन सूत्रोंके विषयमें टीकाकारका कहना है कि यह मांस मछली साधुको लेनेके लिये किसी अनिवार्य दशामें (लाचारीकी हालतमें) लिखा है ।

इस प्रकार आचारांग सूत्र अपने इन सूत्रोंसे स्पष्ट तौरसे मांस भक्षणका विधान करता है।

ऐसे मांसभक्षण विधायक ग्रंथको आगम कहा जाय या आगमाभास ? इस बातका निर्णय स्वयं श्वेताम्बरी भाई अपने निष्पक्ष हृदयसे कर लेवें। हमने ऊपर सूत्रोंका केवल अभिप्राय इस कारण दिया है कि पिछले प्रकरण में उनका मूल उल्लेख आ चुका है।

२—अब कल्पसूत्रका भी थोड़ा परिचय लीजिये। यह श्वेताम्बर समाजमें परम आदरणीय ग्रंथ है। पर्युषण पर्वमें यह सर्वत्र पढ़ा जाता है। स्वयं कल्पसूत्रमें अपनी (कल्पसूत्रकी) महिमा ५ वें पृष्ठपर इस प्रकार लिखी है कि—

" श्री कल्पसूत्र थी बीजुं कोई शास्त्र नथी। मुखमां सहस्र जिव्हा होय अने जो हृदयमां केवलज्ञान होय तो पण मनुष्योथी आ कल्पसूत्रनुं महात्म्य कही शकाय तेम नथी "

अर्थात्–कल्पसूत्रके सिवाय अन्य कोई शास्त्र नहीं है.....मनुष्यके मुखमें यदि हजार जीभें हों और हृदयमें केवलज्ञान विद्यमान हो तथापि इस कल्पसूत्रकी महिमा नहीं कही जा सकती है।

कल्पसूत्रके रचयिताने जो इतनी भारी महिमा अपने कल्पसूत्रकी लिखकर केवलज्ञानी भगवानका सम्मान किया है वह भी देखने योग्य है। सारांश यह है कि श्वेताम्बरी भाई कल्पसूत्रको अन्य ग्रंथोंसे अधिक पूज्य समझते हैं। इस कल्पसूत्रमें भी अनेक सिद्धान्तविरुद्ध, प्राकृतिक नियमविरुद्ध, धर्मविरुद्ध बातोंका समावेश है।

प्रथम ही २४-२५ वें पृष्ठपर भगवान महावीर स्वामीके गर्भहरणकी बात लिखी है। यह बात प्रकृतिविरुद्ध व असंभव है, कर्मसिद्धान्तके प्रतिकूल है। संसारका कोई भी सिद्धान्त न यह मान सकता है और न प्रमाणित कर सकता है कि ८२ दिनका गर्भ एक स्त्रीके पेटमें से निकालकर दूसरी स्त्रीके उदरमें रक्खा जा सके और फिर बालकका जीवन बना रहे।

दूसरे—जिन भगवान महावीर स्वामीको श्वेताम्बरी पूज्य समझते हैं उन महावीर भगवानका इस कथनसे अपमान कितना होता है इस बातका विचार भी शायद श्वेतांबरी भाइयोंने नहीं किया है। पूज्य तीर्थंकर देवका पवित्र शरीर दो प्रकारके (ब्राह्मणी व क्षत्रियाणीके) रजोंसे बने—वास्तविक पिता ब्राह्मण हो और प्रसिद्धि क्षत्रिय पिताके नामसे हो। इत्यादि।

तीसरे—ब्राम्हणको नीचगोत्री लिखना, इंद्र द्वारा भगवान महावीर स्वामीका नीच गोत्र बदल देना। इत्यादि बातें भी ऐसी हैं जिनमें असत्य कल्पनाके सिवाय जैनसिद्धांत, कर्मसिद्धांत रंचमात्र भी साथ नहीं देता।

आगे १०३ के पृष्ठपर लिखा है कि "महावीर स्वामीके ११ गणधरोंमेंसे मंडिक तथा मौर्यपुत्र नामक दो गणधरोंकी माता एक थी किंतु पिता क्रमसे धनदेव और मौर्य ये दो थे। गणधरोंकी माताने एक पतिके मर जानेपर अपना दूसरा पति बनाया था।"

यह बात भी बहुत भारी अनुचित लिखी है। गणधर सरीखे पूज्य पुरुषोंको दो पिताओं तथा एक मातासे उत्पन्न हुआ कहना इस सरीखा पाप तथा निंदाका कार्य और क्या हो सकता है। कल्पसूत्रके इस कथनके अनुसार स्त्रियोंको अनेक पुरुषोंको पति बनाकर सन्तान उत्पन्न करनेमें कुछ हीनता नहीं। वे इस निन्द्य सदाचारविरुद्ध संयोगसे भी गणधर हो सकने योग्य उन्नत आत्मा पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं।

इसके पीछे १११ वें पृष्ठपर लिखा हुआ है कि—

"साधु शरीरके उपयोगकेलिये मांस, मधु और मक्खनको अपवाद-दशामें (किसी विशेष हालतमें) चौमासेके सिवाय ग्रहण कर सकता है।"

कल्पसूत्र सरीखे श्वेताम्बरसमाजके परमपूज्य ग्रंथकी यह बात कितनी निन्द्य और धर्मविरुद्ध है इस को विशेष स्पष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। अहिंसा महाव्रतधारी साधु जब अपने शरीरके उपयोगकेलिये मांस तक ले सकता है फिर संसारका अन्य कौनसा निन्द्य पदार्थ शेष रह गया?

इत्यादि दो-चार ही नहीं किन्तु अनेक बातें इस कल्पसूत्रमें ऐसी लिखी हुई हैं जिनपर कि अच्छा आक्षेप हो सकता है। किन्तु हमने यहां पर केवल तीन बातोंका ही दिग्दर्शन कराया है। पाठक स्वयं न्याय कर लेवें कि यह कल्पसूत्र ग्रंथ भी सच्चा आगम कहा जा सकता है अथवा नहीं?

२— प्रवचनसारोद्धार ग्रंथ भी जो कि अनेक भागोंमें प्रकाशित हुआ है, श्वेतांबर समाजमें एक अच्छा मान्य प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। इसकी प्रामाणिकताका भी परिचय लीजिये। इस ग्रंथके तीसरे भागमें ५१७ वें पृष्ठपर लिखा है कि—

" भक्ष्य (खाने योग्य) भोजन १८ अठारह प्रकारका होता है उनमें पांचवा भोजन जलचर जीवोंका (मछली आदिका) मांस, छठा भोजन थलचर जीवोंका (हरिण आदिका) मांस, सातवां नभचर जीवोंका (कबूतर आदि पक्षियोंका) मांस है। पंद्रहवां भोजन पान यानी शराब आदि हैं। "

इसकी मूलगाथा ४२७ वीं ४३१ वीं इस प्रकार हैं।

" जलथलखयहरमंसाइतिन्निजूसोउजीरयाइ जुओ।
मुग्गरसो भक्खाणिय खंडीखज्जयपमुक्खाणि। " ॥४२७॥
" पाणं सुराइयं पाणियंजलं पाणगं पुणो इच्छ।
दक्खावणिय पमुहं सागो सोतक्क सिद्धंजं ॥ ४३१ ॥

इस प्रकारके भोजनमें मांस, मदिराका समावेश किया है। जब कि मांस, मदिरा सरीखे पदार्थ ग्रंथकारकी दृष्टिमें भक्ष्य भोजन हैं तो पता नहीं, अभक्ष्य भोजन कौनसे होंगे?

इसी प्रवचनसारोद्धारके तीसरे भागके ४३ वें द्वारमें २६३ वें पृष्ठपर ६८३ वीं गाथामें साधुके लिये पांच प्रकार चमडा बतलाया गया है-गाथा यह है।

" अय एल गावि महिसीमिगाणमजिणं च पंचमं होइ।
तलिगाखल्लग वद्धे कोसग कित्तीअ वीयं तु। ६८३। "

इस गाथाके अनुसार महाव्रतधारी साधु विशेष अवसरपर जूतेके

लिये, दो प्रकारसे, घायल अंगूठे पर बांधनेके लिये, बिछाने तथा पह-
नने ओढनेके लिये भी चमडेका उपयोग कर सकता है ऐसा ग्रंथकारका
अभिमत है।

जब कि चमडे सरीखी अशुद्ध, असंयमकारक, निषिद्ध वस्तु जन-
साधारणमें भी अपवित्र, हेय समझी जाती है [गृहस्थाश्रमकी झंझटमें
लाचारीसे भले ही उसका पूर्ण त्याग न किया जा सके] फिर ऐसे
निन्द्य हिंसाजनक पदार्थका उपयोग, परिधारण अहिंसा, परिग्रहत्याग
महाव्रतधारी साधुके लिये बतलाना कहां तक उचित, सिद्धान्त अनुसार,
धर्मका साधक है इसका विचार स्वयं करें। हम तो केवल इतना लिखते
हैं कि यह ग्रंथ भी सच्चा आगम ग्रंथ कदापि नहीं हो सकता क्योंकि
यदि ऐसा ग्रंथ भी प्रामाणिक ग्रंथ हो सकता है तो हिंसा विधान
करनेवाले अजैन ग्रंथ भी अप्रामाणिक, झूठे आगम नहीं हो सकते।

४–इसी प्रकार भगवतीसूत्र ग्रंथ भी श्वेतांबर समाजका एक
अच्छा प्रामाणिक आगम ग्रंथ माना जाता है। इसमें ऐसे वैसे साधा-
रणके विषयमें नहीं किंतु भगवान महावीर स्वामीके विषयमें अर्हन्त
दशाके समय रोग उपशम करनेके लिये १२७० तथा १२७१।१२७३
वें पृष्ठपर कबूतरका मांस खाना लिखा है जिसके कि खाते ही
भगवानका रोग समूल नष्ट हो गया बताया गया है।

विचारचतुर पाठक महाशय स्वयं निष्पक्ष हृदयसे विचार करें कि
यह ग्रंथ भी प्रामाणिक आगम ग्रंथ हो सकता है या नहीं?

पाठक महानुभावोंके समक्ष श्वेतांबरीय चार प्रख्यात ग्रंथोंका
संक्षिप्त प्रदर्शन किया है। अन्य ग्रंथोंके विषयमें भी बहुत कुछ लिखा
जा सकता है। इन ग्रंथोंमें भी अनेक विषय सिद्धांतविरुद्ध, प्रकृति-
विरुद्ध विद्यमान हैं। इस कारण कहना पडता है कि श्वेतांबरीय ग्रंथ
आगम कोटिमें सम्मिलित नहीं हो सकते हैं।

—०—

श्वेताम्बरीय शास्त्रोंका निर्माण दिगम्बरीय शास्त्रोंके आधारसे हुआ है।

अब हम इस बातपर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंने अपने ग्रंथोंकी रचनामें दिगम्बरीय ग्रंथोंका आधार लिया है। इस कारण हम उनको मौलिक तथा प्राचीन नहीं कह सकते। वैसे तो कोई भी ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध नहीं जो कि दिगम्बरीय ग्रंथरचनाके प्रारम्भ कालसे पहले का बना हुआ हो। किन्तु फिर भी जो कुछ भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध हैं उनका निर्माण दिगम्बरीय ग्रंथोंकी छाया लेकर हुआ है। यह बात सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण आदि समस्त विषयोंके लिये है। जिन प्राचीन श्वेताम्बरीय विद्वानोंको महाप्रतिभाशाली सर्वज्ञतुल्य प्रख्यात पंडित माना जाता है स्वयं उन्होंने अपने ग्रंथोंके निर्माणमें दिगम्बरीय ग्रंथोंका आधार लिया है। इसी विषयको हम प्रकाशमें लाते हैं।

श्री १००८ महावीर स्वामीके मुक्त होजानेके पीछे तीन केवलज्ञानी हुए उनके पीछे पांच श्रुतकेवली हुए। फिर कलिकालके प्रभावसे आत्माओंमें ज्ञानशक्तिका विकाश दिनपर दिन घटने लगा जिससे कि भगवान महावीर स्वामीसे प्राप्त द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञानको धारण करनेका क्षयोपशम किसी मुनीश्वरके आत्मामें न हो पाया। इस कारण कुछ दिनोंतक कुछ ऋषि ग्यारह अंग दश पूर्वके धारक हुए। तदनन्तर पूर्वोंका ज्ञान भी किसीको न रहा अंतः केवल ग्यारह अंगोंको धारण करनेवाले ही पांच साधु हुए। उनके पीछे केवल एक आचारांगके ज्ञाता ही चार मुनिवर हुए। शेष दश अंग चौदह पूर्वका पूर्ण ज्ञान किसीको न रहा।

तत्पश्चात् चार ऋषीश्वर ऐसे हुए जिनको पूर्ण एक अंगका ज्ञान भी उपस्थित न रहा। ये अंग और पूर्वोंके कुछ भागोंके ही ज्ञाता थे। उनमें अन्तिम मुनिका नाम श्री १०८ धरसेनाचार्य था। इन्होंने विचार किया कि मेरा आयु समय थोड़ा अवशेष है इस कारण जो कुछ

मुझको गुरुप्रसादसे तत्वज्ञान है उसको किसी योग्य शिष्य को पढा जाऊं। क्योंकि आगे मुझ सरीखा ज्ञानधारी भी कोई न हो सकेगा। ऐसा विचार कर वेणाक तटपर एक मुनिसंघ विराजमान था उसमेंसे 'पुष्पदन्त' और 'भूतबलि' नामक दो तीक्ष्णबुद्धिशाली शिष्योंको बुलाया और उनको उन्होंने पढाया। वे दोनों मुनि शीघ्र धरसेनाचार्यसे पढ कर विद्वान हो गये। तत्पश्चात् धरसेनाचार्य स्वर्गयात्रा कर गये।

यहां तक जैन साधु तथा गृहस्थ श्रावक मौखिक रूपसे अपने गुरु से पढते तथा स्मरण रखते रहे। निर्मल बुद्धि और स्मरणशक्ति प्रबल होनेके कारण उनको पाठ पढने पढाने तथा याद करने करानेके लिये ग्रंथोंके सहारेकी आवश्यकता न होती थी। किन्तु पूज्य श्री पुष्पदन्त तथा भूतबलि आचार्यने मनुष्योंके दिनोंदिन गिरते हुए क्षयोपशम, बुद्धि बल एवं स्मरण शक्ति की निर्बलता देखकर जैनसिद्धान्तकी रक्षाके लिये विचार किया कि अब तत्वज्ञान लोगोंको बिना शास्त्रोंके रचें, मौखिक पढने पढानेसे नहीं हो सकता। इस कारण अवशिष्ट तात्विक बोधको ग्रंथरूपमें रख देना अति आवश्यक है। ऐसा निर्णय कर श्री १०८ भूतबलि आचार्यने सबसे प्रथम 'षट्खंडागम' नामक कर्म ग्रंथ लिखकर ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके शुभ दिवसमें बडे समारोह उत्सवमें उस ग्रंथकी पूजा करके शास्त्रनिर्माणका प्रारंभ किया। इससे पहले कोई भी जैनशास्त्र नहीं बना था। तदनन्तर फिर अन्य अन्य ग्रंथोंकी रचना होती रही। श्री भूतबलि आचार्यका यह समय अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंसे विक्रम संवतसे पहलेका निश्चित होता है।

तदनन्तर कुछ समय पीछे विक्रम संवत ४९ में श्री कुंदकुंदाचार्य हुए उन्होंने समयसार, षट्पाहुड, रयणसार, नियमसार आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रंथोंकी रचना की तथा श्री भूतबलि आचार्य विरचित षट्खंड आगम ग्रंथपर बडी टीका रची। इस प्रकार कर्म ग्रंथोंकी तथा आध्यात्मिक आदि विषयोंके ग्रंथोंकी रचना दिगम्बरीय ऋषियोंने विक्रम संवतकी प्रथम शताब्दी तथा उससे भी पहले कर डाली थी।

श्वेतांबरीय ग्रंथोंमेंसे वैसे तो अधिकांश सूत्रग्रंथ श्री देवर्द्धिगण सूरिने छटी शताब्दीमें बनाये थे। किन्तु कर्मग्रंथोंमेंसे शिवशर्मसूरि विरचित 'कर्मप्रकृति' नामक ग्रंथ (४७६ गाथाओंमें) पांचवी शताब्दीमें बना था। उससे पहले कोई भी श्वेतांबरीय ग्रंथकारोंने कर्मग्रंथ नहीं बनाया था। अत एव श्वेतांबरीय कर्मग्रंथ दिगम्बरीय कर्मग्रन्थोंसे बादके हैं। "तदनुसार कर्मग्रंथोंकी रचनाका आश्रय श्वेतांबरीय ग्रंथकारोंने दिगंबरीय ग्रंथोंपरसे लिया होगा न कि दिगम्बरीय ग्रंथकारोंने श्वेताम्बरीय ग्रंथोंपरसे" यह एक साधारण बात है जिसको प्रत्येक पुरुष मान सकता है।

अनेक श्वेताम्बरीय सज्जन यह कह दिया करते हैं कि दिगम्बरीय ग्रंथ श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके आधार से बनाये गये हैं इस कारण दिगम्बरीय ग्रंथोंका महत्व नहीं बनता। उन सज्जनोंको अपने तथा दिगम्बरीय कर्मग्रंथोंपर दृष्टिपात करना चाहिये। आधार प्राचीन पदार्थका ही लिया जाता है न कि पीछे बने हुए का। इस कारण जब दिगम्बरीय कर्मग्रंथ श्वेतांबरीय कर्मग्रंथोंसे पहले बन चुके थे तब आप लोगोंके आक्षेपको रंचमात्र भी स्थान नहीं रहता। हां, दिगम्बर सम्प्रदाय यह कहना चाहे कि श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथ दिगम्बरीय कर्मग्रंथोंके आधारसे बनाये गये हैं तो वह कह सकता है क्योंकि उसको कहनेका स्थान है। इतिहास बतला रहा है कि श्वेताम्बरीय ग्रंथ दिगम्बरी ग्रंथोंसे ३००-४०० वर्ष पीछे बने हैं।

आत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल आगरासे प्रकाशित "पहला कर्मग्रंथ" नामक श्वेताम्बरीय पुस्तकके १९१ वें पृष्ठपर मानचित्र खींचकर श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथोंका विवरण दिया है। वहांपर 'कर्मप्रकृति' नामक ग्रंथको पहला श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथ लिखकर उसका रचना समय पांचवीं विक्रम शताब्दी लिखी है। श्री भूतबलि आचार्य (दिगम्बर ऋषि) 'षट्खंड आगम' नामक दिगम्बरीय कर्मग्रंथके बनाने वाले हैं जो कि श्री कुंदकुन्दाचार्यसे भी पहले हुए हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रमकी प्रथम शताब्दीमें (अनुमान ४९ में) हुए हैं यह अनेक

ऐतिहासिक प्रमाणोंसे प्रसिद्ध है। इस कारण सिद्ध हुआ कि दिगम्बरीय कर्मग्रंथ श्वेताम्बरीय कर्मग्रंथोंसे पहले बन चुके थे।

अब हम न्यायविषयक ग्रंथोंपर भी प्रकाश डालते हैं कि न्याय ग्रंथोंके निर्माणमें किस सम्प्रदायने किस संप्रदायकी नकल की है।

जैनन्यायग्रंथोंके आदि विधाता.

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पीछे श्री उमास्वामी आचार्य प्रख्यात जैन साधु हुए। इनके पीछे विक्रम संवत् दूसरी शताब्दी के प्रथम भागमें स्वामी 'समन्तभद्राचार्य' नामक असाधारण विद्वत्ता और वाग्मिताके स्वामी दिगम्बर जैन आचार्य हुए। ये बालब्रह्मचारी तथा एक क्षत्रिय नरेशके पुत्र थे। सरस्वती इनकी रसनापर नृत्य करती थी। इन्होंने कांची (कर्नाटक) से लेकर पूर्वीय भारतके ढाका [बंगाल] नगर तक दिग्विजय की थी। उस जमानेमें जिस किसी भी नगरमें दिग्गज विद्वानोंका समुदाय होता था उसी नगरमें जाकर समन्तभद्राचार्य वादभेरीको बजा देते थे और वहांके विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित कर देते थे और जैनधर्मका तथा उसके स्याद्वाद सिद्धांतका असाधारण प्रभाव जनतापर डालते थे।

कांचीपुर, मंदसौर (मालवा), बनारस, पटना, सिन्धदेश, ढाका आदि नगरोंमें पहुंचकर समन्तभद्राचार्यने बडे बडे शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त की थी यह बात अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रमाणित कर रहे हैं।

काशीमें अनुपम शिवभक्त राजा शिवकोटिने अपने राजमदमें आकर समन्तभद्राचार्यसे दुराग्रह किया था कि आप हमारे पूज्य शिवलिंगको नमस्कार कीजिये। समन्तभद्राचार्यने कहा कि राजन् मेरे नमस्कारको केवल अर्हंत प्रतिमा सहन कर सकती है। तुह्मारा शिवलिंग मेरे नमस्कारको न सह सकेगा। किन्तु राजहठसे वशीभूत शिवकोटि राजाने न माना और शिवलिङ्गको नमस्कार करनेका दुराग्रह किया। तब समन्तभद्राचार्यने स्वयम्भूस्तोत्र बनाकर चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन किया। उस समय सात तीर्थंकरोंका स्तोत्र पढ लेने पर जब उन्होंने आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ का स्तोत्र प्रारम्भ किया तब दूसरा श्लोक—

' यस्यांगलक्ष्मीपरिवेशभिन्नं, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्यं बहु मानसं च, ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम् ॥ '

पढा उस समय शिवलिङ्ग फट कर चूर चूर हो गया और उसमें-से चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की मूर्ति प्रगट हो गई । इस दिव्य अतिशयको देखकर शिवकोटि राजा राज्यका त्याग कर समन्तभद्राचार्यका शिष्य दिगम्बर साधु हो गया । पश्चात् उसने ' भगवति आराधना ' नामक प्राकृत ग्रंथ बनाया जो कि इस समय उपलब्ध भी है ।

श्रवणबेलगोल (मद्रास) के ५४ वें शिलालेखमें अंतिम श्लोक इस प्रकार है ।

" पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं ॥ "

यह श्लोक समन्तभद्राचार्यने ' करहाटक ' यानी कराड (सतारा) नगरमें वहांके राजाके सामने कहा था । इसका अर्थ ऐसा है कि—

पहले मैंने पटना नगरमें वादभेरी [शास्त्रार्थ करनेकी सूचना देनेवाला नगारा] बजाई फिर मालवा, सिंधु, ढाका, कांचीपुर, भेलसा इन प्रधान प्रधान नगरोंमें भी बेरोकटोक वादभेरी बजाई । अब विद्याके स्थानभूत, सुभटोंसे भरे हुए इस कराड नगरमें आया हूं । हे राजन् मैं शास्त्रार्थ करनेका इच्छुक सिंहके समान निर्भय सर्वत्र घूमता फिरता हूं ।

काशीमें शिवकोटि राजाके सन्मुख समन्तभद्राचार्यने जो श्लोक कहा था उसका अन्तिम पद यह है ।

" राजन् ! यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी । "

अर्थात्–हे राजन् ! जिसमें मेरे साथ शास्त्रार्थ करनेकी शक्ति हो वह मेरे सामने आ जावे मैं दिगम्बर जैन वादी हूं ।

श्रवणबेलगोलके १०५ वें (२५४) शिलालेख के अंतमें लिखा हुआ है कि—

समन्तभद्रस्स चिराय जीया-द्वादीभवज्रांकुशसूक्तिजातः ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीयं वंध्यास दुर्वादुकवार्तयापि ॥

अर्थात्-वह समन्तभद्राचार्य सदा जयशाली रहे क्यों कि वादी (शास्त्रार्थ करने वाले) रूपी हाथियों को निर्मद करने के लिये वज्र अंकुशके समान जिसका वचन है। तथा जिसके प्रभावसे समस्त पृथ्वी मंडल दुर्वादियोंसे शून्य हो गया है। अर्थात् समन्तभद्रके प्रभावसे कोई भी वादी बोलनेकी शक्ति नहीं रख पाता है।

इत्यादि २-४ शिलालेखोंमें ही नहीं किन्तु सैकडो भिन्न भिन्न ग्रंथकारोंने समन्तभद्राचार्यको अपने ग्रंथोंमें आदरके साथ " वादिसिंह, सरस्वतीविहारभूमि, कविकुंजर, परवादिदन्तिपंचानन, महाकविब्रह्मा, महाकवीश्वर, कविवादिवाग्मिचूडामणि, " इत्यादि विशेषणोंके साथ स्मरण किया है।

अन्य बातोंको दूर रख कर हम यदि श्वेताम्बरी ग्रंथकारोंकी ओर दृष्टिपात करें तो उन्होंने भी स्वामी समन्तभद्राचार्यकी प्रखर विद्वत्ताको हृदयसे स्वीकार किया है। देखिये श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रधान आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने अपने अनेकान्तजयपताका नामक ग्रंथमें ' वादिमुख्य ' [शास्त्रार्थ करनेवालोंमें प्रधान] विशेषणसे समन्तभद्राचार्यका स्मरण किया है। अनेकान्त जयपताकाकी स्वोपज्ञ टीकामें लिखा है कि " आह च वादिमुख्यः समन्तभद्रः " अर्थात्-वादिमुख्य समन्तभद्र भी यों कहते हैं।

ऐसी विश्वविख्यात विद्वत्ताके अधिकारी श्रीसमन्तभद्राचार्यने ही सबसे प्रथम जैन न्यायग्रंथोंकी रचना प्रारम्भ की थी। यद्यपि समन्तभद्राचार्य सिद्धान्त, साहित्य, व्याकरण आदि विषयोंके भी असाधारण पंडित महाकविब्रह्मा कहलाते थे किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि समस्त विषयोंसे अधिक उन्होंने न्यायविषयका पाण्डित्य प्रगट किया था। वे अपने भगवत्स्तोत्रोंमें भी असाधारण विद्वत्ताके साथ न्यायविषयको भर गये हैं जिससे कि मनुष्य उनके बनाये हुए स्वयम्भूस्तोत्र युक्त्यनुशासन आदि ग्रंथोंको ही पढकर न्यायवेत्ता विद्वान बन सकता है।

समन्तभद्राचार्यने ' प्रमाणपदार्थ, जीवसिद्धि ' आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन आदि अनेक न्यायग्रंथोंकी रचना की है जिनमें प्रत्येक ग्रंथ अपने विषयका असाधारण ग्रंथ है। समन्तभद्राचार्यने न्यायका सबसे प्रधान ग्रंथ तत्वार्थसूत्रपर " गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक ग्रंथ चौरासी हजार ८४००० श्लोकोंके परिमाण वाला लिखा है जो कि दुर्भाग्यसे आज दिन अनुपलब्ध है।

सारांश यह है कि जैनन्यायग्रंथरचनाकी नीव समन्तभद्राचार्यने ही डाली थी। इनके पहले कोई भी जैन न्यायग्रंथ किसी श्वेताम्बर विद्वानने नहीं बनाया था। श्वेतांबरीय न्यायग्रंथके आदि विधाता सिद्धसेन दिवाकरको बतलाया जाता है जिन्होंने कि न्यायावतार ग्रंथ बनाया है। किन्तु ये सिद्धसेन समन्तभद्राचार्यके पीछे हुए हैं। क्योंकि इन्होंने समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरंड श्रावकाचारका ९ वां श्लोक 'आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्य ' इत्यादि श्लोकका उल्लेख न्यायावतारमें मूल रूपसे लिख दिखाया है।

समन्तभद्राचार्यके पीछे श्री ' अकलंकदेव ' हुए। ये एक राजमंत्रीके बालब्रम्हचारी पुत्र थे। स्मरणशक्ति इनकी इतनी असाधारण थी कि एक बार पढ लेनेसे ही इनको पाठ याद हो जाता था। इसी कारण इनका नाम एकस्थ था। इनके लघु भ्राता निष्कलंक भी बहुत भारी विद्वान थे। इन दोनों भ्राताओंका जीवनचरित बहुत रोचक है निष्कलंकने जैनधर्मके उद्धारके लिए प्राण दान किया था। श्री अकलंकदेवके समयमें बौद्धधर्म इस भारतवर्षमें बहुत फैला हुआ था। इस बौद्ध धर्मके प्रभावका अंत इन अकलंकदेवने किया था।

राजा हिमशीतलकी राजसभामें इन्होंने बौद्धगुरूके साथ शास्त्रार्थ किया था जिसमें थोडीसी देरमें ही वह दिग्गज विद्वान अकलंकदेवसे हार गया। फिर उसने दूसरे दिन अपनी इष्ट तारादेवीका आराधन करके उसको एक घडेमें स्थापित करके उसके द्वारा अपनी बोलीमें अकलंकदेवके साथ शास्त्रार्थ कराया जो कि बराबर ६ महिने तक चलता रहा।

अंतमें देवलीला समझकर अकलंकदेवने उस तारादेवीको भी एक दिनमें ही हरा दिया ।

यह शास्त्रार्थ अनेक ऐतिहासिक प्रमाणोंसे सत्य प्रमाणित है । इस शास्त्रार्थमें विजय प्राप्त करके श्री अकलंकदेवने बौद्ध विद्वानोंके साथ अनेक स्थानोंपर अनेक शास्त्रार्थ किये और उनमें असाधारण विजय प्राप्त करके भारतभरमें जैनधर्मका डंका बजाया तथा बौद्धधर्मका उग्र तेज बहुत फीका कर दिया ।

श्रवणबेळगोळके शिलालेखोंमें श्री अकलंकदेव स्वामीके निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं—

राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः ।
तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वागीश्वरा वाग्मिनो
नानाशास्त्रविचारचातुरधियः काले कलौ मद्विधाः ।

अर्थात्—हे साहसतुङ्ग राजन् ! यद्यपि सफेद छत्रधारक भूपति बहुतसे हैं किन्तु तुझ सरीखा युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला राजा कोई भी नहीं है । इसी प्रकार यद्यपि इस समय अनेक विद्वान पाये जाते हैं किन्तु इस कलिकालमें मुझ सरीखा कवि, वागीश्वर, वाग्मी तथा अनेक प्रकारके शास्त्रविचारोंमें चातुर्य रखनेवाला विद्वान् भी कोई नहीं है ।

राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथात्र प्रसिद्ध—
स्तद्वत्ख्यातोहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पंडितानाम् ।
नो चेदेषोहमेते तव सदसि सदा संति सन्तो महान्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात् ।

अर्थात्—भो राजन् ! जिस प्रकार तुम समस्त शत्रुओंका मानभङ्ग करनेमें कुशल प्रसिद्ध हो उसी प्रकार मैं इस भूमंडलपर विद्वानोंका विद्यामद दूर करनेकेलिये प्रसिद्ध हूं । यदि इस बातको तुम असत्य समझते हो तो तुम्हारी सभामें बहुतसे उद्भट विद्वान् विद्यमान हैं उनमेंसे यदि किसी में शक्ति है वो समस्तशास्त्रवेत्ता विद्वान् मेरे सामने शास्त्रार्थ करने आजावे ।

इस परीक्षामुख ग्रंथ की श्रीप्रभाचन्द्र आचार्यने बहुत भारी टीका रचकर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामक उच्चकोटिका न्यायग्रंथ बनाया है जिसकी बराबरीका न्यायग्रंथ अन्य कोई नहीं पाया जाता। इन्हीं प्रभाचन्द्र आचार्यने प्रमेयकमलमार्तण्डकी समानता रखने वाला न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रंथ भी बनाया है। तथा राजमार्तण्ड, प्रमाणदीपक, वादिकौशिकमार्तण्ड, अर्थप्रकाश आदि अनेक न्यायविषयके ग्रंथ भी प्रभाचन्द्राचार्यने बनाये हैं जो कि उनकी न्यायविषयक विद्वत्ताकी साक्षी दे रहे हैं।

श्री प्रभाचन्द्र आचार्य विक्रम संवत् १०६० से १११५ तक के समयमें हुए हैं। इस समय तक भी कोई श्वेताम्बरीय न्यायग्रंथ नहीं बन पाया था। इस कारण न्यायशास्त्रोंके विषयमें भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदायपर यह आक्षेप नहीं कर सकता कि दिगम्बरीय न्याय ग्रंथ श्वेताम्बरीय न्यायग्रंथोंके आधार पर बने हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायको इसके विपरीत कहनेका अवसर है कि श्वेताम्बरीय न्यायग्रंथ दिगम्बरीय न्यायग्रंथोंसे पीछे बने हैं। इस कारण हो सकता है कि श्वेताम्बरीय विद्वानोंने न्यायग्रंथोंके निर्माण में दिगम्बरीय न्याय ग्रंथोंका आधार लिया है। यह बात केवल संभावना रूपमें ही नहीं है किन्तु सत्य भी है। इस पर हम प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंमें न्यायशास्त्रके प्रख्यात रचयिता श्री वादिदेवसूरि हुए हैं। ये वादिदेवसूरि विक्रम सं. ११७४ में सूरिपद पर आरूढ हुए थे। श्वेतांबरीय ग्रंथोंमें उल्लेख है कि बड़े बड़े ८४ शास्त्रार्थोंमें प्रबल विजय प्राप्त करनेवाले दिग्विजयी श्री कुमुदचन्द्राचार्य को वादिदेवसूरिने शास्त्रार्थमें पराजित कर दिया था। इसी कारण इन वादिदेवसूरि की विद्वत्ताका श्वेतांबरीय ग्रंथोंमें बहुत गुणगान किया गया है। श्री कुमुदचन्द्राचार्य श्री वादिदेवसूरिके साथ शास्त्रार्थमें हारे या जीते थे इसका उत्तर हम पीछे देंगे किंतु उसके पहले हम दिग्विजयी श्री कुमुदचन्द्राचार्यको जीतनेवाले वादिदेवसूरि की विद्वत्ताका परिचय कराते हैं।

वादिदेवसूरिने " प्रमाणनयतत्वालोकालंकार " नामक एक न्याय ग्रंथ सूत्ररूपमें लिखा है। वादिदेवसूरि इतने भारी उद्भट नैयायिक विद्वान थे कि उन्होंने अपना यह ग्रंथ बनानेमें दिगम्बरीय न्यायग्रंथ परीक्षामुखकी आद्योपान्त नकल कर डाली है। केवल सूत्रोंके शब्दोंमें उल्टफेर की है अथवा कुछ अधिक सूत्र बनाये हैं। शेष कुछ भी विशेषता नहीं रक्खी है। हां, इतनी विशेषता अवश्य है कि परीक्षामुखके सिवाय आपने प्रमेयकमलमार्तण्डको भी सामने रक्खा और कुछ विषय उसमें से लेकर भी सूत्र बनादिये हैं। इस प्रकार परीक्षामुख और प्रमेयकमलमार्तण्डके आधारसे प्रमाणनयतत्वालोकालंकार ग्रंथकी काया तयार हुई है। इसका चित्र निम्नलिखित रूपसे अवलोकन कीजिये।

प्रथम ही परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्वालोकालंकारके प्रथम परिच्छेदके सूत्रोंको देखिये—

परीक्षामुखमें पहला सूत्र है " स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं " तब प्रमाणनयतत्वालोकालंकारमें दूसरा सूत्र " स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् " है। यहां केवल परीक्षामुखकी नकल करनेमें 'अपूर्व' विशेषण छोड दिया है।

परीक्षामुखका दूसरा सूत्र है " हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् " इसके स्थानपर वादिदेवसूरिने " अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम् " यह सूत्र बना दिया है।

जब परीक्षामुखमें तीसरा सूत्र " तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् " है तब प्रमाणनयतत्वालोकालंकारमें छटा सूत्र " तद्व्यवसायत्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद्वा " है।

परीक्षामुखके सातवें, आठवें सूत्र " अर्थस्येव तदुन्मुखतया, घटमहमात्मना वेद्मि " के स्थानपर प्रमाणनयतत्वालोकालंकारमें एक १६ वां सूत्र " बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति " है। यहां पर केवल दृष्टान्त और क्रिया बदली है।

परीक्षामुखके ११ वें १२ वें सूत्र "को वा तत्प्रतिभासिनमर्थ-मध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत्, प्रदीपवत्" हैं और प्रमाणनयतत्वालंकारमें एक १७ वां सूत्र उसकी नकलका "कः खलु ज्ञानस्यावलंबन बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत मिहिरालोकवत्" है।

परीक्षामुखका अन्तिम सूत्र "तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च" है। प्रमाणनयतत्वालंकारमें अंतिम सूत्र "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्चेति" है। इस सूत्रके निर्माणमें वादिदेव सूरिने प्रमेयकमल मार्तण्डका विषय भी उधार ले लिया है।

इस प्रकार प्रमाणनयतत्वालोकालंकारका प्रथम परिच्छेद परीक्षा-मुखके प्रथम परिच्छेदसे बिलकुल मिलता जुलता है, केवल शब्दोंका थोडासा अन्तर है। शेष विषयवर्णनशैली और सूत्र रचना परीक्षामुखके ही समान है।

अब दोनों ग्रंथोंके द्वितीय परिच्छेदपर दृष्टिपात कीजिये। वहां भी ऐसी ही बात है। परीक्षामुखने जब अपने दूसरे परिच्छेदमें प्रत्यक्ष प्रमाणका स्वरूप बतलाया है तब प्रमाणनयतत्वालंकारने भी ऐसा ही किया है। देखिये—

परीक्षामुखके प्रारंभिक दो सूत्र 'तद्द्वेधा, प्रत्यक्षेतरभेदात्' हैं तब प्रमाणनयतत्वालंकारका पहला सूत्र "तद्द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च" है। इनमें कुछ भी अन्तर नहीं।

परीक्षामुखमें तीसरा सूत्र "विशदं प्रत्यक्षम्" विद्यमान है। प्रमाणनयतत्वालंकारमें उसकी समानतापर "स्पष्टं प्रत्यक्षम्" सूत्र कर दिया है। अर्थ दोनोंका ठीक एक ही है।

परीक्षामुखका चौथा सूत्र "प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम्" है। वादिदेव सूरिने इसके स्थानपर "अनुमानाद्या-धिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम्" सूत्र बना दिया है।

परीक्षामुखकारने पांचवां सूत्र "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्" लिखा है, तब वादिदेवसूरिने भी 'तत्राद्यं द्विविधमि-न्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च" यह पांचवां सूत्र बनाया है।

परीक्षामुखके इस द्वितीय परिच्छेदके अंतिम सूत्र " सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसंभवात् " को टीका रूपमें प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रंथमें श्री प्रभाचन्द्राचार्यने केवलिकवलाहारका तथा स्त्रीमुक्तिका युक्तिपूर्वक निराकरण किया है। वादिदेवसूरिने उस निराकरणको धो डालनेके इरादेसे अपने प्रमाणनयतत्वालोकालंकारके द्वितीय परिच्छेदका अन्तिम सूत्र बनाया है " न च कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वं कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात् "। यहांपर त्रुटि फिर भी यह रह गई कि स्त्रीमुक्तिके मंडनमें वादिदेव सूरिने कुछ नहीं लिखा। अथवा लिख न सके।

इस प्रकार दोनों ग्रंथोंके द्वितीय परिच्छेदको अवलोकन करनेसे भी यह निश्चित होता है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकारका ढांचा परीक्षामुखके विषय तथा अर्थ एवं शैलीको लेकर ही तयार किया गया है।

अब दोनों ग्रंथोंके तीसरे परिच्छेदको भी देखिये इस परिच्छेद में परोक्ष प्रमाणका स्वरूप बतलाया गया है।

परीक्षामुखका पांचवां सूत्र " दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं। तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि। " है। प्रमाणनयतत्वालंकारका तीसरा सूत्र इसीकी समानतापर " अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्द्ध्वतासामान्यादिगोचरं सङ्कलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं " बनाया गया है।

तर्क प्रमाणका लक्षण परीक्षामुखके ११ वें सूत्रमें " उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः " यों किया है। उसी तर्क प्रमाणका लक्षण प्रमाणनयतत्वालंकार के ५ वें सूत्रमें " उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः " ऐसा किया है। इन दोनों सूत्रोंके अर्थ, तात्पर्य, लक्षणमें कुछ भी अन्तर नहीं है। शब्द भी समान हैं।

साध्यका लक्षण परीक्षा मुखने २० वें सूत्रमें " इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् " किया है। यही लक्षण वादिदेवसूरिने १२ वें सूत्रमें " अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् " इस तरह लिख दिया है

केवल इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन तीनो शब्दोंके पर्यायवाचक अभीप्सित, अनिराकृत, अप्रतीत ये दूसरे शब्द रख दिये है। लक्षण और तात्पर्य एक ही हैं।

परीक्षामुखमें ३६ वां सूत्र "को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति" है। इसके स्थानपर प्रमाणनयतत्वालंकारमें "त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते" यह २३ वां सूत्र लिखा है। तात्पर्य और शब्दरचना में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है।

उपनयका लक्षण परीक्षामुखके ५० वें सूत्रमें "हेतोरुपसंहार उपनय." किया है तब वादिदेवसूरिने ४६ वें सूत्रमें "हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः" यों किया है। विज्ञ पाठक दोनों सूत्रोंके शब्द देखकर स्वयं समझ सकते हैं कि इन दोनो सूत्रोंमें जरा भी अन्तर नहीं है।

हेतुके भेद करते हुए परीक्षामुखमें ५७ वां सूत्र "स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्" है। इस सूत्रके स्थानपर वादिदेवसूरिने ५१ वां सूत्र "उक्तलक्षणो हेतुर्द्विप्रकार उपलब्ध्यनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात्" ऐसा लिखा है। इन दोनों सूत्रोंमें कुछ भी अंतर नहीं है।

इसके आगेका सूत्र परीक्षामुखमें "उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च" यों लिखा है। उसी प्रकार प्रमाणनयतत्वालंकारमें "उपलब्धिर्विधिनिषेधयोः सिद्धिनिबन्धनमनुपलब्धिश्च" ऐसा सूत्र लिखा है। विद्वान् पुरुष विचार करें। हेतुओंके भेदकथन, शाब्दिक रचना तथा तात्पर्य रूपसे इन दोनों सूत्रोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है।

सत्तात्मक साध्यके समय अविरुद्ध, उपलब्ध्यात्मक हेतुके छह भेद करते हुए परीक्षामुखमें ५९ वां सूत्र "अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्" लिखा गया है। इस एक सूत्रकी नकल करते हुए वादिदेवसूरिने प्रमाणनयतत्वालंकारमें ६४ व ६५ वें "तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा, साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिरिति" ये दो सूत्र लिखे हैं। शब्दोंमें

थोडासा फेरफार किया है। शेष सब परीक्षामुख का वाक्यविन्यास कर दिया है। हेतुके भेद जैसे जितने तथा जिस नामके श्री माणिक्यनन्दि आचार्यने परीक्षामुखमें किये हैं ठीक उसी प्रकार वादिदेवसूरिने भी लिख दिये हैं।

इस सूत्रके आगेके सूत्रोंमें प्रत्येक प्रकारके हेतुभेदके दृष्टांत जैसे परीक्षा मुखमें लिखे हैं उसी प्रकारके दृष्टान्त श्वेताम्बरीय ग्रंथ प्रमाण नयतत्वालंकारमें उल्लिखित हैं।

अभावात्मक साध्यके अवसरपर साध्यसे अविरुद्ध अनुपलब्धिरूप हेतुके सात भेद बतलाने वाला ७८ वां सूत्र परीक्षामुखमें "अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात" लिखा है। तब वादिदेवसूरिने इस सूत्रके स्थानपर प्रमाणनयतत्वालंकारमें ९० तथा ९१ वां सूत्र "तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधाववोधे सप्तप्रकारा, प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिरिति" लिख दिया है। परीक्षामुखके उपर्युक्त सूत्रसे इन सूत्रोंमें किसी भी बातका अंतर नहीं है। यदि प्रमाणनयतत्वालंकार ग्रंथको वादिदेवसूरिने परीक्षामुखका विना आश्रय लिये स्वतंत्रतासे बनाया होता तो परीक्षामुखके सूत्रोंके साथ इतनी भारी समानता न होती।

इन सात प्रकारके हेतुओंके दृष्टान्त जिस प्रकार परीक्षामुखमें दिये हैं ठीक उसी प्रकार प्रमाणनयतत्वालंकारमें भी दिये गये हैं।

आगम प्रमाणका स्वरूप परीक्षामुखके तीसरे परिच्छेदके अन्तमें ही कर दिया है। वादिदेवसूरिने आगमप्रमाणके लिये एक परिच्छेद अलग बना दिया है। परंतु परीक्षामुखमें आगम प्रमाणका लक्षण बतलाते हुए ९९ वां सूत्र "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" लिखा है इसी प्रकार इस सूत्रके स्थानपर प्रमाणनयतत्वालंकारके चौथे परिच्छेदका पहला सूत्र "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः।" लिखा है। दोनों सूत्रों के शब्द समान हैं और उनके तात्पर्यमें भी कुछ अंतर नहीं है।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रंथोंके तीसरे परिच्छेद का अवलोकन करने से सिद्ध होता है कि प्रमाणनयतत्वालंकार की शारीरिक रचना परीक्षामुखका फोटो लेकर हुई है।

इसके आगे परीक्षामुखके चौथे परिच्छेद और प्रमाणनयतत्वालंकारके पांचवें परिच्छेदका मिलान किया जावे तो वे दोनों परिच्छेद आदिसे अन्त तक ज्योंके त्यों मिलते हैं। सूत्र संख्या भी ८ और ९ ही है परीक्षामुखमें केवल एक सूत्र उससे अधिक है।

परीक्षामुखके पहले सूत्रमें प्रमाणके ज्ञेयविषयका स्वरूप "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" ऐसा बतलाया है। प्रमाणनयतत्वालंकारमें इसी सूत्रको "तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु" ऐसे लिख दिया है। पाठक महाशय समझ सकते हैं कि दोनों सूत्रोंके शब्द, अर्थ, तात्पर्य उद्देश आदिमें कुछ भी अन्तर नहीं है

इन ही परिच्छेदोंके तीसरे सूत्रको देखिये परीक्षा मुखमें "सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्" ऐसे लिखा है। प्रमाणनयतत्वालंकारमें "सामान्यं द्विप्रकारं तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च" इस प्रकार लिख दिया है। द्वेधा और द्विप्रकारं शब्दोंका अर्थ एक ही है अन्तर इतना है कि सूत्ररचनाकी दृष्टिसे अक्षरलाघवके कारण 'द्वेधा' शब्द ही होना अच्छा है।

इस प्रकार दोनों ग्रंथोंके ये दोनों परिच्छेद भी समान ही हैं।

उक्त दोनों ग्रंथोंमेंसे परीक्षामुखके पंचम परिच्छेदमें और प्रमाणनयतत्वालंकारके षष्ठ परिच्छेदमें प्रमाणका फल बतलाया गया है। यह विषय परीक्षामुखने तीन सूत्रोंमें और प्रमाणनयतत्वालोकालंकारने २२ सूत्रोंमें समाप्त किया है। इस प्रकरणमें भी परीक्षामुखका आश्रय लेकर ही प्रमाणनयतत्वालंकारका यह परिच्छेद रचा गया है। देखिये—

परीक्षामुखका तीसरा सूत्र "यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः" इस प्रकार लिखा है तब इसके स्थानपर प्रमाणनयतत्वालंकारमें प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते

चेति सर्वसंव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात्" इस प्रकार लिखा है। बुद्धिमान पुरुष विचार सकते हैं कि दोनों सूत्रोंके तात्पर्यमें तथा शब्दोंमें कुछ अन्तर नहीं है। केवल वादिदेवसूरिने सूत्रमें अंतिम कुछ शब्द बढ़ा दिये हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरिने अपना प्रमाणनयतत्वालंकार नामक न्यायग्रंथ परीक्षामुख तथा प्रमेयकमलमार्तंड नामक दिगम्बरीय ग्रंथोंके आधारसे बनाया है। आरम्भसे अंततक वादिदेवसूरिने परीक्षामुखकी छाया ग्रहण की है। कहीं कहींपर कुछ सूत्र नवीन भी निर्माण कर दिये हैं। इस कारण निष्पक्ष व्यक्तिको हृदयसे स्वीकार करना पड़ेगा कि वादिदेवसूरिने परीक्षामुखकी नकल करके प्रमाणनयतत्वालंकार ग्रंथको बनाया है।

वादिदेवसूरि परीक्षामुख ग्रंथके रचयिता श्रीमाणिक्यनंदि आचार्यसे तथा प्रमेयकमलमार्तंडके बनाने वाले श्री प्रभाचन्द्राचार्यसे पीछे हुए हैं ऐसा श्वेतांबरीय विद्वानोंको भी ऐतिहासिक प्रमाणोंके बलपर स्वीकार करना पड़ेगा। तदनुसार किसने किसके ग्रंथकी नकल की यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बरीय प्रख्यात आचार्य वादिदेवसूरिकी उद्भट विद्वत्ताका यही एक ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्होंने 'प्रमाणनयतत्वालोकालंकार' नामक सूत्रबद्ध न्याय ग्रन्थ बनाने में स्वयं मौलिक प्रयत्न नहीं किया किन्तु झूठा यश चाहने वाले साधारण विद्वानके समान परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रंथकी आद्योपान्त नकल कर डाली। जो विद्वान एक साधारण ग्रंथरचनामें पूर्णरूपसे किसी अन्य ग्रंथकी छाया लेकर ही कृतकार्य हो सकता है वह विद्वान चौरासी महान शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त करने वाले कुमुदचन्द्राचार्य सरीखे दिग्विजयी विद्वानको शास्त्रार्थ में पराजित कैसे कर सकता है? यह प्रश्न विचारणीय है।

श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरिका शास्त्रार्थ.

अब हम प्रसङ्गवश श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि के शास्त्रार्थपर प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें यह बात लिखी हुई है कि श्री कुमुदचन्द्राचार्य दिगम्बर सम्प्रदायके एक बहुत भारी प्रतिभाशाली विद्वान् थे उन्होंने भिन्न भिन्न ८४ प्रसिद्ध स्थानोंपर उद्भट अजैन विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको हराया था और जैनधर्मका यश फैलाया था। उन ही दिग्विजयी कुमुचन्द्राचार्यने अणहिल्लपुरके शासक जयसिंह राजकी राजसभाके श्वेताम्बरीय आचार्य देवसूरिके साथ शास्त्रार्थ किया था जिसमें कि कुमुदचन्द्राचार्य हारे थे और देवसूरि जीत गये थे। अत एव कुमुदचन्द्राचार्यको अपमानित करके नगरके अपद्वारसे बाहर निकाल दिया गया था।

इस समय तक जितने भी दिगम्बरीय ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमेंसे किसी भी ग्रंथमें इस शास्त्रार्थके विषयमें कुछ भी उल्लेख नहीं है। इस कारण इस शास्त्रार्थके विषयमें दिगम्बरीय शास्त्रोंके आधारपर कुछ नहीं लिखा जा सकता।

दिगम्बरीय ग्रंथोंके शिवाय इतर कोई अजैन निष्पक्ष ऐतिहासिक ग्रंथ भी श्री कुमुदचन्द्राचार्य के शास्त्रार्थमें हार जानेको प्रमाणित नहीं करता है। इस कारण किसी निष्पक्ष पुष्ट प्रमाणसे भी श्री कुमुदचन्द्राचार्यका पराजय सिद्ध नहीं होता है।

अतएव इस बातपर विचार दो प्रकारसे ही हो सकता है एक तो श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके आधारपर, कि उनमें जो श्री कुमुदचन्द्राचार्यके हार जानेका विवरण लिखा है वह बनावटी असत्य एवं केवल हुल्लड़बाजी ही है या कि सचमुच ठीक है? दूसरे—युक्ति कसौटी पर इस बातकी परीक्षा की जा सकती है कि वास्तवमें श्रीकुमुदचन्द्राचार्य उस शास्त्रार्थमें हार सकते थे अथवा हारे थे या नहीं। इन दो मार्गोंसे विचार करनेपर शास्त्रार्थमें देवसूरि श्वेताम्बरीय आचार्यसे

दिगम्बरीय आचार्य श्री कुमुदचन्द्राचार्यके हार जानेकी बात सत्य है अथवा असत्य, यह सिद्ध हो जायगा ।

तदनुसार हम प्रथम ही कवि यशश्चन्द्र विरचित 'मुद्रितकुमुदचन्द्रप्रकरण' नामक श्वेताम्बरीय नाटक (वीर सं. २४३२ में बनारस से प्रकाशित) पर प्रकाश डालते हैं। यह नाटक केवल श्रीकुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरिके शास्त्रार्थके समस्त आद्योपांत विषयको प्रगट करनेके लिये बनाया गया है अत एव अन्य ग्रंथोंकी अपेक्षा इसी एक ग्रंथके आधारसे उक्त शास्त्रार्थके विषयमें बहुत कुछ निर्णय हो सकता है।

इस मुद्रितकुमुदचन्द्र नाटकके ८ वें पृष्ठपर श्री कुमुदचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें १३ पंक्तियोंकी संस्कृत गद्य लिखी है उसमें ग्रंथकारने स्पष्ट बतलाया है कि कुमुदचन्द्राचार्यने बंगाल, गुजरात, मालवा, निषध, सपादलक्ष, लाट आदि समस्त भारतवर्षीय विख्यात देशोंके उद्भट, वाग्मी विद्वानोंको शास्त्रार्थोंमें हराकर निर्मद कर दिया था। गद्यके अन्तमें लिखा है कि—

"जयतु ... चतुरशीतिविवादविजयार्जितोर्जितयशःपुञ्जसमर्जितचन्द्र, कुमुदचन्द्रनाम वादीन्द्र !"

अर्थात्—चौरासी शास्त्रार्थोंकी विजय से जिसने बहुत भारी कीर्तिसमूह प्राप्त किया है ऐसा कुमुदचन्द्र वादीश्वर जयवन्त हो ।

इसके आगे ९ वें पृष्ठपर कुमुदचन्द्राचार्यकी प्रशंसामें एक पद्य इस प्रकार लिखा है कि —

"जीयादसौ कुमुदचन्द्रदिगम्बरेन्द्रो दुर्वादिदन्तिमदनिर्दलनेन येन ।
भेजे मुदा चतुरशीतिविलासभङ्गीसम्भोगचारुकरणैः सततं जयश्रीः॥"

अर्थात्- वह कुमुदचन्द्र दिगम्बराचार्य विजयी हो जिसने वादिरूपी हाथियों का मद सुखा दिया है और चौरासी शास्त्रार्थोंमें बराबर भोगलेनेके कारण जयश्री (जीत) सदा जिसके साथ रहती है ।

यद्यपि यह कुमुदचन्द्राचार्यकी प्रशंसा उनके ही बन्दीद्वारा की गई है किन्तु यह बात भी असत्य नहीं कि वे इस प्रशंसाके पात्र थे। क्योंकि एक तो कुमुदचन्द्राचार्यकी विद्वत्ताकी प्रशंसा इसी रूपसे

अन्य श्वेताम्बरीय ग्रंथोंने भी की है और दूसरे यदि वास्तवमें कुमुद-चन्द्राचार्य ऐसे दिग्गज विद्वान न होते तो यह श्वेताम्बरीय नाटककार यहां भी उनकी विद्वत्ताकी प्रशंसा कदापि न करता जैसे कि उसने आगे भी नहीं की है। इस कारण मानना पड़ेगा कि श्री कुमुदचन्द्रा-चार्य कोई ऐसे वैसे साधारण विद्वान नहीं थे किन्तु व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयोंके असाधारण पंडित थे। इसी कारण उन्होंने बंगाल, मालवा आदि सर्वत्र देशोंमें बड़े बड़े वादियोंके साथ शास्त्रार्थ करके विजय पाई थी। कहीं भी किसी से वे हारे नहीं थे।

ऐसे प्रतिवादिभयंकर श्री कुमुदचन्द्राचार्यने सिद्धराज भूपति की राजसभामें देवसूरिके साथ शास्त्रार्थ किस ढंगसे किया यह मुद्रित-कुमुदचन्द्र नाटकके ४६, ४७ वें पृष्ठपर लिखा हुआ है।

कुमुदचन्द्रः—प्रयोगमुद्गृणाति।

देवसूरिः—(तं दूषयित्वा) वादिना हि द्वयं कार्यं, परपक्षविक्षेपः, स्वपक्षसिद्धिश्चेति, (स्त्रीनिर्वाणसिद्धये प्रयोगमारचयति)

(भावार्थ)—कुमुदचन्द्र—स्त्रीमुक्तिखंडनके लिए प्रयोग कहते हैं।

देवसूरि—उस प्रयोगको दूषित सिद्ध करके स्त्रीमुक्ति सिद्ध करनेके लिये प्रयोग करते हैं। वादीको परपक्षखंडन और स्वपक्षमंडन ये दोनो कार्य करने चाहिये।

कुमुदचन्द्रः—पुनरुच्यताम्।

देवसूरिः—प्रयोगं पुनः पठति।

कुमुदचन्द्रः—(सखेदकालुष्यम्) भूयोऽप्यभिधीयताम्।

देवसूरिः—पुनः प्रकाशयति।

अर्थात्—(देवसूरिके कहे हुए युक्तियुक्त प्रयोगको न समझ सकनेके कारण) कुमुदचन्द्रने कहा कि अपना प्रयोग फिर कहिये।

देवसूरी ने अपना प्रयोग फिर कह दिया।

कुमुदचन्द्र—(खेदखिन्न और घबड़ाकर प्रयोगको न समझ सकनेके कारण) प्रयोग फिर भी कहिये।

देवसूरि—फिर तीसरी बार कहते हैं।

अर्थात्—कुमुदचन्द्र तीसरी बार भी देवसूरिके कहे हुए प्रयोगको न समझकर अंटसंट तरहसे उसका खंडन करते हैं।

देवसूरिः—अस्य भवद्भाषितस्य अनवबोध एवोत्तरम्

देवसूरि—न समझना ही आपके इस कहनेका उत्तर है।

कुमुदचन्द्रः—लिख्यतां कठिने प्रयोगः।

अर्थात्—कुमुदचन्द्रने देवसूरिसे कहा कि आप पत्रपर अपना प्रयोग लिख दीजिये।

देवसूरिः—सोऽयं गुरुशिष्यन्यायः।

अर्थात्-देवसूरिने कहा कि लिखकर बतलाना गुरु शिष्योंके मध्य होता है।

महर्षिः देव! समाप्ता वादकथा, जितं श्वेतांबरेण, हारितं दिगम्बरेण, अतोप्यूदूर्ध्वं विकथनं पराभूतजृम्भारिसभे महाराजसदसि गोवधमनुबध्नाति।

महर्षि नामक सदस्यने कहा कि महाराज! शास्त्रार्थ समाप्त हो गया श्वेतांबर पक्षकी विजय और दिगम्बर पक्षकी हार हो गई। अब इससे आगे इस शास्त्रार्थको चलाना आपकी सभामें गोवधका अनुकरण होगा।

देवसूरिः—[अनूद्य तद्दूषणं च परिहृत्य स्वपक्षं स्थापयन् कोटाकोटिशब्दं प्रयुङ्क्ते]

अर्थात्-देवसूरिने कुमुदचन्द्रके कथनका अनुवाद करके अपने ऊपर आये हुए दूषणको हटाकर तथा अपना पक्ष जमाते हुए कोटाकोटि शब्दका प्रयोग किया।

कुमुदचन्द्रः—आः! अपशब्दोऽयम्।

यानी—कुमुदचन्द्रने कहा कि आपका कहा हुआ 'कोटाकोटि' शब्द अशुद्ध है।

उत्साहः—अन्तरिक्षाम्बर! मैवमाचक्षीथाः।

कोटाकोटिः कोटिकोटिः कोटीकोटिरिति त्रयः।
शब्दाः साधुतया हन्त सम्मताः पाणिनेरमी'।

(इति पाणिनिप्रणीतसूत्रं व्याकरोति)

अर्थात्:—उत्साह नामक सदस्यने कहा कि भो दिगम्बर यह बात मत कहो क्योंकि पाणिनिने कोटाकोटि, कोटिकोटि, कोटीकोटि ये तीनों शब्द ठीक बतलाये हैं।

देवसूरि:- आः स्वशास्त्रस्यापि न स्मरसि "अन्तःकोटाकोटिस्थितिके सति कर्मणि" इति।

देवसूरिने कुमुदचन्द्रसे कहा कि तू अपने शास्त्रके वाक्यको भी याद नहीं करता; वहां लिखा हुआ है कि "अन्तःकोटाकोटि सागरकी स्थितिवाले कर्मके रहजाने पर" इत्यादि।

इस प्रकार लिखते हुए देवसूरिकी विजय और कुमुदचन्द्राचार्यकी पराजय ग्रंथकारने प्रगट कर दी है।

उक्त ग्रंथलेखकका लिखना कितना पक्षपातपूर्ण है इसको एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

चूंकि कुमुदचन्द्राचार्य दिगम्बर साधु थे, और लेखक श्वेताम्बर साधुका उपासक था। इस कारण कुमुदचन्द्राचार्य सरीखे दिग्गज विद्वान को साधारण विद्वानसे भी गया बीता लिख दिखाया है। मानो उनको 'कोटाकोटि' शब्दका भी परिज्ञान नहीं था। देवसूरि जो कि प्रमाण नयतत्त्वालोकालंकार सरीखे साधारण ग्रंथको भी स्वतंत्ररूपसे अपनी प्रतिभाके आधार पर परीक्षामुखकी नकल किये विना नहीं बना सके उन देवसूरिको श्वेताम्बर साधु होनेके कारण बडा भारी उद्भट विद्वान कर दिया। ग्रंथलेखकने स्वयं ८ वें पृष्ठपर निम्नलिखित शब्दोंमें कुमुदचन्द्राचार्यकी प्रशंसा यों की है,

"जयतु जयतु कुन्तलकलाविदतुलाभिमानाचलदलनदम्भोलिदण्ड, चौडचतुरपाण्डित्यखण्डनप्रचण्ड, गौडगुणिगर्वसारङ्गशार्दूल, वङ्गविषयविदुषमुखकालुष्यमूल, निषिद्धनेपथबुधदर्पान्धकार, यशःशेषीकृतकान्यकुब्जविद्वज्जनाहङ्कार, विशदशारदादेशकोविदमदच्छेदवैदुष्यपात्र, प्राग्ल्भमालवीयकुशलशेमुषीकुशलतालवनदात्र, प्रकृतिवाचाटलाटमुखघटितमौनकपाट, कनकौङ्कणकविकुलोच्चाट, विक्षिप्तसपादलक्षदक्षपक्ष, जर्जरीकृत-

गुर्ज्जरजनगर्जितकक्ष, तार्किकचक्रचूडामणे, वैयाकरणकमलतरणे, छात्रीकृतच्छन्दश्छेक, साहित्यलतासुधासेक, सरस्वतीहृदयहार, श्वेतांबरविडम्बनप्रहसनसूत्रधार, चतुरशीतिविवादविजयार्जितोर्जितयशःपुञ्ज, समर्जितचन्द्र, कुमुदचन्द्रनाम वादीन्द्र !

अर्थात्—भो कुमुदचन्द्र नामक वादीन्द्र ! तुम्हारी जय हो जय हो । तुम कुन्तलदेशीय विद्वानोंके अतुल अभिमानरूपी पर्वतको चूर्ण करनेके लिये वज्र समान हो, चौड देशके चतुर पंडितोंका पांडित्य खंडित करनेके लिये प्रचंड हो, गौडदेशवासी विद्यावानोंके गर्वरूपी हरिणको नष्ट करनेके लिये सिंह समान हो, बंगालके विद्वानोंके मुखपर कालिमा पोतनेवाले हो, निषध देशके विद्वानोंके गर्वरूपी अन्धकारको दूर करने वाले हो, कान्यकुब्ज के उद्भट विद्वानोंका अलंकार तुमने निःशेष कर दिया है, शारदा देशके विद्वानोंका विद्यामद छेद डाला है, मालवा देशवासी प्रतिभाशाली पंडितोंकी कुशल बुद्धिकी चतुरता छेदनेके लिये तुम दांते (हांसिया) समान हो, लाट देशनिवासी वाचाल (बहुतबोलनेवाले) विद्वानोंके मुखको बंद करने वाले हो, तुमने कोंकण देशके कविवरोंको भगादिया है, सपादलक्ष देशके चतुर पंडितोंको विक्षिप्त बना दिया है, न्यायवेत्ता विद्वानोंमें सर्व श्रेष्ठ हो, वैयाकरण विद्वानोंमें सूर्यतुल्य हो, छन्दशास्त्रके विद्वानोंको आपने अपना शिष्य बना लिया है, साहित्यरूपी लता के सींचनेवाले हो, सरस्वतीके हृदयहार समान हो, श्वेताम्बरीय विद्वानोंका तिरस्कार करनेके सूत्रधार हो और आपने चौरासी ८४ शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त करके बहुत भारी यश उपार्जित किया है ।

अब पाठक महानुभाव स्वयं विचार करें कि जिन श्रीकुमुदचन्द्राचार्यने कुन्तल, चौड, गौड, बंगाल, निषध, कान्यकुब्ज, मालवा, लाट, सपादलक्ष, गुजरात, आदि प्रायः सभी भारतवर्षके देशोंमें पहुंचकर वहांके प्रसिद्ध नगरोंके विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी । कहीं भी पराजित नहीं हुए थे । तर्क, छन्द व्याकरण, साहित्य दर्शन आदि सभी विषयोंके असाधारण विद्वान थे, दो चार नहीं

किंतु चौरासी शास्त्रार्थ इसके पहले कर चुके थे। फिर भला स्वप्नमें भी कोई बुद्धिमान निष्पक्ष पुरुष यह संभावना कर सकता है कि वास्तवमें कुमुदचन्द्राचार्य 'कोटाकोटि' शब्दको भी नहीं समझ पाते थे? देवसूरिके पक्षप्रयोगका ठीक अवधारण कर उसका उत्तर भी नहीं दे सकते थे? तथा जो देवसूरि शास्त्रार्थ करनेमें कुमुदचन्द्राचार्यके समान न तो पटु थे और न प्रसिद्ध शास्त्रार्थ विजेता एवं यशस्वी ही थे, जिन देवसूरिने प्रमाणनयतत्वालोकालंकार ग्रंथका निर्माण अपनी प्रतिभाशक्तिसे न कर सकनेके कारण परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रंथका आधार लिया। वे साधारण विद्वत्ताके अधिकारी देवसूरि दिग्विजयी पंडित कुमुदचन्द्राचार्य पर विजय पागये। इस बातको यदि "कूंजड़ा अपने खट्टे बेरोंको भी मीठा बताता है" इस कहावतका अनुसरण कहा जावे तो कुछ अनुचित नहीं।

वादीकी अथवा प्रतिवादीकी जय या पराजय उनकी अकाट्य युक्तियोंपर निर्भर होता है। तदनुसार यदि वास्तवमें देवसूरिने चौरासी शास्त्रार्थोंके विजेता कुमुदचन्द्राचार्यको हराया था तो नाटककार को अथवा अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रंथकारको वे २—४ प्रबल युक्तियां तो लिखनी थीं जिनका प्रत्युत्तर कुमुदचन्द्राचार्य नहीं दे सके। किन्तु उस युक्तिजाल का नाममात्र भी उल्लेख न करके केवल 'कोटाकोटि' शब्दपर हार जीतका निर्णय दे दिया है। मानो दिग्विजयी विद्वान श्री कुमुदचन्द्राचार्यको उतना भी व्याकरणबोध नहीं था। पक्षपातवश न्याय्य बातपर परदा डाल देना इसीको कहते हैं।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंके लिखे अनुसार दिग्विजेता श्री कुमुदचन्द्राचार्य और परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय न्याय ग्रंथकी नकल करके प्रमाणनयतत्वालंकार पुस्तकके बनानेवाले श्री देवसूरिकी विद्वत्ताकी तुलना करते हुए तथा देवसूरि द्वारा प्रतिपादित दो—एक भी प्रबलयुक्तिका अभाव देखकर यह कहना पडता है कि चौरासी प्रबल शास्त्रार्थोंके विजेता प्रकाण्ड विद्वत्ताके अधिकारी श्री कुमुदचन्द्राचार्यके देवसूरि द्वारा पराजित होनेकी बात सर्वथा असत्य है।

हां यह हो सकता है कि गत दो वर्ष पहले श्वेताम्बर जैन पत्रमें हेमचन्द्राचार्यका जो जीवनचरित प्रकाशित हुआ था उसके लिखे अनुसार जिस राजसभामें शास्त्रार्थ हुआ था वहांके राजमंत्री, सदस्य तथा स्वयं राजातक देवसूरिके भक्त थे। तथा हेमचन्द्राचार्यने रानीको भी 'कुमुदचन्द्राचार्य स्त्रियोंको मुक्ति होना निषेध करते हैं' ऐसी बातों द्वारा बहकाकर कुमुदचन्द्राचार्यके विरुद्ध कर दिया था। इस प्रकार समस्त उपस्थित जनता एक देवसूरिके पक्षमें थी। वहांपर यदि हुल्लडबाजीके नामपर कुमुदचन्द्राचार्यकी पराजय कह दी गई हो तो अन्य बात है। वास्तवमें विद्वत्ता तथा अखंड युक्ति जालसे कुमुदचन्द्राचार्य पराजित नहीं हुए यह समस्त उपलब्ध सामग्रीसे सिद्ध होता है।

साहित्य विषयकी नकल.

अब हम इस विषयपर प्रकाश डालते हैं कि साहित्य ग्रंथोंकी रचनामें भी अनेक श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंने दिगम्बरीय ग्रंथोंकी छाया ली है। इस कारण साहित्य विषयमें भी श्वेताम्बरीय ग्रंथ दिगम्बरीय साहित्य ग्रंथोंसे अधिक महत्व नहीं रखते। इस विषयको सिद्ध करनेके लिये हम केवल एक साहित्य ग्रंथका नमूना पाठक महाशयोंके सामने रक्खेंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हेमचन्द्राचार्य एक अच्छे प्रभावशाली विद्वान हो गये हैं। उन सरीखा कोई अन्य विद्वान कलिकालमें नहीं हुआ ऐसा सब श्वेताम्बरी भाई मुक्तकंठ से कहते हैं। इसी कारण इनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' भी श्वेताम्बरी भाई कहते हैं। ये हेमचन्द्राचार्य प्रमाणनयतत्वालोकालंकार ग्रंथके रचयिता देवसूरि के समकालीन बारहवीं विक्रम शताब्दीमें हुए हैं। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष आदि अनेक ग्रंथ बनाये हैं।

उन्हीं ग्रंथोंमेंसे उन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक एक साहित्य ग्रंथ भी लिखा है। ग्रंथ यद्यपि अपने विषयका एक अच्छा ग्रंथ है किंतु इसमें भी सन्देह नहीं कि यह ग्रंथ दिगम्बरीय महाकवि वाग्भट विरचित काव्यानुशासन ग्रंथकी खासी नकल है। महाकवि वाग्भट

हेमचन्द्राचार्यसे पहले हुए हैं और इन्होंने 'नेमिनिर्वाण, वाग्भटालंकार ऋषभदेवचरित आदि अनेक महाकाव्य, अलंकार, वैद्यक आदि ग्रंथ निर्माण किये हैं। इन्होंने काव्यानुशासन नामक साहित्य ग्रंथ गद्यरूपमें लिखकर स्वयं उसकी टीका भी लिखी है। इसी ग्रंथकी छाया लेकर हेमचन्द्राचार्यने भी गद्यरूपमें स्वोपज्ञटीकासहित उसी नामका 'काव्यानुशासन' ग्रंथ लिखा है। देखिये—

कवि वाग्भट्टने प्रथम ही काव्यरचनाका उद्देश बतलाया है—

काव्यं प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च।

इसके स्थानपर हेमचन्द्राचार्यने पहला सूत्र यह लिखा है—

'काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च'

उपर्युक्त दोनों वाक्य बिलकुल समान हैं। दो एक शब्दोंका अन्तर है।

काव्यरचनाका हेतु कविवर वाग्भट्टने यह लिखा है—

'व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कृता प्रतिभास्य हेतुः'

इसके स्थानपर हेमचन्द्राचार्यने यों लिखदिया है—

'प्रतिभास्य हेतुः'

अभ्यासका लक्षण वाग्भट्टने यह किया है—

काव्यज्ञशिक्षया परिशीलनमभ्यासः

इसीको हेमचन्द्राचार्यने यों लिख दिया है—

काव्यविच्छिक्षया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः

काव्यका लक्षण वाग्भट्टने यह लिखा है कि—

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्

हेमचन्द्राचार्यने इसको यों लिख दिया है—

अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्

काव्यके दोष वाग्भट्टने ये बतलाये हैं—

निरर्थकनिर्लक्षणाश्लीलाप्रयुक्तासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटुक्लिष्टा-

विमृष्टविधेयांशविरुद्धबुद्धिकृन्नेयार्थनिहितार्थाप्रतीतग्राम्यसंदिग्धावा-
चकत्वानि शब्ददोषाः पदे वाक्ये च भवन्ति ।

इसके स्थानपर हेमचन्द्राचार्यने यह लिखा है ।

अप्रयुक्ताश्लीलासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटुक्लिष्टाविमृष्टविधेयां-
शविरुद्धबुद्धिकृत्वान्युभयोः ।

दोनों वाक्य एक सरीखे हैं । इसके आगे अलंकारोंके लक्षण भी हेमचन्द्राचार्यने वाग्भट्ट कविके लिखे हुए लक्षणों सरीखे ही किये हैं । रूपकालंकारको देखिये—

साहश्याद्भेदेनारोपो रूपकम् ।

हेमचन्द्राचार्यने इसको यों लिख दिया है—

साहश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्

दोनों लक्षण शब्द अर्थसे समान हैं । अर्थान्तरन्यास अलंकारका लक्षण महाकवि वाग्भट्टने यह किया है—

विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः साधर्म्येण वैध-
र्म्येण च

इसके स्थानपर हेमचन्द्राचार्य यों लिख गये हैं—

विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां समर्थनमर्थान्तर-
न्यासः ।

दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं । स्मृति अलंकारका लक्षण जब वाग्भट्ट कविने यह लिखा है—

सदृशदर्शनात्पूर्वार्थस्मरणं स्मृतिः

तब हेमचन्द्राचार्यने भी उसको यों लिख दिया है—

सदृशदर्शनात्स्मरणं स्मृतिः

परिसंख्यालंकार वाग्भट्टने यह लिखा है—

पृष्टमपृष्टं वा यदन्यव्यवच्छेदपरतयोच्यते सा परिसंख्या ।

इसकी नकल हेमचन्द्राचार्यने यों की है —

पृष्टेऽपृष्टे वान्यापोहपरोक्तिः परिसंख्या

दोनों समान हैं । संकर अलंकारको जब महाकवि वाग्भट्टने इन शब्दोंमें लिखा है—

स्वातंत्र्येणाङ्गत्वेन संशयेनैकपद्येनवा अलंकाराणामेकत्रावस्थानं संकरः।

इसकी नकल हेमचन्द्राचार्यने इन शब्दोंमें की है—

स्वातन्त्र्याङ्गत्वसंशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः संकरः।

दोनों लक्षण बिलकुल एक सरीखे हैं। इसी प्रकार अन्य अलंकारोंके लक्षण भी हेमचन्द्राचार्यने कतिपय शब्दोंके हेरफेरसे महाकवि वाग्भट्टके उल्लिखित लक्षणोंको ही लिख दिखाया है।

इसके पीछे यदि रसोंके लक्षणोंपर दृष्टिपात किया जाय तो वहांपर भी यह ही हाल है। वहांपर तो हेमचन्द्राचार्यने कविवर वाग्भट्ट के उल्लिखित लक्षणोंकी समूची ज्योंकी त्यों नकल कर डाली है। प्रथम ही करुणरसको देखिए, वाग्भट्टने लिखा है—

इष्टवियोगानिष्टसं [प्र] योगविभावो दैवोपालंभनिःश्वासतानवमुखश्लेषस्वरभेदाश्रुपातवैवर्ण्यप्रलयस्तम्भ (वै) कम्पभूलुठनविलापगात्रां-शाद्यनुभाव निर्वेदग्लानिचिंतौत्सुक्यमोहश्रमत्रासविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्यमरणप्रभृतिदुःखमयव्यभिचारी चित्तवैधुर्यलक्षणः शोकाभिधानः स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतः करुणरसतां याति।

इसके स्थानपर हेमचंद्राचार्यने जो कुछ लिखा है वह उनके काव्यानुशासनके ७६ वें पृष्ठपर यों है—।

इष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगविभावो दैवोपालम्भनिःश्वासतानवमुखशोषणस्वरभेदाश्रुपातवैवर्ण्यप्रलयस्तम्भकम्पभूलुठनगात्रस्रंसाक्रंदाद्यनुभावो निर्वेदग्लानिचिन्तौत्सुक्यमोहश्रमत्रासविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्य-मरणप्रभृतिदुःखमयव्यभिचारी चित्तवैधुर्यलक्षणः शोकः स्थायीभावश्चर्वणीयतां गतः करुणो रसः

उपर्युक्त दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं इसको साधारण पुरुष भी समझ सकता है। इसके पीछे वीररस का लक्षण वाग्भट्ट कविने इन शब्दोंमें किया है—

प्रतिनायकवर्तिनयविनयसंमोहाध्यवसायबलशक्तिप्रतापप्रभावविक्रमाधिक्षे-पादिविभावः स्थैर्यौदार्यधैर्यगाम्भीर्यशौर्यविशारदाद्यनुभावो धृतिस्मृत्यौग्र्यग-

र्वामर्षमत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साहाभिधानः स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो वीररसतां याति ।

इसकी प्रतिलिपि हेमचन्द्राचार्यने अपने काव्यानुशासनके ७७ वें पृष्ठपर यों की है—

प्रतिनायकवर्तिनयविनयासंमोहाध्यवसायबलशक्तिप्रतापप्रभावविक्रमा-धिक्षेपादिविभावः स्थैर्यधैर्यशौर्यगाम्भीर्यत्यागवैशारद्याद्यनुभावो धृतिस्मृत्यौ-ग्र्यगर्वामर्षमत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साहः स्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो धर्मदानयुद्धभेदात्रेधा वीरः ।

इन दोनों लक्षणोंमें भी रंचमात्र अन्तर नहीं । वीरके जो तीन भेद यहां अधिक जोडे हैं वे भी वाग्भट्टने आगे बताये हैं । इसी प्रकार बीभत्स रसके लक्षण भी देखिये । महाकवि वाग्भट्टने अपने काव्यानुशासनके ५६ वें पृष्ठपर इस रसका लक्षण यों लिखा है—

अहृद्यानामुद्भ्रान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीनां दर्शनश्रवणादिविभावोऽङ्गसंको-चहृल्लासनासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावोऽपस्मारौग्र्यमोहगदादि-व्यभिचारी जुगुप्साभिधानःस्थायिभावश्चर्वणीयतां गतो बीभत्सतामाप्नोति ।

इस गद्यकी हूबहू नकल हेमचन्द्राचार्यने अपने काव्यानुशासनके ७९ वें पृष्ठपर इस प्रकार की है—

अहृद्यानामुद्भ्रान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीनां दर्शनश्रवणादिविभावा अङ्ग-सङ्कोचहृल्लासनासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावाऽपस्मारौग्र्यमोह-गदादिव्यभिचारिणी जुगुप्सा स्थायिभावरूपा चर्वणीयतां गता बीभत्सः ।

पाठक महानुभाव स्वयं समझ सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों गद्योंमें शब्द तथा अर्थ रूपसे कुछ भी अन्तर नहीं है । इसी प्रकार अद्भुत, भयानक, शान्त, रौद्र आदि रसोंका लक्षणरूप गद्य भी परस्पर बिलकुल मिलता है । उसको पाठक स्वयं दोनों ग्रंथ सामने रखकर मालूम कर सकते हैं । एवं अन्य अनेक बातें भी इन दोनों काव्यानुशासनोंकी आपसमें गद्य, पद्य अर्थरूपसे मिलती जुलती हैं । जिससे कि निःसन्देह यह सिद्ध होजाता है कि हेमचन्द्राचार्यने महाकवि वाग्भट—विरचित काव्यानुशा-सनकी प्रतिलिपि करके ही अपना काव्यानुशासन ग्रंथ बनाया है ।

इसके सिवाय कलिकालसर्वज्ञ पदवीप्राप्त हेमचन्द्राचार्यने सिद्ध-हैम शब्दानुशासन नामक व्याकरण भी दिगम्बरीय आचार्योंके निर्माण किये हुए व्याकरणोंकी नकल करके बना दिखाया है। शाकटायन तथा जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्र भाष्य आदिकी आद्योपान्त नकल की है। स्वतन्त्ररूपसे मौलिक ग्रंथ नहीं बनाया है।

नवीन-नकल

अब हम आज २०-२२ वर्ष पहले होनेवाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री आत्मारामजीके विषयमें ऐसा ही एक उदाहरण पाठकोंके सामने रखकर इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

श्वे० आचार्य आत्मारामजीको श्वेताम्बरी भाई कलिकालसर्वज्ञ कहते हैं। सम्यक्त्वशल्योद्धार आदि छपे हुए ग्रंथोंके ऊपर यह पदवी छापी भी गई है इसी कारण कमसे कम यह तो अवश्य मानना पडेगा कि ये श्वे० आचार्य भी बहुत भारी विद्वान हुए होंगे इन्होंने कई ग्रंथ लिखे हैं। तदनुसार अनेक पद भी बनाये हैं जो कि श्वेताम्बर आम्नायमें बहुत प्रचलित हैं। सौभाग्यसे आपके रचे हुए पदोंकी संग्रह रूप छपी हुई पुस्तक हमे भी मिल गई जिसका नाम प्रकाशकने 'श्री ६ सम्वेगी आनंदविजे जी प्रसिद्ध श्री आत्मारामजी कृत सत्रा भेदी पूजा स्तवन' रक्खा है।

यह पुस्तक जौहरी हजारीमल रामचन्द्रने काशीमें लीथो प्रेससे माघ

१-टीप अधिक न लिखकर हम केवल उदाहरण देते हैं। जैनेंद्र व्याकरणके कर्ता, हेमचंद्रसे बहुत ही पुराने है और अष्ट महाव्याकरणोंमें जैनेन्द्रका ही उल्लेख आया है। इस जैनेंद्रका प्रथम सूत्र है—

'सिद्धिरनेकान्तात्'।

इसकी नकल हेमचंद्रने की है वह,

'सिद्धिः स्याद्वादात्'।

क्या इन दोनों सूत्रोंमें जरा भी फर्क कहा जा सकता है? नहीं।
इसी प्रकार ज्ञानार्णवकी नकल योगार्णव है।

सुदी १२ रविवार संवत् १९३९में छपवाई है। इस कारण यह स्वयं सिद्ध हो गया कि यह पुस्तक श्री श्वे० आचार्य आत्मारामजीके जीवनकालमें यानी उनके सामने ही छप गई थी। क्योंकि आत्मारामजीका स्वर्गवास संवत १९५३ में हुआ था। इस कारण उनके देहावसान होनेके १४ चौदह वर्ष पहले उपर्युक्त पुस्तक छप गई थी।

अनेक सज्जनोंने कहा था कि श्वे० आचार्य आत्मारामजीने दिगम्बरीय कवि पं. द्यानतरायजी आदिके बनाये हुए पदोंकी नकल करके अपने नामसे अनेक पद लिख दिये हैं। इस बातकी सत्यता जांचनेके लिये हमने उक्त पुस्तकके पदोंका स्व० कविवर द्यानतरायजी विरचित द्यानतविलासके पदोंके साथ मिलान किया तो उन महाशयोंका कथन सत्य पाया। मुनि आत्मारामजीने द्यानतरायजीके पदोंकी नकल की है। अन्य भी दिगम्बरी कवियोंकी कविताओंकी नकल की हो इस अनुमानको हम सत्य या असत्य नहीं कह सकते क्योंकि इस विषयमें हमने अधिक अनुसन्धान नहीं किया।

इस विषयमें पाठक महानुभावोंके समक्ष एक पद उपस्थित करते हैं जो कि स्व० पं० द्यानतरायजीने बनाया था और उसकी मुनि आत्मारामजीने नकल की। इसके पहले पाठकोंको यह बतलाना आवश्यक है कि स्वर्गीय पं. द्यानतरायजीका जन्म विक्रम सं. १७३७ में हुआ था और उन्होंने द्यानतविलास संवत् १७८० में बनाकर समाप्त किया था। श्वेताम्बरीय आचार्य आत्मारामजीका जन्म संवत १८९३ में हुआ था। इस प्रकार स्वर्गीय कविवर द्यानतरायजी आत्मारामजीसे १५० डेढसौ वर्ष पहले हुए हैं।

उन्होंने अपने विलासमें एक यह पद लिखा है—

ब्रह्मज्ञान नहीं जाना रे भाई, ब्रह्मज्ञान नहीं जाना रे।

इसी पदकी नकल करके मुनि आत्मारामजी ने यह पद बनाया है—

ब्रह्मज्ञान नहीं जान्या रे तैंने, ब्रह्मज्ञान नहीं जान्या रे।

द्यानतरायजीने लिखा है कि—

तीन लोकके सब पुद्गल तैं, निगल निगल उगलाना रे।

छर्दि डारके फिर तू चाखै, ऊजै तेहि न गिलाना रे ॥

आत्मारामजीने नकल करके इसको यों लिखा है—

सब जगमाही जेता पुद्गल, निगल निगल उगलानारे।
छरद डारकर फिर तू चाखे, उपजत नाहीं ग्लानारे ॥

पाठक महाशय स्वयं विचार करें, क्या इन दोनोंमें कोई अन्तर है ?

इसके आगे द्यानतरायजीने लिखा है—

आठ प्रदेशविना तिहुं जगमें, रहा न कोय ठिकानारे।
उपज्या मरा जहां तू नाहीं, सो जाने भगवाना रे ॥

इसके स्थानपर आत्मारामजीने यों लिखा है—

चौदा भुवनमें एक तिलमात्र, कोइ न रह्या ठीकाणारे।
जनम मरण दोयचार अनंते, जहां न जिया कराना रे ॥

इन दोनों पद्योंमें केवल 'तिहुं जग और चौदा भुवन' का शेष सब समान है। और जो 'चौदह भुवन' शब्द बदला वह वे शिरपैरका। चौदह भुवन कौनसे हैं यह मालूम नहीं हुआ ?

तदनन्तर पं. द्यानतरायजीने लिखा है—

तोहि मरणतैं माता रोई, आंसूजल सग लानारे।
अधिक होय सब सागरसेती, अज हूं त्रास न आना रे ॥

इस पद्यकी नकल मुनि आत्मारामजीने इन शब्दोंमें की है—

जनम जनममें माता रोई, आंसूनासंख कराना रे।
होय अधिक ते सब सागरथी, अजहू चेत अज्ञानारे ॥

इन दोनों पद्योंमें कुछ भी अन्तर नहीं। द्यानतरायजीके पद्यकी २—१ शब्दके फेरफारसे पूरी नकल है।

यह एक पद है जो कि अकस्मात् हमारी दृष्टिमें आगया। संभव है इसी प्रकार मुनि आत्मारामजीने अन्य कविताएं भी दिगम्बरी कवियोंकी कविताओंकी नकल करके अपने नामसे लिख दी होंगी। अस्तु।

इस प्रकरणके लिखनेका हमारे अभिप्राय केवल इतना ही है कि, हमारे अनेक श्वेतांबरीय भाई यह कह दिया करते हैं तथा

अनेकोंका खयाल है कि " हमारे श्वेतांबरीय ग्रंथ सबसे प्राचीन हैं, खास गणधरोंके रचे हुए हैं दिगम्बरी विद्वानोंने उसकी नकल करके अपने ग्रंथ बनाये हैं " । उनकी यह धारणा सर्वथा असत्य है । जैन ग्रंथोंका लेखन जिस समय प्रारम्भ हुआ उस समय प्रथम ही दिगम्बरीय ऋषियोंने ही सिद्धान्त शास्त्र बनाये । उनके पीछे श्वेताम्बरीय शास्त्रोंकी रचना हुई है इस बातको हम श्वेताम्बरीय शास्त्रोंसे ही सिद्ध करते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना प्रारम्भ होनेके विषयमें प्रसिद्ध श्री श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजीने अपने तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथके सातवें पृष्ठपर लिखा है कि,

" सूत्रार्थ स्कंदिलाचार्यने संधान करके कंथाग्र प्रचलित करा था सो ही श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजीने एक कोटी (१०००००००) पुस्तकोंमें आरूढ करा । "............

' श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजीने जो लिखे सो अन्य गतिके न होनेसे और सर्वज्ञान व्यवच्छेद होनेके भयसे और प्रवचन की भक्तिसे लिखे हैं "

इससे यह निश्चित सिद्ध हो गया कि श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने ही श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना की नींव डाली। उनके पहले मुनि आत्माराम जीके कथनानुसार श्वेताम्बरीय शास्त्र कंठस्थ थे, ग्रंथस्थ नहीं थे ।

श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजी किस समय हुए इस बातको उक्त कलिकालसर्वज्ञ मुनि आत्मारामजीने तत्वनिर्णयप्रासादके ५५४ वें पृष्ठपर यों लिखा है-

" प्रथम सर्व पुस्तक ताडपत्रोपरि लिखने लिखाने वाले श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण पूर्वके ज्ञानके धारक हुए हैं वे तो श्री वीरनिर्वाणसे ९८० वर्ष पीछे हुए हैं । "

श्वेताम्बरीय आचार्य आत्मारामजी श्वेताम्बरी भाइयोंके लिखे अनुसार ' कलिकालसर्वज्ञ ' थे इस कारण वे श्वेताम्बरीय सिद्धान्तका विषय कोई अन्यथा लिख सकते हैं ऐसा हम तथा हमारे श्वेताम्बरी भाई

नहीं स्वीकार कर सकते । अतः मानना होगा और हमारी निजीभी धारणा है कि " श्वेताम्बरीय ग्रंथ विक्रम संवतकी छठी शताब्दीसे बनने प्रारम्भ हुए हैं ।" यह ही सुनिश्चित विश्वास हमारे श्वेताम्बरीय भाइयोंका है । क्योंकि उनके श्रद्धास्पद मुनि आत्मारामजी स्पष्ट लिखते हैं कि पहले ग्रंथ कंठाग्र रक्खे जाते थे, लिखे नहीं जाते थे । फिर स्मरण-शक्तिकी निर्बलता देख कर "देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणजीने जो उनको अपनी गुरुपरम्परासे स्मरण था उसको सुरक्षित रूपसे चलानेके लिये ग्रंथोंमें लिखकर रख दिया । देवर्द्धिगणीक्षमाश्रमणजी मुनि आत्मारामजी के ही लिखे अनुसार वीर निर्वाणसे ९८० वर्ष पीछे यानी विक्रम संवत के ५१० पांचसौ दश वर्ष व्यतीत हो जानेपर हुए थे । इसका तात्पर्य यही निकला कि श्वेताम्बरीय ग्रंथरचना देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण जी द्वारा विक्रम संवतकी छठी शताब्दीमें हुई; इसके पहले उनका कोई भी ग्रंथ नहीं बना था ।

परन्तु दिगम्बरीय ग्रंथोंका निर्माण विक्रम संवत् से भी पहले सुरू हुआ है । श्री भूतबलि आचार्यने सबसे प्रथम 'षट्खंड आगम' नामक ग्रंथ बनाया था । श्री भूतबलि आचार्य श्री कुंदकुंदाचार्यसे बहुत वर्ष पहले हुए हैं जब कि श्री कुंदकुंदाचार्य जिन्होंने कि सम-यसार आदि अनेक ग्रंथ लिखे; वे विक्रम संवतकी पहली शताब्दीमें यानी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणोंसे विक्रम संवत् ४९, में हुए हैं ।

तात्पर्य—इस कारण सिद्ध हो गया कि श्वेताम्बरीय शास्त्रोंके निर्माण होनेसे सैकडों वर्ष पहले दिगम्बरीय ऋषियोंने अनेक ग्रंथ बना दिये थे ।

सिद्धांत विरुद्ध कथन.

भोगभूमिजका अकाल मरण.

कुछ आयुकाल शेष रहने पर विष, शस्त्र आदि किसी आकस्मिक कारण से आयुसमाप्तिके प्रथम ही जो मृत्यु हो जाती है उसको अका-लमरण कहते हैं । अकालमरण कर्मभूमिवाले साधारण जो त्रेसठशलाका पुरुषोंमेंसे न हों ऐसे मनुष्य पशुओंकाही होता है । शेष किसीका नहीं होता । इस सिद्धान्त को श्वेताम्बर संप्रदाय भी स्वीकार करता है ।

किन्तु फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रंथों में भोगभूमिवाले मनुष्योंके अकालमरणका उल्लेख पाया जाता है ऐसे उल्लेखको सिद्धान्तविरुद्धही कहना चाहिये।

कल्पसूत्रके सप्तम व्याख्यानमें भगवान ऋषभनाथका चरित वर्णन करते हुए भगवानकी पत्नी सुनंदाके विषयमें वह ग्रंथकार लिखता है कि—

"कोइक युगलीआंने तेमनां मातापिताए तालवृक्षनी नीचे मुक्युं हंतुं ते तालवृक्षनुं फल नीचे पडवाथी पुरुष मृत्यु पाम्यो। अने एवी रीते पेहेल्जुं अकालमृत्यु थयुं।"

अर्थात्—किसी एक युगलियाको [स्त्री पुरुषको] उनके माता-पिताने तालवृक्षके नीचे छोड दिया था। उस समय तालवृक्षका फल शिरपर गिरनेसे पुरुषका मरण हो गया। इस प्रकार यह पहलीही अकाल मृत्यु हुई है।

इस अकाल मरणसे मरे हुए पुरुषकी स्त्रीके साथही भगवान् ऋषभनाथका विवाह किया गया, नाम सुनंदा रक्खा गया। इस प्रकार यदि उस समयकी अपेक्षासे इस बातका विचार करें तो अकाल मृत्युसे मरे हुए उस भोगभूमियाकी वह स्त्री बच गई। और उस स्त्री के साथ भगवान ऋषभदेवने विवाह किया।

यह भोगभूमिया मनुष्यकी अकाल मृत्यु बतलाना सिद्धान्त विरुद्ध है क्योंकि स्वयं श्वेतांबरीय सिद्धान्तशास्त्र ही भोगभूमिया मनुष्य तिर्यंचकी अकालमृत्युका निषेध करते हैं। आचार्य उमास्वामि विरचित तत्वार्थाधिगमसूत्रके दूसरे अध्यायके ५२ वें सूत्रमें बतलाया है—

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषो ऽनपवर्त्यायुषः।

अर्थात्—औपपादिक, [देव, नारकी] उत्तम चरमशरीरी (त्रेसठ शलाका पुरुष) और असंख्यात वर्षोंकी आयुवाले (भोगभूमिया) मनुष्य तिर्यंचोंकी अकालमृत्यु नहीं होती है।

इसी सूत्रकी सिद्धसेनगणिप्रणीत संस्कृत टीकामें "असंख्येय-वर्षायुषः" का खुलासा २२३ वें पृष्ठपर यों किया है।

"कर्मभूमिषु च ये मनुष्याः प्रथमद्वितीयतृतीयसमासु यदा

भवन्त्यसंख्येयवर्षायुषस्तदा तेऽनपवर्त्यायुषो मन्तव्याः।" अर्थात्-कर्म-भूमियोंमें [भरत, ऐरावत, पूर्व पश्चिम विदेहोंमें] जो मनुष्य पहले दूसरे तीसरे समयमें जब उत्पन्न होते हैं तब वे असंख्यात वर्षोंकी आयुवाले होते हैं और तब ही वे अनपवर्त्यआयुवाले यानी अकाल-मृत्युसे न मरनेवाले होते हैं।

इस प्रकार तत्वार्थाधिगम सूत्रके अटल, अमिट सिद्धान्तके विरुद्ध कल्पसूत्रका कथन ठहरता है। दोनों ही ग्रंथ श्वेतांबर सम्प्रदायमें ऋषि-प्रणीत माने जाते हैं किन्तु एकके प्रामाणिक माननेपर दूसरा अप्रामाणिक ठहरता है।

भोगभूमियाका नरकगमन.

श्वेताम्बरीय ग्रंथोंने १० अछेरे (आश्चर्यजनक बातें) बतलाये हैं उनमेंसे ७ वां अछेरा हरिवंशकी उत्पत्ति वाला इस प्रकार है।

कौशांबी नगरमें सुमुख राजा था। उसी नगरमें वीरकुविन्द नामक एक सेठ रहताथा। उसकी स्त्री वनमाला वहुत सुन्दरी थी। एक दिन राजाने उसकी सुन्दरता देख कामासक्त होकर दूतीके द्वारा उसको अपने घर बुला लिया। राजाके घर पहुंचकर वनमाला भी राजाके साथ रहने लगी। वीर कुविन्दने जब अपनी स्त्रीको घरपर नहीं पाया तो वह उसके प्रेमसे विव्हल होकर इधर उधर घूमने लगा। मरण समीप आनेपर उसने कुछ अपने भाव अच्छे बना लिये इस कारण वह मरकर सौधर्म स्वर्गमें किल्विषक देव हुआ। उप सुमुखराजा और वनमालाके ऊपर बिजली गिरी जिससे वे दोनों मरकर हरिवर्ष क्षेत्रमें युगलिया [भोगभूमिया] उत्पन्न हुए। वीर कुविन्दके जीव किल्विषक देवने अवविज्ञानसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त विचार करके उस पूर्वभवमें अपने असह्य संतापका कारण सुमुख राजा और अपनी स्त्री वनमालाको समझा। तदनुसार उन दोनोंको अपना शत्रु समझकर उनसे बदला लेनेके लिये हरिवर्ष क्षेत्रमें आया। वहां आकर उसने उस भोगभूमिया युगल को भोग-भूमिके सुखोंसे वंचित करनेके लिये तथा अकालमरण कराकर उसको (स्त्री, पुरुषको) नरक भेजनेके लिये वहांसे उठाकर इस भरतक्षेत्रकी चंपा नगरीमें लाकर रख दिया।

उस समय वहांका राजा मर गया था उसका उत्तराधिकारी कोई पुत्र नहीं था इस कारण उस देवने उस राजसिंहासनपर उस भोगभूमिया युगलको बैठा दिया। नरक आयुका बंध करानेके लिये उसने उन दोनोंको (स्त्री पुरुषको) मद्य, मांस खिलाया तथा अपनी शक्तिसे उनकी आयु थोडी करके उनको नरक भेज दिया। उस राजाके वंशका नाम ' हरिवंश ' प्रसिद्ध हुआ।

इसी बातको समाप्त करते हुए कल्पसूत्रकारने कल्पसूत्रके १९ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

" तेथी ते बंनेने हुं दुर्गतिमां पाडुं, आवुं चिंतवी पोतानी शक्तिथी देह संक्षेप करी तेओने अहीं लाव्यो लावीने राज्य आपी तेमोने सात व्यसन शीखडाव्या। ते पछी तेओ तेवा व्यसनी थइ मृत्यु पामी नरके गया। तेनो जे वंश ते हरिवंश कहेवाय। अहीं जुगलियाने अहीं लाववा, शरीर तथा आयुष्यनो संक्षेप करवो अने नरकमां जवुं ए सर्व आश्चर्य छे। "

यानी—इसलिये कैसे इन दोनोंको (स्त्री पुरुषोंको) दुर्गति (नरक) में डाल दूं ऐसा विचार कर अपनी शक्तिसे उनका शरीर छोटा बनाकर उनको भरतक्षेत्रमें लाया। यहां लाकर उनको राज्य देकर उन्हें सात व्यसन सेवन करना सिखलाया। तदनंतर वे दोनों व्यसनी होकर, मरकर नरक गये। उनका वंश हरिवंश कहलाया। यहांपर भोग-भूमिके जुगलियाको भरतक्षेत्रमें लाना, उनके शरीर, आयुको घटाना तथा उनका मरकर नरकमें जाना यह सब आश्चर्य है।

इस सातवें अछेरेके कथनमें अनेक सिद्धान्तसे विरुद्ध बातें हैं। पहली तो यह कि उस युगलियाका शरीर छोटा कर दिया। क्योंकि देवोंमें यद्यपि अपने शरीरमें अणिमा महिमा आदि रूपसे छोटा बडा रूप करनेकी शक्ति होती है। किंतु उनमें यह शक्ति नहीं होती कि नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए किसी मनुष्यशरीरके आकारको घटा बढा देवें। क्योंकि यह कार्माण शक्तिका कार्य है। देव ही यदि अन्य जीवोंके शरीरका आकार छोटा बडा कर देवें तो समझना चाहिये

कि उनकी शक्ति नामकर्मसे भी बढकर है। यदि ऐसी शक्ति उनमें विद्यमान हो तो वे अपने शरीरका भी रंग, रूप, प्रभा आदिको बढाकर ऊंचे देवोंसे भी अधिक सुंदर कर सकते हैं। किंतु ऐसा न तो होता है और न कोई साधारण देव ही क्या इंद्र अहमिंद्र भी ऐसा कर सकता है। अतः पहली सिद्धांतविरुद्ध बात तो उनके शरीरको छोटा करनेकी है।

दूसरी–सिद्धांतविरुद्ध बात यह है कि उस किल्विषक देवने उन युगलियोंकी आयु कम कर दी। हमारी समझमें नहीं आता कि कर्मसिद्धान्तके जानकार श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंने यह बात कैसे लिख दी है? क्या कोई देव किसी भी जीवकी आयु कम कर सकता है? यदि ऐसा ही हो तो सब कुछ कर सकने वाले देव ही हो गये। पूर्व उपार्जित कर्मोंमें कुछ भी शक्ति नहीं हुई। आयुकर्म नाम मात्रका हुआ। क्योंकि हरि वर्षके युगलियाके दो पल्यकी अखंडनीय आयुका उदय था जिससे कि उसे अवश्य ही दो पल्य तक जीवित रहना चाहिये था। किन्तु किल्विषक देवने उस की आयु घटा दी। इसका अभिप्राय यह होता है कि या तो श्वेताम्बरोंका कर्मसिद्धान्त झूठा है क्योंकि आयुको देवलोग भी घटा सकते हैं। भले ही वह आयु कर्मकी लंबी स्थितिके कारण बडी क्यों न हो। अथवा यदि श्वेताम्बरी कर्मसिद्धान्त सत्य है और तद-नुसार आयु घटाने बढानेकी शक्ति अन्य किसीमें नहीं है स्वयं आयु कर्ममें ही विद्यमान है तो कल्पसूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि ग्रंथोंको झूटा कहना पडेगा।

भोगभूमिके युगलियोंकी बँधी आयु किसी भी प्रकार कम नहीं हो सकती इस बातको श्वेताम्बरोंका मान्य तत्वार्थाधिगम सूत्र अपने दूसरे अध्यायके ५२ वें सूत्रः—

" औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः। "

से प्रगट करता है। ऐसी अवस्थामें स्वयं श्वेताम्बर लोग तत्वार्था-धिगमसूत्र और कल्पसूत्रमें से किसी एक ग्रंथको प्रामाणिक कह सकते हैं और उन्हें दूसरे ग्रंथ को अप्रामाणिक अवश्य कहना पड़ेगा।

तीसरी–सिद्धान्तविरुद्ध बात इस कथामें यह है कि भोगभूमिया मनुष्य स्त्री मर कर नरकको गये। भोगभूमिज मनुष्य तिर्यंच नियमसे देवगतिको प्राप्त होते हैं इस बातको स्वयं श्वेताम्बर ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं फिर हरिवर्षका युगलिया मरकर नरकमें कैसे जा सकता है? ऐसे गडबडपूर्ण सिद्धान्तों और कथाओंसे श्वेताम्बरीय ग्रंथोंकी कोई भी बात सत्य नहीं मानी जा सकती है।

इस प्रकार हरिवंश उत्पत्तिका उक्त कथानक सिद्धान्तविरुद्ध है।

केवलज्ञानीका घरमें निवास !

गृहस्थीको मोक्ष होना यह तो एक जुदी बात रही किन्तु एक दूसरी अद्भुत बात श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें और भी पाई जाती है। वह यह कि केवलज्ञानी घरमें छह मास तक रह सकते हैं। श्वेताम्बर आचार्य आत्मानंदजीने अपनी सम्यक्त्वशल्योद्धार पुस्तकके १५७ वें पृष्ठपर लिखा है कि––

" कूर्मापुत्र केवलज्ञान पाने पीछे ६ महीने घरमें रहे कहा है (यह ढूंढिया विद्वान जेठमलजीका श्वेताम्बर सम्प्रदायपर आक्षेप है। अब आत्मानंदजी इसका उत्तर देते हैं–जो गृहस्थवासमें किसी जीवको केवलज्ञान होवे तो उसको देवता साधुका भेष देते हैं और उसके पीछे विचरते तथा उपदेश देते हैं। परन्तु कूर्मापुत्रको ६ महीने तक देवताने साधुका भेष नहीं दिया और केवलज्ञानी जैसे ज्ञानमें देखे तैसे करे। इस बातसे जेटमलके पेटमें क्यों शूल हुआ सो कुछ समझमें नहीं आता है।"

आत्मानंदजीके इस लेखसे यह प्रमाणित हो गया कि कूर्मापुत्र नामक किसी गृहस्थको विना तपस्या त्याग आदि किये ही अपने घरमें केवलज्ञान हो गया और अर्हंत हो जानेपर भी वह कूर्मापुत्र ६ मास तक साधारण मनुष्योंके समान घरमें ही रहे। क्योंकि तब तक किसी देवने वहांपर आकर उस कूर्मापुत्रके वस्त्र आभूषण आदि उतारकर वीतराग भेष नहीं बनाया था। शायद देव यदि भूलसे

१०।५ वर्ष तक नहीं आते तो कूर्मापुत्रको १०।५ वर्ष तक भी घरमें रहना पडता। और यदि आयुसमाप्तिके पहले संयोगवश किसी देवका उनके घर आगमन न होता तो उनको मोक्ष होने तक घरमें रहना पडता। तथा अन्त तक वे सराग गृहस्थके समान वस्त्र आभूषणोंसे सुसज्जित रहते। इस प्रकार कूर्मापुत्र केवलीका विहार देवोंके अधीन रहा। अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर लेने पर भी वे पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो पाये।

घरमें रहते हुए वे अपने घरके बने हुए षड्रस भोजन भी करते होंगे। क्योंकि श्वेतांबर मतानुसार केवलज्ञानी भोजन करते हैं जो कि उनके लिये बनाया जाता होगा इस प्रकार उद्दिष्टदोष वाला भोजन भी वे साधारण मनुष्योंके समान करते होंगे।

आत्मानंदजी कहते हैं कि " केवलज्ञानी जैसे ज्ञानमें देखे वैसे करे " सो इससे क्या आत्मानंदजी, केवलज्ञान हो जानेपर भी इच्छा-पूर्वक कोई काम किया जाता है?

न मालूम यह घटना किस सिद्धान्तवाक्यके अनुसार सत्य प्रमाणित हो सकती है? और आत्मानंद जीका युक्तिशून्य उत्तर किस सैद्धान्तिक नियमके अनुसार चरितार्थ हो सकता है? तथा क्या केवलज्ञान हो जाने पर भी केवलज्ञानी देवों द्वारा चलाने पर ही चल सकते हैं?

क्या केवलज्ञानी नाटक भी खेलते हैं?

श्वेताम्बरीय कथा ग्रंथोंमें ऐसी ऐसी कथाएं उल्लिखित हैं जो कि सिद्धान्तविरुद्ध तो हैं ही किन्तु साथ ही वे अच्छी हास्यजनक भी हैं। हम यहांपर एक कथा ऐसी ही बतलाते हैं।

श्वेताम्बरीय परममान्य ग्रंथ भगवती सूत्रमें कपिल नामक केवलीके विषयमें ऐसा लिखा है कि " उन्होंने चोरोंको प्रतिबोध (आत्मज्ञान) करानेके लिये नाटक खेला था "। इसी बातको श्वेताम्बरी आचार्य आत्मानंदजीने सम्यक्त्वशल्योद्धार पुस्तकके १५१ वें पृष्ठ पर इस तरहसे समाधान सहित दिखाया है—

" श्री भगवतीसूत्रमें कहा है कि केवलिको हसना, रमना, सोना, नाचना इत्यादि मोहनी कर्मका उदय न होवे और प्रकरणमें कपिल केवलीने चोरोंके आगे नाटक किया ऐसे कहा। (इसका) उत्तर—कपिल केवलीने ध्रुपद छंद प्रमुख कहके चोर प्रतिबोधे और तालसंयुक्त छंद कहे तिसका नाम नाटक है परन्तु कपित केवली नाचे नहीं हैं।"

आत्मानंदजीके इस लेखसे यह प्रमाणित हो गया कपिल केवली. ने चोरोंके आगे नाटक किया था यह बात श्वेताम्बरी ग्रंथमें विद्यमान है। जेठमलजी की बलवती अखंडनीया शंकाका जो कुछ आगमविरुद्ध युक्तिशून्य, उपहासजनक उत्तर दिया है उसको प्रत्येक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

दूसरे—मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाने पर न तो रागभाव रहता है और न द्वेषभाव। केवल उपेक्षा भाव रहता है ऐसा श्वेतांबरीय सिद्धान्त भी कहते हैं। फिर कपिल केवलीने चोरोंको प्रतिबोध करनेका क्यों उद्योग किया ? इच्छापूर्वक किन्हीं विशेष मनुष्योंका उपकार करना रागभावसे शून्य नहीं। जब कि उन्होंने चोरोंको आत्मज्ञान करानेके विचारसे उनके सन्मुख नाटक तक खेला तब यह कौन कह सकता है कि चोरोंपर कपिल केवलीको अनुराग नहीं था। अन्यथा वे अपनी विशेष चेष्टा क्यों बनाते ?

तीसरे—ध्रुपद या तालसंयुक्त छंदोंका गाना भी मोहनीय कर्मका ही कार्य है। आत्मानंदजी अथवा अन्य कोई विद्वान् यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि गायन गाना मोहनीय कर्मके विना भी हो जाता है। क्योंकि गायन अपना तथा अन्यका चित्त प्रसन्न करनेके लिये ही गाया जाता है। इस कारण गायन कषायशून्य नहीं हो सकता।

पांचवें- कपिल केवलीको केवल चोरों को प्रतिबोध करानेकी क्या आवश्यकता थी। और यदि प्रतिबोध ही कराना था तो नाटक करनेकी ही क्या जरूरत आ पड़ी थी। क्या उनके वचनमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वे अपने उपदेशसे ही चोरोंको प्रतिबोध दे सकते हों ?

नाटक अपना तथा दर्शकोंका चित्त प्रसन्न करनेके लिये सरागी पुरुष खेलते हैं। केवलज्ञानी नाटक खेलें यह श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके सिवाय अन्यत्र नहीं मिल सकता।

सारांश—यह है कि यदि कपिलने वास्तवमें चोरोंको उपदेश देनेके लिये नाटक किया था तो वह केवलज्ञानी तो दूरकी बात रही किंतु छठे गुणस्थानके साधु भी नहीं थे क्योंकि नाटक खेलना महाव्रतधारी साधुकी चर्याके भी विपरीत है। और सभ्य गृहस्थोंके भी विरुद्ध है। यदि कपिल वास्तवमें केवलज्ञानी अर्हंत था तो उसने नाटक नहीं खेला। अतएव नाटक खेलनेकी कथाका उल्लेख असत्य अप्रामाणिक है ऐसा मानना पडेगा।

देवपर मार और स्वर्गसे निर्वासन.

तत्वार्थाधिगम सूत्रके चौथे अध्यायके प्रथम सूत्र "देवाश्चतुर्निकायाः" की सिद्धसेनगणिप्रणीत टीकामें लिखा है—

दीव्यन्तीति देवाः स्वच्छन्दचारित्वात् अनवरतक्रीडासक्तचेतसः क्षुत्पिपासादिभिर्नात्यन्तमाघ्राता इति भावार्थः।

यानी—जो स्वच्छन्दरूपसे (स्वतंत्रतासे) निरन्तर (सदा) क्रीडा भोग विलासोंमें आसक्त रहते हैं, तथा भूख, प्यास आदिसे बहुत नहीं सताये जाते हैं ऐसे देव होते हैं।

किन्तु संगम देवके विषयमें कल्पसूत्रमें लिखा है कि—

एकबार सौधर्म स्वर्गमें इन्द्रने महावीर भगवान के अटल तपश्चरण की प्रशंसा की। उस प्रशंसाको सुनकर एक संगम देवने प्रतिज्ञा की कि मैं महावीर स्वामीको ध्यान तथा तपस्यासे भ्रष्ट करूंगा। तदनंतर उसने आत्मध्यानमें लगे हुए महावीर स्वामीके ऊपर अनेक प्रकारके घोर उपद्रव किये। किन्तु उन उपद्रवोंसे महावीर भगवान रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए। उसके पीछे उस देवने ६ मास तक उनके भोजन में अन्तराय किया जिससे उन्होंने ६ मास तक आहार ग्रहण नहीं किया। तदनन्तर भगवानको तपश्चरणसे चिगानेके लिये अपने आपको

असमर्थ जानकर वह अपने निवासस्थान प्रथम स्वर्गको चला गया। भगवानको जबतक अन्तराय तथा उपद्रव होते रहे तब तक सौधर्म स्वर्गके समस्त देव और इन्द्र चिन्तातुर एवं दुःखित रहे।

इसके पीछे कल्पसूत्रके ७४ वें पृष्ठपर यों लिखा है—

" पछी भ्रष्ट थएल छे प्रतिज्ञा जेनी तथा श्याममुखवाला एवा ते संगम देवने त्यां आवतो जोइने, इन्द्रे पराङ्मुख थइने देवोने कह्युं के, अरे देवो आ दुष्ट कर्मचंडाल आवे छे माटे तेनुं दर्शनपण महापापो आपनारुं थाय छे. वली आणे आपणनो मोटो अपराध करेलो छे केमके तेणे आपने स्वामिने कदर्थना करी छे तेम आपणाथी डर्यो नथी, तेम पापथी पण डर्यो नथी, माटे दुष्ट अने अपवित्र एवा, देवने स्वर्गमांथी कहाडी मेलो। एवी रीते आज्ञा अपाएला इंद्रनां सुभटोए तेने मुष्टि लाकडी आदिकनां मारथी मारीने तथा बीजा देव देवीओए पण तेने निर्भ्छीने हडकाया कुतरानी पेठे कहाडी मेल्यो। तेथी टरी गएला अंगारानी पेठे निस्तेज थयो थको ते परिवारविना फक्त एकाकी मंदराचलनां शिखरपर गयो तथा त्यां पोतानुं बाकी रहेलुं एक सागरोपमनुं आयुष्य ते संपूर्ण करशे। "

अर्थात्-पीछे टूट चुकी है प्रतिज्ञा जिसकी ऐसे श्याममुखवाले संगमदेवको वहां आता देखकर इन्द्रने देवोंसे कहा कि हे देवो! यह दुष्ट, चांडाल संगम आरहा है। इसको देखना भी महापाप दायक है। इसने हमारा बहुत भारी अपराध किया है क्योंकि इसने हमारे स्वामी महावीर भगवानका अनादर किया है। उससे यह नहीं डरा तथा पापसे भी नहीं डरा। इस कारण दुष्ट, अपवित्र ऐसे इस देवको स्वर्गमेंसे निकाल दो। इन्द्रकी ऐसी आज्ञा पाकर इंद्रके योद्धाओंने उसको लकडी, मुक्के आदिकी मारसे मारा तथा अन्य देव देवियोंने उनको भर्त्सना देकर फटकारा। कुत्तेके समान स्वर्गसे निकाल बाहर किया। इस अपमानसे बुझे हुए अंगारेके समान तेजरहित होकर वह अपने कुटुम्बविना अकेला मंदर पर्वत पर चला गया। वहांपर वह अपनी शेष रही एक सागरकी आयुको पूर्ण करेगा।

यहांपर दो बातें सिद्धान्तविरुद्ध हैं एक तो यह कि संगमक देव पर लात घूंसों लकडी आदिकी भारी मार पडी । क्योंकि देवोंमें न कभी परस्पर लडाई होती है और न कभी किसी देवपर मार ही पडती हैं । ऐसा जैन सिद्धांत है ।

दूसरे—उस संगमक देवको स्वर्गसे बाहर निकाल दिया यह बात भी सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि देवोंको अपने स्वर्गस्थानसे आयु पूर्ण होने के पहले किसी प्रकार कोई नहीं निकाल सकता । स्वर्गसे बाहर विहार करनेके लिये वे अपनी इच्छा के अनुसार भले ही जावें । किसी के निकालनेसे वे नहीं निकल सकते ।

तीसरे—इन्द्रमें यदि उस देवको दंडित करनेकी शक्तिही थी तो वह उसको महावीर स्वामीपर उपसर्ग करते हुए तथा ६ मास तक भोजनमें अन्तराय करते समय भी रोक सकता था । ऐसा करनेसे उसके दोनों कार्य बन जाते ।

महाव्रती साधु क्या रात्रिभोजन करे ?

जैनधर्ममें अहिंसा व्रतको सुरक्षित रखनेके लिये अन्य बातोंके सिवाय रात्रिभोजन भी त्याज्य बतलाया है । तदनुसार अणुव्रती श्रावकको भी सूर्य अस्त हो जानेपर भोजन करनेका निषेध जैन ग्रंथोंमें किया गया है । महाव्रती साधुके लिये तो यह रात्रिभोजनत्याग व्रत सर्वथा ही पालनीय है । इस बातको श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं । तदनुसार अनेक गृहस्थ श्वेताम्बरी भाई भारी विपत्ति आ जानेपर भी रातको पानी तक नहीं पीते हैं ।

किन्तु दुःख है कि श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध ग्रंथ बृहत्कल्पकी टीकामें महाव्रती साधुको रात्रिभोजनका भी विधान कर दिया है जैसा कि सम्यक्त्वशल्योद्धारके १४९ वें पृष्ठ १० वें प्रश्नोत्तरमें आत्मानंदजीकी लेखनीसे लिखा हुआ है ।

" श्री दशवैकालिक सूत्रमें साधुके लिये रात्रिभोजन करना कहा है ! उत्तर—बृहत्कल्पके मूल पाठमें भी यही बात है परन्तु तिसकी अपेक्षा गुरुगममें रही हुई है । "

इस प्रकार श्वेतांबर समाजके प्रसिद्ध गुरू महाराजने भी साधुके रात्रिभोजनका प्रतिवाद न करके उलटे उसकी पुष्टि कर दी। यह बात कितनी अनुचित, साधुचर्याके विपरीत, हास्यजनक और शिथिलाचार पोषक है इसका विचार स्वयं पाठक महाशय कर लेवें। इतना हम अवश्य कहते हैं कि श्वेतांबरीय ग्रंथोंने साधुचर्याको इतना ढीला किया है कि उसकी कुछ बातें साधारण गृहस्थको भी लजानेवाली होगई हैं।

चरबीका लेप.

संसारमें सर्व साधारण रूपसे रक्त मांस हड्डी चमडा आदि पदार्थ अपवित्र माने जाते हैं। इसी कारण उनका उपयोग करना प्रायः सभी शास्त्रोंने निषिद्ध ठहराया है। लोहू मांस आदि पदार्थोंके समान चरबी भी अपवित्र पदार्थ है। क्योंकि वह भी त्रस जीवोंके शरीरका एक भाग है। अत एव किसी भी शास्त्रकारने चर्बीका व्यवहार करना उचित नहीं बतलाया है। किन्तु श्वेताम्बरीय जैन शास्त्रोंने अन्य मद्य, मांस आदि पदार्थोंके समान ही चरबीका उपयोग करना भी बतला दिया है। यह आदेश किसी ऐसे वैसे भी श्वेताम्बर ग्रंथमें नहीं है किन्तु 'बृहत्कल्प' सरीखे ग्रंथमें विद्यमान है।

इस बातको स्वयं श्वेतांबर आचार्य आत्मानंदजीने अपने "सम्यक्त्वशल्योद्धार" ग्रंथमें १६७ वें पृष्ठपर यों लिखा है।

"श्री बृहत्कल्पसूत्रमें चरबीका लेप करना कहा है।"

यदि कोई अजैन मनुष्य जैन धर्मके अहिंसातत्वकी ऐसे विधानोंका आश्रय लेकर हसी उडावे और जैन धर्मकी निंदा करे तो हमारे श्वेतांबरी भाई उसको क्या उत्तर दे सकेंगे? इस बातका स्वयं पाठक महोदय विचार करें।

संघभेदका इतिहास.

श्वेताम्बरीय ग्रंथकारोंने अपने श्वेतांबर सम्प्रदाय की उत्पत्तिकी जो बनावटी कल्पना की है उसको सुनकर हसी आती है। उनका

बनावटी कथन स्वयं उनको असत्य सिद्ध करते हुए दिगम्बर सम्प्रदायको पुरातन सिद्ध करता है।

इस बनावटी कथाको प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु आत्मानन्दजीने तत्वनिर्णयप्रासाद ग्रंथके ५४२–५४३ और ५४४ वें पृष्ठोंपर यों लिखा है—

" रहवीर–रथवीरपुर नगर तहां दीपकनामा उद्यान तहां कृष्णनामा आचार्य समोसरे (पधारे) तहां रथवीरपुर नगरमें एक सहस्रमल्ल शिवभूतिनाम करके पुरुष था तिसकी भार्या तिसकी माताके साथ [सासुके साथ] लडती थी कि तेरा पुत्र दिन २ प्रति आधी रात्रिको आता है मैं जागती और भूखी पियासी तब तक बैठी रहती हूं। तब तिसकी माताने अपनी बहूसे कहा कि आज तू दरवाजा बंद करके सो रहे और मैं जागूंगी। बहू दरवाजा बंद करके सो गई माता जागती रही। सो अर्द्धरात्रि गये आया दरवाजा खोलनेको कहा। तब तिसकी माताने तिरस्कारसे कहा कि इस वखतमें जहां उघाडे दरवाजे हैं तहां तू जा, सो वहांसे चल निकला फिरते फिरते (उस ने) साधुयोंका उपाश्रय उघाडे दरवाजा देखा तिसमें गया नमस्कार करके कहने लगा मुझको प्रव्रजा [दीक्षा] देओ। तब आचार्योंने ना कही तब आप ही लोच कर लिया। तब आचार्योंने तिसको जैनमुनिका वेष दे दिया। तहांसे सर्व विहार कर गये। कितनेक काल पीछे फिर तिस नगरमें आये। राजाने शिवभूतिको रत्नकंबल दिया तब आचार्योंने कहा ऐसा वस्त्र यतिको लेना उचित नहीं। तुमने किस वास्ते ऐसा वस्त्र ले लीना? ऐसा कहके तिसको विना ही पूछे आचार्योंने तिस वस्त्रके टुकडे करके रजोहरणके निशीथिये कर दीने। तब सो गुरुओंसे कषाय करता हुआ। "

" एकदा प्रस्तावे गुरुने जिनकल्पका स्वरूप कथन करा जैसे जिन कल्पि साधु दो प्रकारके होते हैं एक तो पाणिपात्र (हाथोंमें भोजन करने वाला) और ओढनेके वस्त्रों रहित (नग्न) होता है। दूसरा पात्रधारी (खाने पीनेके बर्तन अपने साथ रखने वाला) वस्त्रों करके

सहित होता है ।.......पहिला भेद जो पाणिपात्र और वस्त्ररहित कहा है सो ही आठ विकल्पोंमेंसे प्रथम (उत्कृष्ट) विकल्प वाला जानना ।"

"जब आचार्योंने जिनकल्पका ऐसा स्वरूप कथन करा तब शिवभूतिने पूछा कि किसवास्ते आप अब इतनी उपाधि रखते हो ? जिनकल्प क्यों नहीं धारण करते हो ? तब गुरुने कहा कि इस कालमें जिनकल्पकी सामाचारी नहीं कर सकते हैं क्योंकि जंबूस्वामीके मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया है । तब शिवभूति कहने लगा कि जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया क्यों कहते हो ? मैं करके दिखाता हूं । जिनकल्प ही परलोकार्थीको करना चाहिये । तीर्थंकर भी अचेल (नग्न) थे इस वास्ते अचेलता ही अच्छी है । तब गुरुओंने कहा देहके सद्भाव हुए भी कषाय मूर्छादि किसीको होते हैं तिस वास्ते देह भी तेरेको त्यागने योग्य है । और अपरिग्रहपणा मुनिको सूत्रमें कहा है सो धर्मोपकरणोंमें भी मूर्छा न करनी । और तीर्थंकर भी एकांत अचेल नहीं थे क्योंकि कहा है कि सर्व तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेके संसारमें निकले हैं यह आगमका वचन है । ऐसे गुरुओंने तिसको समझाया भी तो भी कर्मोदय करके वस्त्र छोडके नग्न होके जाता रहा । ....तिस शिवभूतिने दो चेले करे कौडिन्य १ कोट्टवीर २। इन दोनोंकी शिष्यपरंपरासे कालांतर में मतकी वृद्धि हो गई । ऐसे दिगम्बर मत उत्पन्न हुआ । "

दिगम्बर संघकी उत्पत्तिकी यह कथा इसी रूपसे अन्य श्वेतांबर ग्रंथोंने भी लिखी है ।

विचारशील सज्जन यदि विचार करें तो यह कल्पित कथा उलटी श्वेतांबर ग्रंथोंके अभिप्रायमें बाधा खडी करती है क्योंकि साधारण मनुष्य भी इसको पढकर यह समझ सकता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय लाखों करोडों वर्ष पहलेसे ही नहीं किन्तु जैनधर्मके आदिप्रवर्तक भगवान श्री ऋषभदेवके समय से ही विद्यमान था । वीर निर्वाण संवत् ६०९ के पीछे ही नवीन उत्पन्न नहीं हुआ । क्योंकि महाव्रतधारी साधु भगवान ऋषभदेवके समयसे ही होने लगे थे । महा-

व्रतधारी साधु श्वेताम्बरी ग्रंथोंके लिखे अनुसार तथा स्वयं मुनि आत्मानंदजी के लिखे अनुसार दो प्रकारके होते हैं। एक तो पाणिपात्र जो कि बिलकुल परिग्रहरहित नग्न दिगम्बर होते हैं। श्वेताम्बरीय ग्रंथोंके मतानुसार वे ही सबसे ऊंचे दर्जेके साधु होते हैं। इन ही पाणिपात्र साधुओंको दिगम्बर सम्प्रदायमें महाव्रतधारी साधु (मुनि) माना गया है। दूसरे—पात्रधारी—यानी कपडे, वर्तन, दंड आदि परिग्रहके धारण करनेवाले साधु होते हैं। जैसे आजकल श्वेताम्बरीय साधु दीख पडते हैं जिनको कि दिगम्बर सम्प्रदायमें नवमी दशमी, सातवीं आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक बतलाया गया है। पाणिपात्र वस्त्ररहित नग्न उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु भगवान ऋषभदेवके समयसे ही होते आये हैं ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रंथ भी स्वीकार करते हैं। तदनुसार श्वेताम्बरीय ग्रंथोंसे तथा श्वेताम्बरीय मुनि आत्मानंदजीके मुखसे स्वयं सिद्ध हो गया कि जबसे जैन धर्मका उदयकाल है, नग्न दिगम्बर साधु तबसे ही होते हैं।

कल्पसूत्र संस्कृत टीका के प्रथम पृष्ठपर आचेलक्य कल्पके विषयमें इस प्रकार स्पष्ट लिखा है—

> आचेलक्यमिति-न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्य सोऽचेलकस्तस्य भावः अचेलकत्वं विगतवस्त्रत्वं इत्यर्थः।

इसकी गुजराती टीकावाले कल्प सूत्रके प्रथम पृष्ठपर यों लिखा है—

" जेने चेल एटले वस्त्र न होय ते अचेलक कहेवाय। ते अचेलकनो भाव ते आचेलक्य अर्थात् वस्त्ररहितपणुं। ते तीर्थंकरोने रहेलुं छे तेमां पेहेला अने छेल्ला तीर्थंकरोने शक्रेन्द्रे लावी आपेला देवदूष्य वस्त्रनो अपगम थवाथी तेओने सर्वदा अचेलकत्व एटले वस्त्ररहितपणुं छे अने बीजा तीर्थंकरोने तो सर्वदा सचेलकत्व वस्त्रसहितपणुं छे। आ विषे किरणावली टीकाकारे जे चोवीस तीर्थंकरोने पण शक्र इन्द्रे आपेला देवदूष्य वस्त्रना अपगम थवाथी अचेलकपणुं कह्युं छे ते शक भरेलुं छे।"

अर्थात्—जिस साधुके पास कोई कपडा नहीं होता उसको अचे-

लक [नग्न] कहते हैं । अचेलक के भावको आचेलक्य यानी नग्नपना कहते हैं । वह नग्नपना तीर्थंकरोंके आश्रयसे रहा आया है । उनमेंसे पहले और अंतिम तीर्थंकरके इंद्र द्वारा लाकर दिये गये देवदूष्य वस्त्र के हट जानेसे उनके सदा अचेलकत्व यानी नग्न वेष रहा है । और अन्य तीर्थंकरोंके तो सदा सचेलकत्व यानी वस्त्र-सहितपना है । इस विषयमें किरणावली टीकाकार जो चौवीसों तीर्थंकरोंके इंद्र द्वारा दिये गये देवदूष्य वस्त्र हट जानेसे नग्नपना कहता है सो सन्देह भरी हुई बात है ।

कल्पसूत्रके इस लेखसे यह सिद्ध हुआ कि श्वेतांबरीय ग्रंथकार जैन साधुओंके नग्न दिगम्बर वेषको केवल दो हजार वर्ष पहलेसे ही नहीं किंतु भगवान ऋषभदेवके समयसे ही स्वीकार करते हैं । कतिपय श्वेतांबरी ग्रंथकार (किरणावली टीकाकार आदि) समस्त तीर्थंकरोंकी साधु अवस्थाको नग्न दिगम्बर रूपमें मानते हैं और लिखते हैं । फिर मुनि आत्मानंदजीके लिखनेमें कितनी सत्यता है इसका विचार स्वयं श्वेताम्बरी भाई करें ।

समस्त राजवैभव, धनसंपत्तिका परित्याग करने पर भी तीर्थंकर इन्द्र के दिये हुए लाखों रुपयेके मूल्य वाले देवदूष्य कपडेको अपने पास क्यों रखते हैं ? उस वस्त्रसे उनके साधुचारित्रमें क्या सहायता मिलती है ? इन्द्र इस देवदूष्य वस्त्रको तीर्थंकरके कंधेपर रख देता है । फिर उस वस्त्रको तीर्थंकर ओढ लेवें तो उनके उस वस्त्रमें ममत्वभाव होने से परिग्रहका दोष क्यों नहीं ? और ओढते नहीं तो वह वस्त्र कंधेपर सदा रक्खा कैसे रह सकता है ? उठने, बैठने, चलने, ठहरने, आदि दशामें शरीरके हिलने चलनेसे तथा हवा आदिसे दूर क्यों नहीं हो जाता ? समस्त परिग्रह छोड देनेपर उस अमूल्य देवदूष्य वस्त्रको स्वीकार करके अपने पास रखनेकी तीर्थंकरोंको आवश्यकता क्या है ? यदि देवदूष्य वस्त्र रखकर भी तीर्थंकर निर्दोष रहते हैं तो मुकुट, अंगरखा, धोती, दुपट्टा, आदि वस्त्र पहन कर भी निर्दोष क्यों नहीं रह सकते ? इत्यादि

अनेक प्रश्न ऐसे हैं जो कि तीर्थंकरोंके देवदूष्य वस्त्र रखनेकी कल्पनाको एक दम उडा देते हैं।

कल्पसूत्रके ६६ वें पृष्ठ पर उल्लेख है कि—

" हवे एवी रीते श्रमण भगवंत श्री महावीर स्वामी एक वर्ष अने एक मासमुधि वस्त्रधारी रह्या तेवार पछी वस्त्ररहित रह्या तथा हाथरूपीज पात्रवाला रह्या।"

यानी— इस प्रकार श्रमण भगवान महावीर स्वामी एक वर्ष और एक महीने तक वस्त्रधारी रहे। उसके पीछे वस्त्ररहित नग्न ही रहे और हाथरूपी पात्रमें भोजन करनेवाले हुए।

कल्पसूत्रके इस लेखसे यह सिद्ध हुआ कि १३ मास पीछे अंत समय तक स्वयं भगवान महावीर स्वामी नग्न दिगम्बर साधु रहे। फिर ऐसा होनेपर तत्वनिर्णयप्रासादके ५४२ वें पृष्ठपर लिखा हुआ मुनि आत्मानंदका " श्री महावीर भगवंतके निर्वाण हुआ पीछे ६०९ वर्षे बोटिकोंके मतकी दृष्टि अर्थात दिगम्बर मतकी श्रद्धा रथवीरपुर नगरमें उत्पन्न हुई।" यह लेख कैसे मेल खा सकता है। इन दोनोंमेंसे या तो कल्पसूत्र का कथन असत्य होना चाहिये अथवा तत्वनिर्णयप्रासादका लेख असत्य होना चाहिये।

किन्तु कल्पसूत्रका कथन तो इस लिये असत्य नहीं कि आचारांगसूत्र आदि ग्रंथोंमें भी भगवान ऋषभदेव, महावीर आदि तीर्थंकरों के नग्न दिगम्बर वेषका उल्लेख है। तथा सर्वोत्कृष्ट जैन साधु जिनकल्पी मुनिका नग्न दिगम्बर होना ही बतलाया है जिसको स्वयं मुनि आत्मानंदजी भी स्वीकार करते हैं। अतएव दो हजार वर्षोंसे ही दिगम्बर मतकी उत्पत्ति कहने वाला आत्मानंदजीका लेख ही असत्य है।

हमको बहुत भारी आश्चर्य तो मुनि आत्मानंदजीकी (जिनको श्वेताम्बरी भाई अपना प्रख्यात कलियुगी सर्वज्ञ आचार्य मानते हैं अतएव पालीतानाके मंदिरोंमें उनकी पाषाण प्रतिमा विराजमान करके पूजते हैं) समझ पर आता है कि उन्होंने दिगम्बर संघकी उत्पत्ति कहने वाली कल्पित कथा लिखते समय यह विचार नहीं किया कि

हमारे इस कल्पित लेखसे भी दिगम्बर मतकी प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

विचार करनेका विषय है कि प्रथम तो रथवीरपुर और उसमें रहनेवाला शिवभूति कोई पुरुष नहीं हुआ। किसी भी दिगम्बर शास्त्रमें उसका रंच मात्र उल्लेख नहीं। केवल कल्पित उपन्यास या गल्प के ढंगपर कपोल कल्पित कथा जोडनेके लिये श्वेताम्बरीय ग्रंथोंमें रथवीर पुर और शिवभूतिका नाम लिख दिया है।

दूसरे—यदि कपोलकल्पित रूपसे रथवीरपुर नगर तथा उसके रहनेवाले शिवभूतिका अस्तित्व मान भी लिया जाय तथापि दिगम्बर संघकी उत्पत्ति वीर निर्वाण सं. ६०९ अथवा विक्रम सं. १३८ में न होकर लाखों करोडों वर्ष पहले के जमाने से अर्थात् प्रथम तीर्थंकरके समयसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि इस कल्पित कथाका लिखने वाला स्वयं कहता है कि "एक समय गुरुने जिनकल्पका स्वरूप वर्णन किया, जिसमें उत्तम जिनकल्पी साधु वस्त्ररहित, (नग्न) पाणिपात्र हाथोंमें भोजन करनेवाले बतलाया"। यदि नग्न वेष (दिगम्बर) के धारण करनेवाले साधु पहले समयमें नहीं होते थे तो श्वेताम्बरी गुरुने उनका स्वरूप कैसे बतलाया? स्वरूप तो उसीका कहा जाता है जो कि पहले विद्यमान हो। गधेका सींग यदि संसारमें अब तक कहीं नहीं पाया गया तो अब तक उसकी मूर्तिका वर्णन भी किसीने नहीं किया। अतः सिद्ध होता है कि उत्तम जिनकल्पधारी साधु अर्थात दिगम्बर मुनि पहले जमानेसे ही पाये जाते थे।

यदि जिनकल्पधारी अर्थात् नग्न दिगम्बर साधु पहले जमानेसे ही होते आये हैं जैसा कि स्वयं मुनि आत्मानंदजी कल्पित कथाकारकी ओरसे कहते हैं कि "जम्बूस्वामीके मुक्तिगमन पीछे जिनकल्पका (अर्थात दिगंबर संघका) व्यवच्छेद हो गया।" तो फिर दिगम्बर संघकी मूल उत्पत्ति जम्बुस्वामीके ६०० छहसौ वर्ष पीछे कहना बडी भारी हास्यजनक मूर्खता है। इस प्रकार कल्पित कथाका लिखनेवाला स्वयं अपने मुखसे आप झूठा ठहरता है। उसको अपने आगे पीछेके कथनका रंचमात्र

भी बोध नहीं था। आश्चर्य इतना है कि मुनि आत्मानंद भी इस बुद्धिशून्य भूलभरी कथाको सत्य मानकर प्रमाणरूपमें लिख गये।

अब जरा कल्पित कथापर भी ध्यान दीजिये। शिवभूतिको अपनी माताकी फटकार मिलने पर वैराग्य हो गया। वह रात्रिके समय ही उपाश्रयमें साधुओंके पास पहुंचा और अपने साधु बननेकी प्रार्थना की। साधुओंने उसको दीक्षा देनेका निषेध कर दिया। (रात्रिको महाव्रती साधु बोलते नहीं हैं फिर उसको निषेध कैसे किया?) तब शिवभूति अपने आप केशलोच करके साधु हो गया। जब वह केशलोच करके साधु बन गया तब उन आचार्योंने भी उसे दीक्षा दे दी। फिर आचार्य वहां से चले गये। राजाने उस शिवभूति साधुको रत्नकंबल दिया उसने ले लिया। कुछ समय पीछे जब आचार्योंने फिर उस नगरमें आकर शिवभूतिके पास रत्नकंबल देखा तो उन्होंने पहले तो उस रत्नकंबलको ग्रहण न करनेका उपदेश दिया। जब शिवभूतिने उनका कहना न माना तो आचार्योंने गुप्त रूपसे उसका कंबल लेलिया और उसके टुकडे करके रजोहरण [ओघा—पीछी] के निशीथिये बना दिये। फिर किसी समय उन आचार्योंने उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुओंका स्वरूप बतलाया तब शिवभूति साधु आचार्योंके निषेध करने पर भी समस्त वस्त्र, वर्तन, बिस्तर, कंबल, लाठी आदि परिग्रहको छोडकर नग्न दिगम्बर मुनि (उत्कृष्ट जिनकल्पी) हो गया।

यहांपर प्रथम तो यह बात विचार करनेकी है कि रातके समय साधु बोलते नहीं। ध्यान, सामायिक आदिमें लगे रहते हैं। वचनगुप्ति [मौन] धारण करते हैं फिर उन्होंने शिवभूतिको साधुदीक्षा देनेका निषेध कैसे किया? यदि सचमुच निषेध किया ही तो उन श्वेतांबरी आचार्योंको सिद्धांत प्रतिकूल स्वच्छन्दविहारी मानना चाहिये।

दूसरे—शिवभूतिको साधुकी दीक्षा देनेके लिये उन आचार्योंने प्रथम इनकार (निषेध) क्यों किया? और थोडी देर पीछे ही उसको साधुदीक्षा क्यों दे दी?

तीसरे–शिवभूतिने रत्नकंबल लेकर श्वेताम्बरीय सिद्धान्तके अनुसार अन्याय कौनसा किया जिसको न रखनेके लिये आचार्योंने उसको कहा; क्योंकि श्वेताम्बरी ग्रंथोंमें सर्वत्र लिखा है कि महाव्रत धारण करते समय तीर्थंकर भी सौधर्म इन्द्रके दिये हुए दिव्य, बहुमूल्य देवदूष्य वस्त्रको अपने पास रखते हैं। शिवभूति तो उन तीर्थंकरोंकी अपेक्षा नीचे दर्जेका साधु था तथा उसका रत्नकंबल भी तीर्थंकरोंके देवदूष्य वस्त्रसे बहुत थोडे मूल्य वाला वस्त्र था।

चौथे–आचार्योंने शिवभूतिके विना पूछे उसका रत्नकंबल क्यों लिया? क्या दूसरे की वस्तु विना पूछे ग्रहण करना चोरी पाप नहीं है जिसके कि साधु लोग बिल्कुल त्यागी होते हैं। उसमें भी आचार्य तो साधुओंको प्रायश्चित्त देनेवाले होते हैं। फिर भला उन्हें दूसरेकी बहु-मूल्य वस्तु विना पूछे उठाकर चोरीका पाप करना कहांतक उचित है?

पांचवें–जब शिवभूतिसे रत्नकंबलही छुडवाना था तो उस कंबल को दूर क्यों नहीं फेंक दिया; टुकडे करके निशीथिये क्यों बना दिये? क्या निशीथिये बना देनेसे रत्नकंबलका बहुमूल्यपना न रहा? तथा साधुको निशीथिये रत्नकंबलके बनाकर अपने पास रखनेकी आज्ञा भी कहां है?

छठे–उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुका स्वरूप सुन कर जब शिवभूति अपने वस्त्र पात्र छोडकर नग्न रूप धारण कर उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु हो गया तब उसने अन्याय कौनसा किया। जिससे कि श्वेताम्बरीय ग्रंथकार उसको मिथ्यादृष्टि कहकर अपनी बुद्धिमानी प्रगट करते हैं। शिवभूतिने सबसे ऊंचे दर्जेका जिनकल्पी साधु बनकर साधुचर्याका उन्नत आदर्शही संसारको दिखलाया जो कि आप लोगोंके कहे अनुसार जंबूस्वामीके मुक्त हुए पीछे कठिन तपस्याके कारण भले ही बंद हो गया था। उत्तम धर्मानुकूल कार्य करने पर मिथ्यादृष्टी कहना श्वेताम्बर ग्रंथकारोंका बुद्धिसे वैर करना है।

सातवें–शिवभूतिने नवीन पंथ ही क्या चलाया? नग्न दिगम्बर जैन साधु आपके कल्पसूत्र आदि ग्रंथोंके कहे अनुसार भगवान ऋष-

भद्रबाहु के जमानेसे होते चले आये हैं तथा कल्पित कथाकारके लेखानुसार जंबूस्वामी तक वस्त्ररहित (नग्न) जिनकल्पी साधु होते रहे हैं । फिर शिवभूतिके जिनकल्पी साधु बननेकी बातको नवीन कौन बुद्धिमान पुरुष कह सकता है ? नवीन पंथ वह ही कहलाता है जिसको पहले किसीने न चलाया होवे ।

आठवें—कल्पित कथाकार विक्रम संवतकी दूसरी शताब्दीमें (१३८ वें वर्षमें) दिगम्बर पंथकी उत्पत्ति बतलाता है; किन्तु समयसार, षट्पाहुड, रयण सार, नियमसार आदि आध्यात्मिक ग्रंथोंके रचयिता श्री कुंदकुंदाचार्य प्रथम शताब्दी (४९ वें वर्षमें) हुए हैं जो कि शिलालेखों आदि प्रमाणोंसे प्रमाणित हैं । कुंदकुंदाचार्य नग्न दिगम्बर साधु ही थे यह सारा संसार समझता है । फिर दिगम्बर पंथ दूसरी शताब्दीमें उत्पन्न हुआ कैसे कहा जा सकता है । दूसरी शताब्दी में भी कल्पित कथाकार द्वारा बतलाये १३८ वें वर्षवाले समयके पहले १२५ वें वर्षमें गन्धहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरंड श्रावकाचार, स्वयम्भूस्तोत्र आदि अनुपम ग्रंथरत्नोंके निर्माता संसारप्रख्यात आचार्य श्री समन्तभद्र हुए हैं जिनके विषयमें श्वेताम्बर ग्रंथकार श्री हेमचन्द्राचार्य अपने सिद्ध हैमशब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रंथके द्वितीय सूत्रकी व्याख्यामें स्वयम्भूस्तोत्रके ' नयास्तव स्यात्पदसत्यलांछिताः ' इत्यादि श्लोक का उल्लेख करते हैं तथा श्री मलयगिरिसूरि अपने आवश्यक सूत्रकी टीकामें—' आद्यस्तुतिकार ' शब्दसे उल्लेख करते हैं । ये समन्तभद्राचार्य दिगम्बर साधु ही थे । जब वे वि. सं. १२५ में हुए तब दिगम्बर पंथकी उत्पत्ति विक्रम सं. १३८ में बतलाना कितनी भारी मोटी अनभिज्ञता है ।

नौवें:—विक्रम संवत् प्रचलित होनेसे पहले जो प्राचीन अजैन ग्रंथकार हुए हैं उन्होंने अपने ग्रंथोंमें जैन साधुओंका स्वरूप नग्न, दिगम्बर रूपमें ही उल्लेख किया है श्वेताम्बर रूपमें उन्हें कहीं नहीं बतलाया । इन प्रमाणोंको हम आगे प्रकट करेंगे । फिर दिगम्बर पंथकी उत्पत्ति विक्रम संवत् की दूसरी शताब्दीमें कैसे कही जा सकती है ?

इस कारण दिगम्बर पंथकी उत्पत्तिके विषयमें जो कथा श्वेताम्बरी ग्रंथकारोंने लिखी है वह असत्य तो है ही किन्तु उलटी उनकी हसी कराने वाली भी तथा उनके अभिप्राय पर पानी फेरने वाली है।

संघभेदका असली कारण.
श्री भद्रबाहुकी कथा।

भगवान श्री ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक जो जैनधर्म एक धाराके रूपमें चला आया वही जैनधर्म भगवान महावीरके मुक्त हुए पीछे दिगम्बर, श्वेतांबर रूपमें विभक्त कैसे होगया इसकी कथा भी बडी करुणाजनक तथा दुःख-उत्पादक है। असह्य विपत्ति शिरके ऊपर आजाने पर धीर वीर मनुष्यका हृदय भी धार्मिक पथसे किस प्रकार विचलित हो जाता है; स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थपोषणके लिए संसारका पतन कर डालनेको भी अनुचित नहीं समझते इसका पूर्ण रंगीन चित्र इस कथासे प्रगट होता है। कथा इस प्रकार है।

आजसे २४५६ वर्ष पहले अंतिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर भगवानने मोक्ष प्राप्त की है। तदनंतर ६२ वर्षोंमें गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी और जंबूस्वामी ये तीन केवलज्ञानी हुए। इन तीन केवल ज्ञानियोंके पीछे १०० वर्षके समयमें श्री विष्णुमुनि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पांच श्रुतकेवली यानी पूर्णश्रुतज्ञानी हुए। इनमेंसे अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुके समयमें जो कि वीर निर्वाण संवत् १६२ अथवा विक्रम संवत्से ३०७ वर्ष पहले का है, १२ वर्षका भयानक दुर्भिक्ष (अकाल) पडा था। उसी दुर्भिक्षके समय बहुतसे जैनसाधु मुनिचारित्रसे भ्रष्ट हो गये और दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर उनमेंसे कुछ साधु प्रायश्चित्त लेकर फिर शुद्ध नहीं हुए। हठ करके उन्होंने अपना भ्रष्ट स्वरूप ही रक्खा। वस उन्हीं भ्रष्ट साधुओंने श्वेताम्बर मतको जन्म दिया। खुलासा विवरण इस प्रकार है।

इस भारतवर्षके पौंड्रवर्द्धन देशमें कोटपुर नगर था। उस नगरमें सोमशर्मा नामक एक अच्छा विद्वान ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री सोमश्री थी। उस सोमश्री के उदरसे एक अनुपम, होनहार, बुद्धिमान

बालकका जन्म हुआ। उस बालक की भद्र (मनोहर) शरीर आकृति देखकर लोगोंने उस बालक का नाम भद्रबाहु रक्खा। भद्रबाहु अपनी तीक्ष्ण बुद्धिका परिचय मनुष्योंको जन्मसे ही कराने लगा। बात चीत करने, खेल खेलने, उठने बैठने आदि व्यवहारोंसे वह अपनी कुशाग्र बुद्धिका परिचय लोगोंको देने लगा।

एक समय श्री गोवर्द्धन नामक श्रुतकेवली (समस्त द्वादशांग श्रुतज्ञानके पारगामी) गिरनार क्षेत्र की यात्रा करके अपने संघसहित लौट रहे थे। मार्गमें कोटपुर नगर पडा। इस नगरके बाहर भद्रबाहु अन्य लडकोंके साथ खेल रहा था। उस समय खेल यह हो रहा था कि कौन लडका कितनी गोलियोंको एक दूसरे के ऊपर चढा सकता है? इस खेलके समय ही श्री गोवर्द्धन आचार्य भी वहां आ पहुंचे। उन्होंने देखा कि किसी लडकेने चार गोलीं एक दूसरे के ऊपर चढाई तो किसीने पांच गोलियां चढाई। आठ गोलियोंसे अधिक कोई भी बालक गोलियोंको एक दूसरे के ऊपर खडा न कर सका।

किन्तु जब भद्रबाहुकी बारी आई तब भद्रबाहुने कुशलतासे एक दूसरे के ऊपर रखते हुए चौदह गोलियां चढाकर ठहरा दीं। जिसको देखकर खेलने वाले सभी लडकोंको तथा देखने वाले श्री गोवर्द्धन आचार्यके संघवाले सब मुनियोंको बडा आश्चर्य हुआ।

गोवर्द्धन स्वामी आठ अंग निमित्तोंके ज्ञाता थे यानी-आठ प्रकारके निमित्तोंको देखकर आगामी होने वाली शुभ अशुभ बातको जान-लेते थे। उन्होंने भद्रबाहुकी खेलनेकी चतुराई का निमित्त देखकर तथा उसके शरीरके शुभ लक्षण जान कर निश्चय किया कि यह बालक ग्यारह अंग, चौदह पूर्वोंका ज्ञाता श्रुतकेवली होगा। जिस समय उन्होंने उसका नाम पूछा तब तो उनको पूर्ण निश्चय हो गया कि श्री महावीर भगवानने जो भद्रबाहु नामक अन्तिम श्रुतकेली का होना बतलाया है सो वह श्रुतकेवली यह बालक ही होगा।

ऐसा निर्णय करके श्री गोवर्द्धन स्वामीने भद्राबाहुसे कहा कि हे महाभाग चलो, तुम हमको अपने घरपर ले चलो। भद्रबाहु श्री गोवर्द्धन

स्वामीको अपने घरपर लेगया। वहां पर भद्रबाहुके माता पिताने श्री गोवर्द्धन स्वामीको ऊंचे आसनपर बिठाकर बहुत सत्कार किया। तब श्री गोवर्धन आचार्यने उनसे कहा कि तुम्हारा भद्रबाहु एक अच्छा होनहार बालक है। यह समस्त विद्याओंका पारगामी अनुपम विद्वान होगा सो तुम इसको पढानेके लिये मुझको दे दो। मैं इसको समस्त शास्त्र पढाऊंगा।

भद्रबाहुके माता पिताने प्रसन्नमुखसे कहा कि महाराज! यह बालक आपका ही है। आपको पूर्ण अधिकार है कि आप इसे अपने मनके अनुसार अपने पास रखकर चाहे जो अध्ययन करावें। हमको इस विषयमें बोलनेका कुछ अधिकार नहीं। ऐसा कहकर उन दोनोंने भद्रबाहुको प्यार करके आशीर्वाद देकर श्री गोवर्द्धन आचार्यके साथ रवाना कर दिया।

गोवर्द्धनस्वामीके पास रहकर भद्रबाहु समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करने लगा। गुरुने परोपकारिणी बुद्धिसे भद्रबाहुको अच्छी तरह पढाया और भद्रबाहुने भी गुरुके विनय, आज्ञापालन आदि गुणोंसे गुरुके हृदयको प्रसन्न करते हुए थोडेसे समयमें समस्त शास्त्र पढ लिये। ज्ञानावरण कर्मके प्रबल क्षयोपशमको प्राप्त कर तथा गुरु गोवर्द्धनका अनुग्रहपूर्ण प्रसाद पाकर भद्रबाहुने सिद्धांत, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, छन्द आदि सब विषय तथा ग्यारह अंग, चौदह पूर्व, समस्त अनुयोग पढकर धारण कर लिये।

समस्त विद्याओंमें पारगामी हो जाने पर भद्रबाहुने अपने गुरु श्री गोवर्द्धन स्वामीसे अपने माता पिताके पास जानेके लिये विनयपूर्वक आज्ञा मांगी। गोवर्द्धन स्वामीने आशीर्वाद देकर भद्रबाहुको घर जानेकी आज्ञा दे दी।

भद्रबाहु अपनेको अनुपम विद्वान जानकर जब अपने घर पहुंचे तो उनके माता पिता उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। भद्रबाहुकी प्रखर विद्वत्ताकी प्रशंसा सर्वत्र होने लगी।

एक दिन भद्रवाहु अपने नगरके राजा पद्मधरकी राजसभामें पधारे। राजाने भद्रवाहुका आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उच्चासन दिया। राजसभामें और भी अनेक अभिमानी विद्वान विद्यमान थे। उन्होंने भद्रवाहुकी विद्वत्ता परखनेके लिये भद्रवाहुके साथ कुछ छेड़ छाड़ की। फिर क्या था, भद्रवाहुने वातकी वातमें समस्त अभिमानी विद्वानोंको अपनी गंभीर वाग्मितासे जीत लिया। उस समय स्याद्वाद सिद्धांत तथा जैनधर्मका राजसभाके समस्त सभासदोंके ऊपर बहुत भारी प्रभाव पड़ा। राजा पद्मधरने जैनधर्म स्वीकार कर लिया। इस भारी विजयके कारण भद्रवाहुका यश दूर दूर तक फैल गया।

अपने माता पिताके पास घरमें रहते हुए कुछ दिन बीत गये। एक दिन भद्रवाहुको संसारकी निःसार दशा देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे घरको विकट जाल अथवा कारावास (जेलघर) समझने लगे। कुटुंब परिवारका प्रेम उन्हें विष समान मालूम होने लगा। सांसारिक पदार्थ उन्हें विषफल समान दीखने लगे। इस कारण उन्होंने घर परिवारको छोड़कर साधु बनकर वनमें रहनेका निश्चय किया।

इस विचारको प्रगट करते हुए जब भद्रवाहुने अपने मातापितासे मुनि बननेके लिये आज्ञा मांगी तब उनके माता पिताने गृहस्थाश्रमका सब प्रकार लोभ दिखलाते हुए वैराग्यसे भद्रवाहुका चित्त फेरना चाहा। किन्तु भद्रवाहु सच्चे तत्वज्ञानी थे। संसारके भोगोंकी निष्फलता तथा साधु जीवनका महत्त्व उन के हृदय पटलपर अच्छी प्रकार अंकित हो चुका था। इस कारण वे गृहस्थाश्रमके लोभमें तनक भी नहीं फसे। पुत्रका दृढ निश्चय देखकर भद्रवाहुके माता पिताने भद्रवाहुको साधु बननेकी अनुमति दे दी।

श्री भद्रवाहु स्वामी अपने मातापिताकी आज्ञा पाकर मुनिदीक्षा ग्रहण करनेके लिये अपने विद्यागुरु श्री गोवर्द्धन स्वामीके समीप गये। वहां पहुंच उनके चरणकमलोंमें मस्तक रखकर भद्रवाहुने गद्गद स्वरमें प्रार्थना की कि पूज्य गुरो! जिस प्रकार आपने मुझको अनुग्रहपूर्ण हृदयसे ज्ञानप्रदान किया है उसी प्रकार अब मुझको निर्वाण

दीक्षा देकर चारित्रप्रदान भी कीजिये। मैं सांसारिक विषयभोगोंसे भयभीत हूं। मुझे विषयभोग विषभोजनके समान और कुटुम्ब परिजन विषभरे नागके समान दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे आप मेरी रक्षा कीजिये।

श्री गोवर्द्धन स्वामीने प्रसन्न मुखसे आशीर्वाद देते हुए कहा वत्स! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। तत्वज्ञानका अभिप्राय ही यह है कि जिस पदार्थको अपना स्वार्थनाशक समझे उसका साथ छोडनेमें तनक भी देर न करे। तपस्या करके आत्माको शुद्ध बनाना यह ही मनुष्यका सच्चा स्वार्थ है। इस परमार्थको सिद्ध करनेके लिये जो तुमने निश्चय किया है वह बहुत अच्छा है।

ऐसा कह कर गोवर्धनस्वामीने भद्रबाहुको विधिपूर्वक असंयम, परिग्रह का त्याग कराकर साधुदीक्षा दी। भद्रबाहु दीक्षित होकर साधुचर्या पालन करते हुए अपना जीवन सफल समझने लगे।

जैसे रत्न स्वयं सुंदर पदार्थ है किन्तु सुवर्णमें जडकर उसकी कान्ति और भी अधिक मनोमोहिनी हो जाती है। इसी प्रकार भद्रबाहुस्वामीका अगाध ज्ञान स्वयं प्रकाशमान गुण था। किन्तु वह मुनिचारित्रके संयोगसे और भी अधिक सुंदर दीखने लगा। भद्रबाहु स्वामीको सर्वगुणसम्पन्न देखकर गोवर्द्धनस्वामीने उन्हें एकदिन शुभ मुहूर्तमें मुनिसंघका आचार्य बना दिया, आचार्य बनकर भद्रबाहु मुनिसंघकी रक्षा करने लगे।

कुछ दिनों पीछे गोवर्धनाचार्यने अपना मृत्युसमय निकट आया जानकर चार आराधनाओंकी आराधना कर समाधि धारण की। और अंतिम समय समस्त आहार पानका त्याग करके इस मानव शरीरको छोडकर स्वर्गोंमें दिव्य शरीर धारण किया।

श्री गोवर्द्धन आचार्यके स्वर्गारोहण करनेके पीछे भद्रबाहु आचार्य अपने मुनिसंघ सहित देशान्तरोंमें विहार करने लगे। विहार करते हुए भद्रबाहु स्वामी मालव देशके उज्जयिनी (उज्जैन) नगरके निकट उद्यानमें आकर ठहरे। उस समय भारतवर्षका एकच्छत्र राज्य करने वाला सम्राट् चन्द्रगुप्त उज्जयिनीमें ही निवास करता था।

उसको रात्रिके अंतिम पहरमें सोते हुए १६ सोलह स्वप्न दिख-लाई दिये। १-कल्पवृक्षकी शाखा टूटगई है। २-सूर्य अस्त होता हुआ देखा। ३-चन्द्रमाके मंडल में बहुतसे छेद देखे। ४-बारह फण वाला सर्प दिखलाई दिया। ५-देवका विमान पीछे लौटता हुआ देखा। ६-अपवित्र स्थानमें (धूल कूडे करकटमें) फूला हुआ कमल देखा ७-भूत प्रेतोंको नाचते कूदते देखा। ८-खद्योत (पटवीजना-जुगुनू) का प्रकाश देखा। ९-एक किनारे पर थोडेसे जलका भरा हुआ और बीचमें सूखा ऐसा तालाब देखा। १०-सोनेके थालमें कुत्तेको खीर खाते हुए देखा। ११-हाथीके ऊपर बंदरको सवार देखा। १२-समुद्रको अपने किनारोंकी मर्यादा तोडते देखा। १३-छोटे छोटे बछडोंसे खिचता हुआ रथ देखा,। १४-ऊंटके ऊपर चढा हुआ राजपुत्र देखा। १५-धूलसे ढके हुए रत्नोंका ढेर देखा। १६ तथा काले हाथियोंका आपसमें युद्ध देखा।

इन अशुभ स्वप्नोंको देखकर चन्द्रगुप्तको कोई भारी अनिष्ट होनेकी आशंका होने लगी। इस कारण उसका चिंतातुर हृदय उन अशुभ स्वप्नोंका फल जाननेके लिए व्यग्र हो उठा। प्रातःकाल होते ही नित्य नियम समाप्त करकें जैसे ही राजसभामें पहुंचकर राजसिंहासनपर बैठा कि उद्यानके वनपालने उनके सामने अनेक प्रकारके फल फूल भेट करके निवेदन किया कि महाराज ! उद्यानमें श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु आचार्य अपने संघसहित पधारे हैं।

यह शुभ समाचार सुनकर चन्द्रगुप्तको अपार हर्ष हुआ। उसने विचार किया कि आज मेरी चिंता श्री भद्रबाहु स्वामीके दर्शनसे दूर हो जायगी। यह विचार कर उसने हर्षित होकर वनपालको अच्छा पारितोषक दिया। और नगरमें आनन्दकी भेरी बजवायी। नगरनिवासिनी जनताने श्री भद्रबाहु आचार्यका आगमन जानकर हर्ष मनाया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु आचार्यके समीप वन्दना करनेके लिये अपने मंत्री मंडल, मित्र परिकर, कुटुम्ब परिजन सहित बडे समारोहसे चला। नगरकी जनता भी उसके पीछे पीछे चली।

उद्यानमें पहुंचकर चन्द्रगुप्तने बहुत विनय भावसे भद्रबाहु स्वामीके चरणोंमें नतमस्तक होकर प्रणाम किया। फिर यथास्थान बैठ जानेपर चन्द्रगुप्तने हाथ जोडकर भद्रबाहु स्वामीके सन्मुख रात्रिको देखे हुए १६ अशुभ स्वप्न कह सुनाये और उनका फल जाननेकी इच्छा प्रगट की।

भद्रबाहु स्वामीने कहा कि वत्स, १६ अशुभ स्वप्न पंचमकाल में होनेवाली घोर अवनति के बतलाने वाले हैं। उनका फल मैं क्रमसे कहता हूं सो तूं सावधान होकर सुन।

पहले स्वप्नका फल यह है कि इस कलिकालमें अब पूर्ण श्रुतज्ञान अस्त हो जाने वाला है अर्थात अब आगे कोई भी द्वादशाङ्गका वेत्ता श्रुतकेवली नहीं होगा।

दूसरे स्वप्नका फल है कि—अब आगे कोई भी राजालोग जैनधर्म धारण कर संयम ग्रहण नहीं करेंगे। तीसरा स्वप्न बतलाता है कि—जैन मतके भीतर भी अनेक भेद हो जावेंगे। चौथे स्वप्नका फल है कि अब बारह वर्षका घोर दुर्भिक्ष (अकाल) होगा। पांचवा स्वप्न कहता है कि— इस कलिकालमें कल्पवासी आदि देव, विद्याधर, चारण-मुनि नहीं आवेंगे। छट्ठे स्वप्नका फल यह है कि—उत्तम कुलवाले क्षत्रिय आदि कुलीन मनुष्य कलिकालमें जैनधर्म ग्रहण नहीं करेंगे। जैनधर्म पर नीचकुलवालोंको रुचि उत्पन्न होगी। सातवें स्वप्न का फल है कि इस कलियुगमें भूत पिशाचादि कुदेवोंकी श्रद्धा जनतामें बढेगी। आठवां स्वप्न कहता है कि कलिकालकी विकराल प्रगतिसे जैनधर्मका प्रकाश बहुत मंद हो जायगा। नौवें स्वप्नका फल यह है कि जिन अयोध्या आदि स्थानोंपर तीर्थंकरोंके जन्म आदि कल्याणक हुए हैं वहांपर जैनधर्मका नाश होगा किन्तु दक्षिण देशमें जैन-धर्मकी सत्ता बनी रहेगी। दशवें स्वप्नका फल है कि धनसम्पत्तिका उपभोग करनेवाले नीच जातिके मनुष्य होंगे। हाथीपर चढा हुआ बंदर देखा उसका फल यह है कि राज्य करनेवाले नीच लोग होंगे। क्षत्रिय राज्यहीन होंगे। बारहवें स्वप्नका कहना है कि—प्रजापालक

राजा लोग नीतिमार्ग छोडकर अनीतिमार्गपर चलेंगे। तेरहवें स्वप्नका फल है कि कलिकालमें तपश्चरण करनेके भाव मनुष्योंको अपनी छोटी अवस्थामें ही होंगे। वृद्ध दशावाले लोग संयम नहीं ग्रहण करेंगे। ऊंटपर चढा हुआ राजपुत्र देखनेका फल यह है कि राजा लोग अहिंसा धर्म छोडकर हिंसक बनेंगे। धूलसे ढके हुए रत्नोंके देखनेका फल यह है कि साधुलोग भी परस्पर एक दूसरेकी निंदा करेंगे। अंतिम स्वप्नका फल यह है कि बादल ठीक समयपर वर्षा नहीं किया करेंगे। यानी अतिवृष्टि, अनावृष्टि प्रायः हुआ करेगी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने १६ दुःस्वप्नोंके ऐसे अशुभ फल होते जानकर संसारसे भयभीत हो गया। उसने शरीर, धन, कुटुम्ब, राज्य-शासन आदिकी असारता समझकर साधु बनकर तपस्या करना ही उत्तम समझा। ऐसे प्रबल वैराग्य भावसे प्रेरित होकर राजसिंहासन पर बैठ राज्य करना जंजाल मालूम हुआ। इस कारण उसने अपने पुत्र सिंहसेनको जिसका कि दूसरा नाम बिन्दुसार था, राजसिंहासन पर बैठाया और उसको राज्यशासनके समस्त अधिकार देकर आप श्री भद्रबाहु आचार्यसे मुनिदीक्षा लेकर साधु बन गया। दीक्षा ग्रहण करते समय भद्रबाहु आचार्यने उसका चन्द्रगुप्त नाम बदलकर प्रभाचन्द्र रख दिया।

एक दिन भद्रबाहु आचार्य गोचरीके लिये नगरमें गये वहां पर जिनदास सेठने उनका आह्वान किया। तदनुसार जब आचार्य घरके भीतर भोजन करने घुसे तब वहांपर एक छोटेसे बालकने भद्रबाहुको घरमें आते देखकर कहा कि 'जाओ जाओ,' भद्रबाहु स्वामीने उससे पूछा कि कितने समयके लिये जावें? उस अबोध बाल-कने कहा १२ बारह वर्षके लिये। यह सुनकर भद्रबाहु आचार्य अंतराय समझ कर बिना आहार ग्रहण किये ही वहांसे वनमें पीछे चले गये।

वहांपर पहुंचकर श्री भद्रबाहु आचार्यने अपने समस्त मुनिसंघको पासमें बुलाया और उन सबसे कहा कि अब इधर मालवदेशमें १२

वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष पड़ने वाला है जिसमें लोगोंको अन्न का कण मिलना भी दुर्लभ हो जायगा। उस भयानक समयमें पात्रदान आदि शुभकार्य बंद हो जावेंगे। उस समय इस देशमें मुनिसंघका विहार असंभव हो जावेगा। अत एव जब तक यहां दुर्भिक्ष रहे तब तक कर्णाटक आदि दक्षिणदेशोंमें विहार करना चाहिये। भद्रबाहु स्वामीकी आज्ञा समस्त मुनिसंघने स्वीकार की।

जब यह बात उज्जैनके श्रावकोंने सुनी तब वे सब मिलकर संघके अधिपति श्री भद्रबाहु स्वामीके पास आये और आकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज! आप मालव देशमें ही विहार कीजिये, दक्षिण देशकी ओर न जाइये।

भद्रबाहु स्वामीने कहा कि श्रावक लोगो! तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु यहांपर १२ वर्षतक घोर दुष्काल रहेगा जिसमें लोगोंको एक दाना भी खानेको न मिलेगा। उस भयानक समयमें इस देशके भीतर मुनिधर्मका पलना असंभव हो जायगा।

तब कुबेरमित्र, जिनदास, माधवदत्त, बन्धुदत्त सेठोंने क्रमसे कहा कि महाराज! आपके अनुग्रहसे हमारे पास पर्याप्त धन धान्य है। यदि इस नगरके समस्त मनुष्य भी १२ वर्ष तक हमारे यहां भोजन करते रहें तो भी हमारे भंडारका अन्न समाप्त नहीं हो सकेगा। इस इस कारण दुर्भिक्ष कितना ही भयानक क्यों न हो, हम अपने भंडारोंको खोलकर दुष्कालका प्रभाव इस उज्जैन नगरमें रंचमात्र भी नहीं पड़ने देंगे।

भद्रबाहु आचार्यने कहा कि तुम लोगोंकी उदारता ठीक है। धन धान्यका उपयोग परोपकारकेलिये ही होना सफल है, उत्तम कार्य है। किन्तु निमित्त यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि इस देशके व्यापक दुर्भिक्षकी भयानक, न सह सकने योग्य दुर्दशाको कोई भी किसी प्रकार भी नहीं मिटा सकेगा। इस कारण मुनिधर्मकी रक्षा होना यहांपर असंभव है।

भद्रबाहुस्वामीका ऐसा दृढ निश्चय देखकर श्रावक लोग राजमल्य, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्यके समीप गये और उनसे भी बहुत विनयपूर्वक प्रा-

र्थना करके दुर्भिक्ष के कुसमयमें भी वहां पर ही ठहरनेका निवेदन किया। श्रावकोंका बहुत आग्रह देखकर उन्होंने वहां पर ठहरना स्वीकार कर लिया। उनके संघके अन्य साधु भी उनके साथ वहां पर ठहर गये। शेष बारह हजार साधुओंको अपने साथ लेकर श्री भद्रबाहु आचार्य दक्षिण की ओर चल दिये।

भद्रबाहु आचार्य अपने संघ सहित विहार करते करते श्रवणबेलगुलके समीप वनमें पहुंचे। वहांपर उनको किसी निमित्तसे यह मालूम हो गया कि अब मेरी आयु बहुत थोडी रह गई है। ऐसा समझकर उन्होंने समाधिमरणके लिये सन्यास धारण करनेका विचार किया। उन्होंने अपना विचार मुनिसंघके सामने प्रगट किया। फिर अपने आचार्यके पद पर आचार्यपदके सर्वगुणोंसे सुशोभित दशपूर्वके धारी विशाख मुनिको प्रतिष्ठित किया और उन विशाखाचार्यके साथ समस्त मुनियोंको चोलपांड्य देशमें जानेकी आज्ञा दी।

भद्रबाहु स्वामीके पास वैयावृत्य (सेवा) करने के लिये प्रभाचन्द्र मुनि (पूर्वनाम सम्राट् चन्द्रगुप्त) रह गये। वहां कटवप्र पर्वतपर एक गुफाके भीतर भद्रबाहु स्वामी सन्यास धारण करके रहने लगे। प्रभाचन्द्र मुनि उनकी सेवा करने लगे। कुछ दिन पीछे अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी समाधिपूर्वक स्वर्गयात्रा कर गये। प्रभाचन्द्र मुनि वहांपर ही तपश्चरण करने लगे।

उधर उत्तर भारतवर्षमें विन्ध्याचल तथा नील पर्वतके मध्यवर्ती देशोंमें दुर्भिक्ष का प्रारंभ हुआ। जलवर्षा एक वर्ष नहीं हुई, दो वर्ष नहीं हुई, तीन वर्ष नहीं हुई। दरिद्र लोगोंके सिवाय साधारण जनताके पास भी खानेके लिए अन्न नहीं रहा। उधर उज्जैनमें कुबेरमित्र आदि सेठोंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भूखे लोगोंको खानेके लिए अन्नदान प्रारंभ कर दिया। उज्जैनके सिवाय अन्य नगरके दरिद्र लोगोंने जब यह सुना तो वे भी अपनी भूख मिटानेके लिए चारों ओरसे उज्जैनमें आगये। और सबके सब कुबेरमित्र आदि सेठोंकी दानशालाओंमें पहुंचे। सेठोंकी दानशालाओंने कुछ दिनोंतक काम चलाया भी।

श्रावकोंका निवेदन उचित समझ कर तीनों आचार्योंने वन छोड़-कर नगरमें रहना स्वीकार कर लिया। श्रावक लोग उनको नगरमें बहुत उत्सवके साथ ले आये और नगरके अनेक मकानोंमें ठहरा दिया।

नगरमें आकर मुनिसंघको, वनमें लौटनेके समय क्षुधापीड़ित रङ्क लोगोंसे जो बाधा होती थी सो तो अवश्य मिट गई। किन्तु दूसरी बाधा यह आ खड़ी हुई कि जब वे आहार लेने श्रावकोंके घर जाते तभी भूखे दीन दरिद्र लोग भोजन पानेकी आशासे उन मुनियोंके साथ हो जाते थे। जब उनको किसी प्रकारसे दूर हटाते थे तो वे दीन करुणा-जनक स्वरसे विलाप करते थे जिससे मुनि अन्तराय समझकर विना आहार किये लौट जाते थे।

अंतरायका दूसरा कारण यह भी होता था कि श्रावक लोग दरिद्र लोगोंको घरमें घुस आनेके भयसे दिन भर घरका द्वार बंद रखते थे। मुनि जब आहारके लिये उनके घरपर जाते थे, दरवाजा बंद देखकर लौट जाते थे। इस आपत्तिको दूर करनेकेलिये श्रावक लोगोंने आचार्योंके समीप पहुंचकर विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महात्मन् यह समय बहुत भारी संकट का है। इस समय मुनिधर्मकी रक्षाके लिये आपको इस प्रकार निराहार रहना ठीक नहीं। दिनमें घर पर आकर भोजन लेना असंभव हो रहा है। इस कारण इस विपत्तिकालमें आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करें कि रात्रिके समय भोजन पात्रोंमें ले आकर दिनमें खा लिया करें। ऐसा किये विना काम नहीं चल सकता।

आचार्योंने पहले तो यह बात अनुचित समझ कर स्वीकार नहीं की किन्तु अंतमें कुछ और उचित उपाय न देखकर दुष्कालके रहने तक यह बात भी स्वीकार कर ली। तदनुसार रामल्य आदि आचार्योंकी आज्ञानुसार प्रत्येक मुनिको आहार पान लानेके लिये काठके पात्र मिल गये। उन पात्रोंको लेकर प्रत्येक मुनि रात्रिके समय श्रावकोंके घर जाता और वहांसे भोजन लेकर अपने स्थानपर आकर दूसरे दिन खा लिया करता।

रात्रिके समय श्रावकोंके घर आते जाते समय सड़क गलियोंके

कुत्ते मुनियोंकी ओर भोंकते और उन्हें काटने दौड़ते । खाली हाथों वाले अहिंसा महाव्रतधारी साधुओंको यह भी बहुत बाधा खड़ी हो गई । यदि कुत्तोंको भगानेके लिये वे कपड़ोंमें बंधे पात्रोंकी पोटलीसे काम लेते तो भोजन खराब होता था । अन्य भी किसी प्रकार कुत्तोंसे बचनेका उपाय उनके पास नहीं था । इस कारण उनके परिणामोंमें व्याकुलता उत्पन्न होने लगी ।

इस बाधाको दूर करनेके लिये समस्त श्रावकोंने आचार्य महाराज से सविनय प्रार्थना की कि महाराज ! नगरमें रहते हुए कुत्तोंकी बाधासे बचनेके लिये एक उपाय केवल यह है कि सब साधु महाराज अपने अपने पास एक एक लाठी अवश्य रक्खें । उस लाठी के भयसे कुत्ता, चोर, बदमाश आपको बाधा नहीं पहुंचा सकेंगे ।

दुष्कालकी विकराल दशाको देखकर आचार्योंने श्रावकोंका यह कहना भी स्वीकार कर लिया । फिर उस दिनसे प्रत्येक साधु अपने पास एक एक लाठी रखने लगा जिससे कि डरकर कुत्तोंने भी साधुओंको आते जाते काटना बंद कर दिया ।

एक बार रात्रिके समय एक क्षीण शरीरवाला मुनि लाठी, पात्र लिए यशोभद्र सेठके घर भोजन लेने गया । तब उसकी गर्भवती स्त्री धनश्री उस मुनिका नग्न काला भयंकर शरीर देखकर डर गई । वह एक दम इतनी डर गई कि उसको गर्भपात हो गया । जिससे उस घर हाहाकार मच गया । साधु भी अन्तराय समझकर अपने स्थानको विना भोजन लिए लौट गये ।

दूसरे दिन आचार्योंके निकट श्रावकोंने आकर यशोभद्र सेठके घर सेठानीके गर्भपातका समाचार सुनाया और विनयपूर्वक निवेदन किया कि गुरुमहाराज ! आप स्वयं समझते हैं कि ऐसे भयानक समयमें मुनिधर्मकी रक्षा करना बहुत आवश्यक है । उसकी रक्षाके लिये आपने जैसे हमारी प्रार्थना सुनकर नगर में रहना, लाठी पात्रोंका रखना आदि स्वीकार कर लिया है उसी प्रकार कृपा करके एक चादर तथा एक कंबल शरीरको ढकनेके लिये रखना

भी अवश्य स्वीकार कर लीजिये। अन्यथा काम चलना बड़ा कठिन है। साधुके नग्न शरीरके कारण ही यशोभद्रकी सेठानीको भयभीत होकर गर्भपात हो गया। जिस समय दुर्भिक्ष समाप्त हो जाय उस समय आप यह सब उपाधि त्याग कर शुद्ध मुनिवेष धारण कर लेना।

आचार्योंने यह विचार किया कि दुर्भिक्षका अंत होनेपर हमारे इन दोषोंका भी अंत हो जायगा। हम प्रायश्चित्त लेकर पुनः शुद्ध हो जावेंगे। यदि हम इस समय कपडे न पहनें तो हमारा रहना बहुत कठिन है। यदि हम तथा हमारे संघके मुनि न रहे तो जैनधर्मके प्रचारमें बहुत बाधा आवेगी। अतः इस समय वस्त्र धारण करना भी आवश्यक है। यह विचार कर उन्होंने श्रावकोंकी बात स्वीकार कर ली और मुनियोंको आज्ञा दी कि प्रत्येक मुनि चादर तथा कंबल पहने ओढे।

आचार्योंकी आज्ञानुसार तबसे प्रत्येक साधु कपडे भी पहनने ओढने लगे।

इस प्रकार एक एक आपत्तिको दूर करनेके लिये वस्त्र, पात्र, लाठी रखना, श्रावकोंके घरसे भोजन लाकर अपने स्थान पर खाना, रात्रिमें आना जाना, नगरमें रहना इत्यादि अनेक अनुचित बातें जो कि मुनि-धर्मके प्रतिकूल थी इन रामल्य, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्यने तथा उनके संघमें रहनेवाले साधुओंने स्वीकार करलीं।

दुर्भिक्षने बारह वर्षके विकट बहुत बडे चक्रको काटकर अपनी समाप्ति की। इस चक्रमें कितने मनुष्य, पशु, पक्षी किस बुरी दशासे छटपटाते हुए प्राण छोड गये इसको सर्वज्ञदेव के सिवाय और कोई नहीं जानता।

बारह वर्षतक चोल पांड्य [दक्षिण—कर्णाटक] देशोंमे विहार करते हुए विशाखाचार्य उत्तरीय भारतवर्षमें दुर्भिक्षका अंत समझकर अपने समस्त मुनिसंघसहित मालव देशकी ओर चल पडे। मार्गमें जहां श्रवण बेलगुलके समीप कटवप्र पर्वतपर भद्रबाहु स्वामी और उनके अनन्य भक्त प्रभाचन्द्र मुनिको (पूर्वनाम—चन्द्रगुप्त) छोडा था, आकर ठहरे। यहांपर प्रभाचन्द्र मुनिसे भद्रबाहु स्वामीके समाधि

मरण का समाचार पूछा। फिर प्रभाचन्द्र मुनिको भी अपने साथ लेकर मालवा देशके लिये विशाखाचार्यने प्रयाण किया। तथा वे चलते चलते मार्गमें जैनधर्म का प्रचार करते हुए क्रमसे मालव देशमें आ पहुंचे।

समस्त संघसहित विशाखाचार्यको मालव देशमें आया हुआ जानकर रामल्य, स्थूलभद्र, स्थूलाचार्यने (इनमें स्थूलाचार्य सबसे वृद्ध थे) एक मुनिको भेज कर विशाखाचार्यके पास यह संदेशा भेजा कि आप उज्जैन पधार कर हम सब लोगोंको दर्शन दीजिये। हम आपके दर्शनोंकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संदेश लानेवाले मुनिको कपडे पहने हुए साथमें भोजनपात्र रक्खे हुए तथा हाथमें लाठी लिये हुए देखकर विशाखाचार्यके हृदयमें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने उस मुनिसे कहा कि परिग्रहत्याग महाव्रत स्वीकार करते हुए तुम लोगोंने संसार वृद्धिका कारण, रागभाव का उत्पादक यह दंड पात्र वस्त्र आदि परिग्रह क्यों स्वीकार कर लिया है? क्या जैन साधुका ऐसा स्वरूप होता है?

संदेश लाने वाले साधुने नीची आंखें करके दुर्भिक्षका सारा वृत्तांत और प्रबल बाधाओंको हटानेके लिये लाठी, पात्र, कपड़े आदि रखनेकी कथा विशाखाचार्यको कह सुनाई।

विशाखाचार्यने यह कह कर उसको विदा किया कि तुम लोगोंने दुर्भिक्षके समय इस देशमें रहकर ऐसा उन्मार्ग चलाया यह ठीक नहीं किया। खैर, अब छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त लेकर इस प्रतिकूल मार्गको छोडकर फिर उसी पहले निर्ग्रंथ नग्न मुनिवेशको तथा निर्दोष मुनि-चारित्रको धारण करो।

उस मुनिने स्थूलाचार्य अपरनाम शान्ति आचार्य के पास जाकर विशाखाचार्यकी कही हुई समस्त बातें कह सुनाईं। विशाखाचार्यका संदेश सुनकर स्थूलाचार्यको अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने समस्त मुनियोंको अपने पास बुलाकर विशाखाचार्यका संदेश कहा और मधुर शब्दोंमें समझाया कि मोक्ष प्राप्त करनेके लिये आप लोगोंने साधुचर्या स्वीकार करके महाव्रत धारण किये हैं। इन महाव्रतोंमें तथा मुनि-

चारित्रमें दुर्भिक्षके कारण जो दोष उत्पन्न हो गये हैं उन दोषोंको दूर करते हुए प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध होना आवश्यक है। ऐसा किये बिना तुम्हारी कठिन तपस्या और यह मुनिचर्या निष्फल है। जिन-आज्ञाके विरुद्ध आचरण पालनेसे मिथ्यात्व भाव हृदयमें प्रवेश करता है। जिस प्रकार सफेद वस्त्र पर जरासा धब्बा भी सब किसीको दीखता है उसी प्रकार हम लोगोंकी चर्याके दोष सारे संसारको दृष्टिगोचर हैं। इस निमित्तसे संसारमें जैनधर्मका बहुत उपहास होगा।

स्थूलाचार्य का [अपरनाम शान्ति आचार्यका] यह उपदेश अनेक भद्र साधुओंको हितकर मालूम हुआ इस कारण उन्होंने अपने मलिन चारित्रका परिशोध करते हुए वस्त्र, लाठी, पात्र आदि उपाधि छोडकर पहले सरीखा नग्न, निर्ग्रंथ वेश धारण कर लिया।

किन्तु कुछ साधुओंको स्थूलाचार्यका यह उपदेश ऐसा अप्रिय अनुभव हुआ जैसे वेश्या व्यसनवाले पुरुषको व्यभिचारकी निन्दा और ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा सुनकर बुरा मालूम होता। उन्होंने स्थूलाचार्यसे कहा कि पूज्यवर! आपका कथन सत्य है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको अपने अनुकूल देखकर प्रवृत्ति करना योग्य है। यह कलिकाल बडा विकराल काल है। इस भयानक समय में मनुष्योंका शरीर हीन संहनन वाला होनेसे निर्बल होता है। नग्न रहकर लज्जा, सर्दी गर्मी आदि विकट बाधाओंको जीतना बहुत बलवान शरीरका काम है। हम लोग इस निर्बल शरीरको लेकर नग्न किस प्रकार रह सकते हैं!

स्थूलाचार्यने कहा कि यदि तुम लोग नग्न रहकर परीषह नहीं सह सकते हो तो बहुत उत्तम बात यह होगी कि मुनिचारित्र छोडकर ग्यारहवी प्रतिमाका श्रावकचारित्र धारण करो जिससे तुम्हारा उत्साह, इच्छा भी न गिरने पावे और जैनसाधुओंका भी संसारमें उपहास न होने पावे। मार्ग एक ही ग्रहण करो। या तो मुनि चारित्र पालना स्वीकार हो तो ये लाठी, पात्र, वस्त्र छोडकर नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करो। अथवा यदि वस्त्र नहीं छोडना चाहते हो तो ऊंची श्रेणीका गृहस्थ आचरण पालना स्वीकार करो। महाव्रतधारी जैन मुनि नाम

रखकर गृहस्थों कीसी क्रियाएं रखना सर्वथा अनुचित है।

स्थूलाचार्यका यह उत्तर सुनकर मुनियोंने फिर कहा कि नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करनेकी तो हमारे शरीर तथा आत्मामें शक्ति नहीं। और गृहस्थ चारित्र इस लिये नहीं पालना चाहते हैं कि फिर हमारा अपमान होगा। संसार हमारी हीन दशा देखकर हसी उडावेगा। फिर हमको कोई भी महाव्रतधारी मुनि न कहेगा। और इसी कारण हमारा फिर इतना आदरसत्कार, सम्मान भी नहीं होगा।

तब स्थूलाचार्यने उत्तर दिया कि यदि तुम लोग गृहस्थ चारित्र पालना नहीं चाहते और अपने मुनि चारित्रको भी निर्दोष नहीं करना चाहते तो इसका अभिप्राय यह है कि यह भ्रष्ट साधुवेश तुम केवल संसारको धोखा देनेके लिये ही धारण करते हो। तुम्हारे हृदयमें सच्चा वैराग्य भाव नहीं है। इस कारण कहना होगा कि तुम इस मुनिवेशसे केवल उदरपूर्ति करना चाहते हो, लोगोंमें बड़प्पन प्राप्त करना चाहते हो। आत्मकल्याणका भाव तुम्हारे हृदयमें रंचमात्र भी नहीं है।

स्थूलाचार्यके ऐसे खरे वचन सुनकर उन साधुओंमेंसे २-१ साधुको बहुत क्रोध हो आया। वह स्थूलाचार्यकी वृद्धदशा, आचार्य पदवीका तथा पूज्यताका कुछ भी खयाल न करके उत्तेजित होकर बोल उठे कि यह तो बुड्ढा हो गया है। इसकी बुद्धि भी बुड्ढी हो गई है। अब इसको हित अहितका विचार करनेकी जरा भी शक्ति नहीं रही। इसी कारण यह ऐसा अंड बंड बोल रहा है। इसकी बातें सुनना पाप है तथा इसका मुख देखना भी अशुभ है। यह बुड्ढा जब तक रहेगा तब तक हम लोगोंको शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

ऐसा कहते हुए एक क्रूरचित्त साधुने जो कि स्थूलाचार्य का ही शिष्य था लाठीके दश पांच अच्छे प्रहार स्थूलाचार्य (अपरनाम शांति आचार्य) के शिर पर कर दिये जिसको कि उनका दुर्बल वृद्ध शरीर न सह सका और उनका प्राणपक्षी असार शरीरको छोडकर उड गया।

स्थूलाचार्यका जीव आर्तध्यानसे मरा इस कारण व्यन्तरदेवका शरीर पाया। उस व्यन्तरने अपने पूर्व भवकी अवस्था जानकर उस भ्रष्ट साधुसंघमें उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। उसने उन साधुओंसे कहा कि जब तक तुम लोग नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण नहीं करोगे तब तक यह उपद्रव करना नहीं रोकूंगा। तब उन साधुओंने दीनताके साथ कहा कि हम बलहीन हैं। नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करनेमें हम असमर्थ हैं। हमने बहुत अपराध किया है जो आपको अज्ञानता वश पहले भवमें (स्थूलाचार्यके भवमें) कष्ट दिया है उसको क्षमा कीजिये। हम आपकी पूजा भक्ति करेंगे।

ऐसा कहकर उन्होंने उस व्यन्तरदेवकी स्थापना करके पूजन किया। इसपर व्यन्तर देवने भी अपना उपद्रव बंद कर दिया।

तदनन्तर उन भ्रष्ट जैन साधुओंने अनेक धनिक सेठों,, राजपुत्र, पुत्रियों को मंत्र, यंत्रादिका प्रभाव दिखलाकर अपना भक्त बनालिया। उन धनिक सेठों तथा राजपुत्रोंके कारण अन्य साधारण जनताकी भक्ति भी उन साधुओंपर होने लगी। इस कारण महाव्रतका वे साधु उस रूपमें भी सम्मान पाने लगे। सम्मान पानेसे उन्होंने अपने भ्रष्ट साधुवेशका प्रचार करना आरम्भ किया। तदनुसार बहुतसे मनुष्योंको जैन मुनिकी दीक्षा देकर अपने सरीखा दंड, पात्र वस्त्रधारी बना दिया। लोगोंने भी मुनिचर्याका सरल मार्ग देखकर मुनि बनना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार वे दुर्भिक्षके समय भ्रष्ट साधु अपना संघ बनाकर शिथिलाचार फैलाने लगे। उनके शिष्य उनसे भी अधिक शिथिलाचारका पक्ष पकडकर भ्रम फैलाने लगे। इस प्रकार वह जैनसाधुओंका भ्रष्ट स्वरूप उनके शिष्य प्रतिशिष्यों द्वारा भी खूब प्रचारमें लाया गया। उधर विशाखाचार्यके संघके तथा उनके उपदेशसे प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होनेवाले स्थूलाचार्यके संघके साधु (मुनि) अपने प्राचीन सत्य मार्ग पर दृढ रहे और उनके शिष्य प्रतिशिष्य नग्न निर्ग्रंथ वेशका प्रचार करते रहे।

इस प्रकारकी कार्यवाही ३-४ शताब्दियोंतक चलती रही। उसके पीछे विक्रम संवत १३६ में गुजरातके वल्लभीपुर नगरमें उन्होंने एकत्र होकर अपना संगठन किया। वहांपर उन्होंने स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति अन्यलिंगमुक्ति, सग्रंथमुक्ति, महावीरस्वामी का गर्भपरिवर्तन आदि कल्पित सिद्धांत स्थिर किये। ये साधु सफेद चादर ओढते थे इस कारण उन्होंने अपने संघका नाम 'श्वेताम्बर' यानी सफेद कपडेवाला रक्खा। और जो साधु विशाखाचार्यकी शिष्य परम्परामें नग्न निर्ग्रंथ वेशधारी थे उनका नाम 'दिगम्बर' (दिक् अम्बर) रक्खा। जिसका कि अर्थ दिशारूपी वस्त्र धारण करनेवाले अर्थात् नग्न हैं। इसी दिनसे एक जैन सम्प्रदायके दिगम्बर, श्वेताम्बर ऐसे दो विभाग हो गये। इस सम्प्रदाय भेद हो जानेके वहुत दिन पीछे अनुमानतः वीर संवत ९०० के समय वल्लभीपुर नगरमें देवर्द्धिगण नामक श्वेताम्बर आचार्यने आचारांगसूत्र आदि अनेक ग्रंथोंकी प्राकृत भाषामें रचना की। ग्रंथोंकी इस प्राकृत भाषाका नाम उन्होंने अर्द्धमागधी भाषा रक्खा। इन ग्रंथोंमें उन्होंने अपने अनेक कल्पित सिद्धान्त तथा शिथिलाचार पोषक सिद्धान्त रख दिये जिनका कुछ उल्लेख हमने पीछे कर दिया है।

स्थानकवासी संप्रदाय.

इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय जैन समाजके भीतर भद्रबाहु स्वामीके पीछे वारह वर्षके दुर्भिक्षका निमित्त पाकर एक नवीन भ्रष्ट रूप लेकर उठ खडा हुआ। उस समयकी विकट परिस्थितिका सामना करते हुए श्वेताम्बर संघके मूल जन्मदाता साधुओंने जो वस्त्र, पात्र, लाठी आदि परिग्रह पदार्थ स्वीकार किये थे उन्हींकी प्रवृत्ति आज तक वरावर चली आ रही है। विशेषता केवल इतनी है कि अब श्वेताम्बर साधुओंमें और भी अधिक शिथिलता आ गई है। तदनुसार उनका परिग्रह भी पहलेसे अधिक बढ गया है। आजसे ३००-४०० वर्ष पहले श्वेताम्बर संघमें से निकले हुए स्थानकवासी (ढूंढिया) साधु-

ओंने लाठी रखना छोड दिया है । साथ ही जिन मंदिर, जिन प्रतिमा पूजनकी भी प्रवृत्ति छोड दी है ।

भद्रबाहु स्वामी तथा चन्द्रगुप्त राजाके समय बारह वर्षका दुर्भिक्ष मालवदेशमें पडा था और उस समय वे अपने मुनिसंघसहित दक्षिण देशमें गये थे, इसकी साक्षी श्रवणबेल्गुलके एक शिलालेखसे मिलती है। यह शिलालेख श्रवणबेल्गुलमें चन्द्रगिरि पर्वतके ऊपर चन्द्रगुप्तबस्ती के मंदिरके सामने एक १५ फीट ७ इंच ऊंचे तथा ४ फीट ७ इंच चौडे शिलाखंडपर पुरानी कनडी लिपिमें खुदा हुआ है । इस शिलालेखको वीर सं. २६६ (विक्रम संवत् से २०३ वर्ष पहले) सम्राट् चन्द्रगुप्तके पौत्र सिंहसेन द्वितीयनाम बिन्दुसारके पुत्र महाराज भास्कर अपरनाम अशोकने (बौद्ध धर्म ग्रहण करनेके पूर्व ३० वर्षकी आयुसे प्रथम) उस समय लिखवाया था जब कि वह अपने पितामह मुनि प्रभाचन्द्र [पूर्व-नाम चन्द्रगुप्त] के दीर्घकालीन निवाससे तथा भद्रबाहु स्वामीके संन्यास मरण करनेसे पवित्र इस पर्वत प्रदेश पर आया था । वहां उसने अपने पितामह चन्द्रगुप्तके नामसे मंदिर बनवाये जो कि अभीतक 'चन्द्रगुप्त बस्ती' के नामसे प्रसिद्ध हैं: तथा श्रवणबेल्गुल नगर बसाया । सम्राट् अशोक अपने राज्याभिषेकसे १३ वें वर्ष तक जैनधर्मानुयायी रहा था तत्पश्चात् उसनें बौद्ध धर्म स्वीकार किया था । अत एव विक्रम संवत्से १९३ वर्ष पहले तकके अनेक शिलालेख अशोकके लिखवाये हुए जैन धर्म संबंधी प्राप्त होते हैं ।

वह श्रवणबेल्गुलका शिलालेख इस प्रकार है—

जितं भगवता श्रीमद्धर्मतीर्थविधायिना ।
वर्द्धमानेन सम्प्राप्तसिद्धिसौख्यामृतात्मना ॥ १ ॥
लोकालोकद्वयाधारवस्तु स्थास्नु चरिष्णु च ।
सच्चिदालोकशक्तिः स्वा व्यश्नुते यस्य केवला ॥ २ ॥
जगत्यचिन्त्यमाहात्म्यपूजातिशयमीयुषः ।
तीर्थकृन्नामपुण्यौघमहार्हन्त्यमुपेयुषः ॥ ३ ॥
तदनु श्रीविशालेयञ्जयत्यद्य जगद्धितम् ।

तस्य शासनमव्याजं प्रवादिमतशासनम् ॥ ४ ॥

अथ खलु सकलजगदुदयकरणोदितातिशयगुणास्पदीभूतपरम-जिनशासनसरस्समभिवर्द्धितभव्यजनकमलविकशनवितिमिरगुणकिर-णसहस्रमहोतिमहावीरसवितरि परिनिर्वृत्ते भगवत्परमर्षिगौतमगणधर-साक्षाच्छिष्यलोहार्यजम्बु-विष्णुदेव-अपराजित-गोवर्द्धन-भद्रबाहु-प्रो-ष्ठिल—क्षत्रियकार्यजयनामसिद्धार्थधृतषेणवुद्धिलादिगुरुपरम्परीणक्र-माभ्यागतमहापुरुषसन्ततिसमवद्योतान्वयभद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्यां अष्टाङ्गमहानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्वत्सर कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसङ्घ उत्तरपथात दक्षिणापथं प्रस्थितः आर्षेणैव जनपदं अनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनधनकनकशस्यगोमहि-षाजाविकुलसमाकीर्णम् प्राप्तवान् अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामा-वनितलललामभूतेथास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविधतरुवरकुसु-मदलावलिविकलनशवलविपुलसजलजलदनिवहनीलोपलतले वराह-द्वीपिव्याघ्रर्क्षतरक्षुव्यालमृगकुलोपचितोपत्यकाकन्दरदरीमहागुहाग-हनभोगवतिसमुत्तुङ्गशृंगे शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालं अव-बुध्याध्वनः सुचकितः तपःसमाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य निर-वशेषेण संघम् विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहम् सन्न्यस्याराधितवान् क्रमेण सप्तशतं ऋषीणाम् आराधितम् इति । जयतु जिनशासनं इति ।

अर्थ—अन्तरंग, वहिरंग लक्ष्मीसे विभूषित, धर्ममार्गके विधाता, मुक्तिपद पानेवाले श्री महावीर भगवान नित्य अनन्त सुखस्वरूप उन्नत पदको प्राप्त हुए हैं।

जगतमें सुर, असुर, मनुष्य, इंद्रादि द्वारा पूजित अचिंत्य महिमाके धारक तथा तीर्थंकर नामक उच्च अर्हंतपदको प्राप्त होनेवाले महावीर स्वामीका केवलज्ञान, लोक अलोकवर्ती समस्त चर अचर पदार्थोंको प्रकाशित कर रहा है।

उन महावीर स्वामीके पीछे यह नगरी लक्ष्मी शोभासे शोभायमान थी। इस नगरीमें आज भी उन महावीर स्वामीका जगत्‌हितकारी, वादियों

श्री भद्रबाहुस्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्तके विषयमें इतिहास सामग्री।

प्रिय पाठक महानुभावो ! यद्यपि श्रवणबेलगुलके प्रथम शिला-लेखसे यह स्पष्ट हो गया है कि "अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामीको उज्जयिनी [मालवा] में बारह वर्षके दुष्कालकी भीषणता निमित्त ज्ञान से मालूम हुई थी और उससे मुनिचारित्रको निष्कलंक रखनेके लिये वे अपने संघसहित जिसमें कि नवदीक्षित परमगुरुभक्त मुनि प्रभाचन्द्र पूर्व-नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त भी थे, दक्षिण देशको गये थे । वहांपर अपना मृत्युसमय निकट जानकर कटवप्र पर्वतपर जिसको कि आजकल चन्द्रगिरि भी कहते हैं अपनी सेवाके लिये चन्द्रगुप्तको अपने पास रखकर श्री भद्रबाहु स्वामीने सन्यासमरण किया था।" किंतु कुछ महाशय इस बातकी सत्यतामें सन्देह करते हैं। उनके विचारमें अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्तका समय एक नहीं बैठता। इतिहास की थाह लेकर वे दोनोंका समय भिन्न भिन्न ठहराते हैं।

हम उनके इस सन्देहको यहांपर दूर कर देना आवश्यक सम-झते हैं। इस विषयमें जो महाशय शंकितचित्त हैं उनको पहले श्रवण-बेलगुल (चन्द्रगिरी) के अन्य शिलालेखोंका अवलोकन कर लेना चाहिये। ऐसा करनेसे उनका सन्देह बिलकुल दूर होजायगा। देखिये

शिलालेख नं. २

नागराक्षरमें प्रतिलिपि.

श्री भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मादी नोप्पोवल भद्रमाग इदा-धर्मं अन्दुवलि केवंद इनिपलकुलो······विद्रुमधरे शान्तिसेन मुनीश-नाकि सचेलगो······राआद्रिमेल अशनादि विट्टु पुनर्भवकिर····गी।

यानी—शान्तिसेनकी पत्नी यह कहती हुई पहाडपर चली गई कि श्री भद्रबाहु तथा महामुनि चन्द्रगुप्तके अनुकूल चलना ही परम सद्धर्म है। बल्कि वह भोजनादि छोडकर अनेक परीषहोंको सहन कर अमर पद प्राप्त हुई।

इस शिलालेखसे सिद्ध होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामीके शिष्य चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षासे दीक्षित होकर चन्द्रगिरि पर्वतपर श्री भद्रबाहुस्वामीके साथ रहे थे।

शिलालेख नं. ३

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ।
चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्तिः ।
श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभि-
राराधितः स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥

भावार्थः—सर्व प्रकारसे कल्याणकारक, श्रुतकेवलियोंमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु परम मुनि हुए। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए जिनका यश चन्द्रसमान उज्वल है और जिनके प्रभावसे वन देवताने मुनियोंकी आराधना की थी।

इस शिलालेखसे यह बात प्रमाणित होती है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त जिन भद्रबाहु मुनीश्वर के शिष्य थे वे श्री भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली ही थे, दूसरे भद्रबाहु नहीं थे।

शिलालेख नं. ४

वर्ण्यः कथन्तु महिमा भण भद्रबाहोः
मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तबाहोः ।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन च चन्द्रगुप्तः
सुश्रूषते स्म सुचिरं वनदेवताभिः ।

अर्थ—भला कहो तो सही कि मोहरूपी महामल्लके मदको चूर्ण करनेवाले श्री भद्रबाहु स्वामीकी महिमा कौन कह सकता है जिन के शिष्यत्वके पुण्यप्रभावसे वनदेताओंने चन्द्रगुप्तकी बहुत दिनोंतक सेवा की।

शिलालेख नं. ५

तदन्वये शुद्धमतिप्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले ।
अभूद्यतीन्द्रो भुवि भद्रबाहुः पयः पयोधाविव पूर्णचन्द्रः ॥

भद्रबाहुरग्रिमस्समग्रबुद्धिसम्पदा
शुद्धसिद्धशासनः सुशब्दबन्धसुन्दरम् ।
इद्धवृत्तिरत्र बद्धकर्ममित्तपोद्ध
ऋद्धिवर्द्धितप्रकीर्तिरुद्धधीमहर्द्धिकः ॥
यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां
मुनीश्वराणामिह पश्चिमोपि ।
अपश्चिमोऽभूद्विदुषां विनेता
सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन ॥
यदीयशिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः
समग्रशीलानतदेववृद्धः ।
विवेश यत्तीव्रतपःप्रभावात्
प्रभूतकीर्तिर्भुवनान्तराणि ॥

भावार्थ—जिसमें समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्धबुद्धिसे प्रख्यात है उस वंशमें समुद्रमें चन्द्रमासमान श्री भद्रबाहु स्वामी हुए। १।

समस्त बुद्धिशालियोंमें श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुंदर प्रबन्धसे शोभासहित बढी हुई है व्रतकी सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्यासे भरी हुई है कीर्ति जिनकी ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे। २।

जो भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवलियोंमें अन्तिम थे किंतु अखिल शास्त्रोंका प्रतिपादन करनेसे समस्त विद्वानोंमें प्रथम थे। ३।

जिनके शिष्य चन्द्रगुप्तने अपने शीलसे बडे बडे देवोंको नम्रीभूत बना दिया था। जिन चन्द्रगुप्तके घोर तपश्चरणके प्रभावसे उनकी कीर्ति समस्त लोकोंमें व्याप्त हो गई है। ४।

इन शिलालेखोंसे यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि सम्राट् चन्द्रगुप्त अन्तिम श्रुतकेवलीके शिष्य होकर मुनि हुए थे और उनके साथ चन्द्रगिरि पर्वतपर उन्होंने तपस्या की थी। पूर्व अवस्थामें चन्द्रगुप्त एक अच्छे प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट् थे इस कारण शिलालेखोंमें भी

उनका नाम प्रभाचन्द्र (मुनिदीक्षाके समयका नाम) न लेकर अधिकांश चन्द्रगुप्त ही लिया गया है। तथा उनके नामके ऊपर ही कटवप्र पर्वतका नाम चन्द्रगिरी रखदिया गया। एवं उनके पौत्र सम्राट् अशोक द्वारा निर्माण कराये गये इस पर्वतके जैन मंदिरोंका नाम 'चन्द्रगुप्तवस्ती' प्रसिद्ध हुआ।

इसके सिवाय गौतम क्षेत्रके अपर भागमें बहनेवाली कावेरी नदीके पश्चिम भागमें जो रामपुर ग्राम है उसके अधिपति सिंगरी गौडाके खेतमें जो दो शिलालेख मिले हैं वे इस प्रकार हैं।

शिलालेख ६

श्री राज्यविजय सम्वत्सर सत्यवाक्य परमानदिगळु आलुत्त नाल्किनेय वर्षात् मार्गशीर्ष मासद पेरतले दिवासभागे स्वस्ति समस्तविद्यालक्ष्मी प्रधाननिवासप्रभव प्रणत सकल सामन्त समूह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति चरणलाञ्छनाङ्कित विशालसिरकलवप्पु गिरिसनाथ वेलगुलाधिपति गणधा श्रीवर मतिसागर पण्डितभट्टार वेसदोल अन्नयनुं देवकुमारनुं घोरनुं इलदुर धारण्णे वाणपल्लिय कोण्ड श्रीके सिग............तले नेरिपुल कट्टन कट्ट खुडरके कोट्टस्थिति क्रमवएन्तुव यन्दोदे बंडर नियनीर वयगीय गिड वरिस पेत्तेन्दि ऐरदनेय वरिसमेड अलविमुरने यवरिस दन्दिगे यडलवीयेलाकलांक यल्लं इरद युललु सल्गु।

अर्थ—समस्त लक्ष्मी तथा सरस्वतीका निवासस्थान और समस्त सामन्तों द्वारा नमस्कृत श्री भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त महामुनिके चरणोंसे मंडित कटवप्र पर्वत सदा विजयशील रहे।

सत्यवाक्य परमानदी महाराजके राज्यके चौथे वर्षमें मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमीको श्री मतिसागर पंडित भट्टारककी आज्ञानुसार अन्नय्या, देवकुमार और घोर इन तीनोंने वेनपल्लीके खरीददार केशीके लिये तेल्लुरमें सेतु निर्माणके बदलेमें निम्न लिखित दान दिया है।

सब ग्रामनिवासियोंने खेतीके लिले इस सेतु से जल लेनेका प्रयोग किया प्रथमवर्षमें विना कुछ दिये ही जलका उपयोग करना। दूसरे वर्षमें कुछ देकर उपयोग करना और तीसरे वर्षमें जो कुछ दिया जायगा वह निश्चित रूपसे निर्धारित कर समझा जाय।

शिलालेख ७

(९ वीं शताब्दी)

भद्रमस्तु जिनशासनाय। अनवरत...अखिलसुरासुर नरपति मौलिमाला... चरणारविन्द युगल सकल श्रीराज्य युवराज्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्तमुनिपति-मुद्रणाङ्कित विशाल...मान जगल ललामायित श्री कलवप्पु तीर्थसनाथ वेल्गुलनिवासि....श्रव (म) णसंघ स्याद्वादाधार भूतरप्पा श्रीमंत्स्वस्ति सत्यवाक्योङ्गुणि वर्मा धर्म महाराजाधिराजकु वलाल पुरवरेश्वर नन्दि गिरिनाथ स्वाति समस्त भुवनविनुतगङ्गकुलगगननिर्मलतारापतिजलधि जलविपुलविलयमेखलाकलापालङ्कृतैलाधिपत्य लक्ष्मी स्वयम्वृत पतिवद्य अगणितगुणगणभूषणभूषितविभूति श्रीमत्परमानदिगळु येरेयप्पसरं इलुचगि परमनदि गल कलावसाद आय्यरप्पा परपिङ्गे कुमारसेन भट्टारकपदे स्थितिविलय अकियं सोल्लुगेय विट्टिडनट्टपर मन यल्लाकलंकम् सर्वबाधा परिहरं आगे विदिसिदार इदनलिड अडोनं कोंडन पशुवं परवरं केरेयं अर्मेयं वर्नासियुनं अलिडं पञ्च महापातकं ।

> देवस्वं तु विषं घोरं न विषं विषमुच्यते ।
> विषमेकाकिनं हन्ति देवस्वं पुत्रपौत्रकं ॥

यह शिलालेख क्यातनहल्ली ग्रामके दक्षिणभागमें जो वस्ती है वहांपर है ।

तात्पर्य—जैनधर्मका कल्याण हो । समस्त देव राक्षस तथा राजा लोगोंके मस्तक झुकानेसे मुकुटमणिकी चमकसे प्रकाशमय चरणकमलवाले श्री भद्रबाहु स्वामीको नमस्कार करो । मोक्षराज्यके युवराज, स्याद्वादके संरक्षक, वेलगुलस्थ श्रमणसंघके अधिपति अपने चरणकमलसे जगद्-भूषण कटवप्र पर्वतको पवित्र करनेवाले श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्तमुनि हमारा संरक्षण करें । गङ्गराजकुलाकाशके निष्कलंक चन्द्रमा और कुवलयपुर तथा नन्दगिरिके स्वामी श्रीसत्यवाकोङ्गुणि वर्मा धर्म-महाराजाधिराजकी स्तुति समस्त संसारने की है । समुद्रमेखलासे परि-वेष्टित तथा पृथ्वीके स्वयम्वरित पति सकलगुणविभूषित श्री परमानदि

एयेरप्पसरप्पाने जिनेन्द्र भवनके लिये श्री कुमारसेन भट्टारकको निम्न-लिखित दान दिया है।

एक ग्राम स्वच्छ चांवल बेगार घी इन दान दी हुई वस्तुओंके अपहरण करने वालोंको हिंसा और पंचमहापापका पातक लगेगा।

केवल विष ही विष नहीं होता है किन्तु देवधनको भी घोर विष समझना चाहिये क्योंकि विष तो भक्षण करनेवाले केवल एक प्राणीको मारता है किन्तु देवधन सारे परिवारका नाश कर देता है।

इन शिलालेखोंसे भी हमारी पूर्वोक्त बात पुष्ट हो गई। इस कारण तात्पर्य यह निकला कि अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामीके समय मालवा आदि उत्तर देशोंमें बारह वर्षका दुर्भिक्ष अवश्य पडा था। उसके प्रारम्भ होनेसे पहले ही भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसंघ सहित दक्षिण देशको रवाना हो गये थे। वहां कटवप्र पर्वतके समीप निमित्तज्ञानसे उनको अपना मृत्युसमय निकट मालुम हुआ इसलिये अपने पास केवल नवदीक्षित चन्द्रगुप्त अपरनाम प्रभाचन्द्रको अपने पास रखकर कटवप्र पर्वतपर समाधिमरण धारण कर ठहर गये और समस्त मुनिसंघको चोल-पांड्य देशकी तरफ भेज दिया।

शास्त्रीय-प्रमाण.

अब हम इस विषयमें पुरातन ग्रंथोंका प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठक महानुभावोंको उक्त कथाकी सत्यता और भी दृढरूपसे मालूम हो जावे।

राजवलीकथा—नामक कर्नाटक भाषामें एक अच्छा प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रंथ है जो कि देवचन्द्रने संवत् १८०० में लिखा है। उस ग्रंथमें ग्रंथलेखकने स्पष्ट लिखा है कि—

"सम्राट् चन्द्रगुप्त अंतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुका शिष्य था। संसारसे विरक्त होकर भद्रबाहुसे मुनिव्रतकी दीक्षा लेकर मुनि हुआ था। मुनिदीक्षा देते समय श्री भद्रबाहुस्वामीने उसका नाम 'प्रभाचन्द्र' रक्खा था। बारह वर्षके दुष्कालके समय वह भद्रबाहुके साथ दक्षिण देश आया था और वहांपर भद्रबाहुके समाधिमरण करनेके समय उनकी

वैयावृत्यके साथ कटवप्र (कलवप्पू) पर्वतपर रहा था।"

श्री हरिषेणाचार्यकृत "बृहत्कथाकोष" नामक ग्रंथमें भी जो कि संवत् ९३१ मे बना है श्री भद्रबाहुस्वामी और सम्राट चन्द्रगुप्तके विषयमें उपर्युक्त लेखके अनुसार ही उल्लेख है।

श्री रत्ननन्द्याचार्यने सं० १४५० में जो भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रंथ बनाया है उसमें लिखा है—

चन्द्रावदातसत्कीर्तिश्चन्द्रवन्मोदकर्तृणाम्।
चन्द्रगुप्तिनृपस्तत्राचकच्चारुगुणोदयः। ७।

द्वितीय परिच्छेद.

राजंस्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहुः गणाग्रणीः।
आजगाम तदुद्याने मुनिसन्दोहसंयुतः॥ २१॥

तृतीय परिच्छेद

चन्द्रगुप्तिस्तदात्रादीद्विनयान्नवदीक्षितः।
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेतिभक्तितः॥ २॥
भयसप्तपरित्यक्तो भद्रबाहुर्महामुनिः।
अशनाय पिपासोत्थं जिगाय श्रममुल्बणम्॥ ३७॥
समाधिना परित्यज्य देहं गेहं रुजां मुनिः।
नाकिलोकं परिप्राप्तो देवदेवीनमस्कृतः॥ ३८॥
चन्द्रगुप्तिर्मुनिस्तत्र चञ्चच्चारित्रभूषणम्।
आलिख्य चरणौ चारू गुरोः संसेवते सदा॥ ४०॥

भावार्थः—चन्द्रसमान उज्वल कीर्तिधारक, चन्द्रमातुल्य आनन्द करनेवाले, सुन्दर गुणोंसे विभूषित महाराज चन्द्रगुप्त उज्जयनीमें हुए।

हे राजन्! आपके पुण्यबलसे मुनिसंघके नेता अपने संघसहित नगरके बाहर उद्यानमें आये हैं।

तब नवदीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि विनयसे बोले कि मैं बारह वर्षसे अपने गुरू श्री भद्रबाहु स्वामीके चरणकमलोंकी उपासना करता हूं।

तदनन्तर सात भयं छोडकर महामुनि भद्रबाहु स्वामीने बलवती क्षुधा और पिपासाको रोका।

श्री भद्रबाहुस्वामी रोगोंके घर इस शरीरको समाधिपूर्वक छोडकर देव व देवियोंसे नमस्कृत स्वर्गलोक में पहुंच गये ।

दीप्तिमान मुनिचारित्रसे विभूषित चन्द्रगुप्त मुनि व हांपर अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामीके चरणोंको लिखकर उनकी सेवा करने लगे ।

इसके आगे इसी ग्रंथमें श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका वर्णन पीछे लिखे अनुसार किया है ।

इसके प्रकार पुरातन ग्रंथोंसे भी दिगम्बर संप्रदाय के अनुसार ही श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका वृत्तान्त मिलता है ।

—o—

विदेशी इतिहासवेत्ताओंकी सम्मति.

मिस्टर वी. लुईस राइस महाशय ऐप्रिग्राफिका कर्नाटिका में लिखते हैं कि–

चन्द्रगुप्त निःसन्देह जैन था और श्री भद्रबाहु स्वामीका समकालीन तथा उनका शिष्य था ।

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन में लिखा हुआ है कि " सम्राट् चन्द्रगुप्तने बी. सी- २९०में (ईसवीय सन्से २९० वर्ष पहले) संसारसे विरक्त होकर मैसूर प्रांतके श्रवणबेलगुलमें जिनदीक्षासे दीक्षित होकर तपस्या की और तपस्या करते हुए स्वर्गको पधारे ।

इस प्रकार इस विषयमें जितनी भी खोज की जावे ऐतिहासिक सामग्री हमारे कथनको ही पुष्ट करती है । इस कारण निष्पक्ष पुरातत्व खोजी महानुभावोंको स्वीकार करना पडेगा कि श्री भद्रबाहु स्वामी तथा सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें बारह वर्षका घोर दुष्काल पडा था उसके निमित्तसे जो जैन साधु उत्तरप्रांतमें रहे वे विकराल कालके निमित्तसे वस्त्र, पात्र, लाठी धारी हो गये और जो साधु श्री भद्रबाहु स्वामीके साथ दक्षिण देशको चले गये वे पहलेके समान नग्न वेशमें दृढ रहे । अर्थात् बारह वर्षके दुष्कालने सम्राट चन्द्रगुप्के समयमें जैनमतमें श्वेताम्बर नामक एक नवीन पंथ तयार कर दिया ।

इस प्रकार विक्रम संवत् से भी लगभग २०३ वर्ष पहले लिखे

गये इस लेख से भी यह बात सत्य प्रमाणित होती है कि श्री भद्रबाहु स्वामीके समयमें भारतवर्षके उत्तर प्रान्तमें १२ वर्षका घोर दुष्काल पडा था और उस समय भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसंघको साथ लेकर दक्षिण देशोंमें विहार कर गये थे।

इसके सिवाय " दिगम्बर मत विक्रम सं. १३८ से प्रचलित नहीं हुवा बल्कि विक्रम संवतसे भी पहले विद्यमान था " इस बातको सिद्ध करनेके लिये अनेक पुष्ट सत्य प्रमाण विद्यमान हैं। देखिये, ज्योतिष शास्त्रके प्रख्यात विद्वान् वराहमिहिर राजा विक्रमादित्य की (जिनके कि स्मारक रूपमें विक्रम संवत उनकी मृत्यु होनेके पीछे चला है।) राजसभाके नौ रत्नोंमेंसे एक रत्न थे। जैसा कि निम्न लिखित श्लोकसे भी सिद्ध होता है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

इन ही वराहमिहिरने अपने प्रतिष्ठा काण्डमें एक स्थानपर यह लिखा है कि—

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणां,
मातॄणामिति मातृमंडलविदः शंभोः सभस्माद्विजः।
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदु-
र्ये यं देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्॥

अर्थात्—वैष्णव लोग विष्णुकी, मय लोग (सूर्योपजीवी) विप्र लोग ब्राह्मण क्रियाकी, मातृमंडलकी जानकार ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि माताओंकी उपासना करें। बौद्धलोग बुद्धकी उपासना करें। और नग्न लोग (दिगम्बर साधु) जिन भगवानका पूजन करें। अभिप्राय यह है जो जिस देवके उपासक हैं वे विधिपूर्वक उसकी उपासना करें।

वराहमिहिरके इस लेखसे सिद्ध होता है कि दिगम्बर साधु राजा विक्रमादित्यके जीवनकालमें भी विद्यमान थे इस कारण श्वेतांबरी ग्रंथोंने जो विक्रम संवत्के १३७ वर्ष पीछे दिगम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्ति बतलाई है वह असत्य है।

तथा—महाभारत जो कि ऋषि वेदव्यासने विक्रम संवत्से सैकडों वर्ष पहले लिखा है उसमें एक स्थानपर ऐसा उल्लेख है—

" साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रतिष्ठतोत्तङ्कस्ते कुंडले गृहीत्वा सोपश्यदथ पथि नग्नं क्षपणकमागच्छन्तं मुहुर्मुहुर्दृश्यमानमदृश्यमानं च। "

अर्थात्—उत्तङ्क नामक कोई विद्यार्थी कुंडल लेकर चल दिया उसने रास्तेमें कुछ दीखते हुए, कुछ न दीखते हुए नग्न मुनिको देखा।

महाभारतका यह उल्लेख भी सिद्ध करता है कि जैन साधुओंका दिगम्बर रूप ही प्राचीन कालसे चला आरहा है। पहले श्वेत वस्त्रधारी जैन साधु नहीं होते थे।

कुसुमांजलि ग्रंथके रचयिता उदयनाचार्य अपने ग्रंथके १६ वें पृष्ठपर लिखते हैं कि—

" निरावरणा इति दिगम्बराः "

अर्थात्—वस्त्ररहित यानी नग्नरूप दिगम्बर होते हैं।

न्यायमंजरी ग्रंथके ग्रंथकार जयन्तभट्ट ग्रंथके १६७ वें पृष्ठपर लिखते हैं—

क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागमं भवतु नाम। भस्मजटापरिग्रहो दंडकमंडलुग्रहणं वा रक्तपटधारणं वा दिगंबरता वावलम्ब्यतां कोऽत्र विरोधः।

अर्थात्—क्रिया अनेक प्रकारकी होती है। शरीरसे भस्म लगाना शिर पर जटा रखना अथवा दंड कमंडलुका रखना या लाल कपडेका पहनना अथवा दिगम्बरपनेका (नग्नरूप) अवलंब ग्रहण करो; इसमें क्या विरोध है।

इस प्रकार इन ग्रंथोंमें भी दिगम्बर मतकी प्राचीनताका उल्लेख है। तैत्तरीय आरण्यकके १० वें प्रपाठकके ६३ वें अनुवाकमें लिखा है—

" कंथाकौपीनोत्तरासंगादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रंथा निष्परिग्रहाः । " इति संवर्तश्रुतिः ।

अर्थात्—कंथा, (ठंडक दूर करनेका कपडा) कौपीन [लंगोट] उत्तरासंग [चादर] आदि वस्त्रोंके त्यागी, उत्पन्न हुए बच्चेके समान नग्नरूप धारण करनेवाले, समस्त परिग्रहसे रहित निर्ग्रंथ साधु होते हैं।

सायणाचार्यका यह लेख भी विक्रम संवतसे बहुत पहलेका है । इस लेखसे भी दिगम्बर मतकी प्राचीनता सिद्ध होती है क्योंकि इस वाक्यमें साधुका जो स्वरूप बतलाया है वह दिगम्बर मुनिका ही नग्न, वस्त्र, परिग्रह रहित वेश बतलाया गया है ।

इस प्रकार चाहे जिस प्राचीन ग्रंथका अवलोकन किया जाय उसमें यदि जैन साधुका उल्लेख आया होगा तो उसका स्वरूप नग्न दिगम्बर वेशमें ही बतलाया गया होगा । श्वेतांबर, पीतांबर (सफेद पीले कपडे पहनने वाले) रूपमें कहीं भी जैन साधुका उल्लेख नहीं मिलता है । इस कारण सिद्ध होता है कि श्वेतांबर मत भद्रबाहु स्वामीके स्वर्गवास हुए पीछे दुर्भिक्षके कारण भ्रष्ट होनेसे प्रचलित हुआ है और उसका प्रचार विक्रम संवतकी दूसरी शताब्दीसे चल पडा है ।

सम्राट् चन्द्रगुप्तके पौत्र महाराज बिन्दुसारके पुत्र सम्राट् अशोक जो कि विक्रम संवतसे २०० वर्ष पहले हुआ है उसने राजसिंहासन पर बैठनेके बाद १३ वर्षतक जैनधर्मका परिपालन किया था ऐसा उसके कई शिलालेखोंसे सिद्ध होता है । उसके पीछे उसने बौद्धधर्म स्वीकार किया था । बौद्धधर्म स्वीकार करनेके पीछे—,

अशोक अवादान नामक बौद्ध ग्रंथमें यों लिखा है कि—

" राजा अशोकने नग्न साधुओंको पौंड्रवर्द्धन में इसलिये मरवा-डाला कि उन्होंने बौद्धोंकी पूजामें झगडा किया था । "

बौद्धशास्त्रके इस लेखसे भी यह सिद्ध होता है कि विक्रम संवत से पहले दिगम्बर जैन साधुओंका ही विहार भारत वर्षमें था ।

सम्राट् अशोकके पीछे ईसवी संवत्से १५७ वर्ष पहले (पुरातत्ववेत्ता श्री केशवलाल हर्षदराय ध्रुवके मतानुसार ईसवी संवतसे २००

वर्ष पहले) कलिंग देशका अधिपति राजा खारवेल अपरनाम भिक्षुराज तथा महा मेघवाहन बहुत शूरवीर, धर्मवीर, दानवीर प्रतापी राजा हुआ है। इसने मगध देशपर चढाई करके युद्धद्वारा विजय प्राप्त की थी। यह जैन धर्मका अनुयायी था। इसने राजगृह नगरमें भगवान् ऋषभदेवकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कराई थी। इस राजा खारवेलके समयमें भी दिगम्बर जैन मतका अस्तित्व था जो कि खंडगिरि उदयगिरिकी गुफाओंमें अंकित तथा विराजित नग्न जैन प्रतिमाओंसे सिद्ध होता है। ये गुफाएं राजा खारवेलके समयमें तथा बहुत सी गुफाएं उससे भी पहले समयकी बनी हुई हैं। इन गुफाओंमें दिगम्बर जैन मुनियोंका निवास होता था ऐसा वहांके शिलालेखों व अंकित मूर्तियोंसे सिद्ध होता है।

इन ही गुफाओंमें से एक हाथी गुफा है। उसमें राजा खारवेलका शिलालेख है जो कि प्राकृत भाषामें १७ पंक्तियोंमें खुदा हुआ है। वह इस प्रकार है—

१—नमो अरहन्तानं नमो सवसिधानं वेरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराजवसवधेन पसथ सुभलखने (न) चतुरन्तलठानगुनोपगतेन कलिङ्गाधिपतिना सिरिखारवेलेन—

अर्थात्:— अर्हन्तोंको नमस्कार, सर्वसिध्दोंको नमस्कार। वीर महाराज महामेघवाहन, चैत्रराजवंशवर्द्धन, प्रशस्त (शुभ) लक्षणवाले कलिङ्गदेशके अधिपति श्री खारवेलने—

२—पन्दरसवसानि सिरि कुमारसरीरवता कीडिताकुमारकीडका ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवराजं पसासितं संपुणचतुविसतिवसो च दानवधमेन सेसयोवनाभिविजयवत्तिये

अर्थातः— पंद्रह वर्ष कुमार शरीरमें कुमारक्रीडामें बिताए फिर लेखनविद्या, गणितविद्या तथा अन्य व्यवहार विद्यामें विशारद (कुशल) होकर एवं (युवराजके योग्य) समस्त विद्याओंमें कौशल प्राप्त करके नौ वर्ष तक युवराज पदपर रहा। पूर्ण चौवीस वर्षके हो जानेपर दान धर्मवाला (खारवेल) यौवनके विजय, वृत्तिके लिये (राज्यशासनकेलिये)—

३–कलिंगराजवंसपुरिसयुगे महाराजाभिसेचनं पापुनाति भिसितमतो च पधमवसे वातविहितगोपुरपाकारनिवेसनं पटिसंखारयति कलिंग नगरि खिबीर च सितल तडाग पाडियो च वधापयति सवुयान पतिसंठापनं च कारयति । पनतीसाहिं सतसहसेहि पकातिये रंजयति ।

यानी–कलिङ्गदेशके राजवंशके पुरुषयुगमें राज्याभिषेकसे पवित्र हुआ । राज्याभिषेक के पीछे पहले वर्षमें तूफानसे टूटे हुए नगरद्वार कोट तथा महल की मरम्मत कराई । कलिंग नगरकी छावनी, शीतल तालावके किनारे (घाट) बनवाए तथा पैंतीस लाखसे (राजमुद्राओंसे–सिक्कोंसे) बाग बनवाए । (इस प्रकार) प्रजाको प्रसन्न किया ।

४– दितिये च वसे अभितमिता सातकणि पछिमदिसं हयगजनररधवहुलं दंड पठापयति कुसंवानं खतियं च सहायवता पत्तं मसिकनगरं ।

अर्थात्–दूसरे वर्ष रक्षा करनेके लिये शतकर्णीके पास हाथी, घोड़े, मनुष्य, रथोंसे भरी हुई सेना पश्चिम दिशाको भेजी तथा कौसाम्बीके समीप (प्रयागके पास) क्षत्रियोंकी सहायतासे मासिक नगरको प्राप्त किया ।

५–ततिये च पुन वसे गन्धववेदवुधो दंपनतगीतवादित संदसनाहि उसवसभाजकारापनाहि च कीडापयेति नगरीं । इथ चवुथे वसे विजाधराधिवास अहतं पुवं कलिङ्गपुवराजनमंसितं.... धमकूटस.......(पू) जित च निखितछत—

अर्थात्—तीसरे वर्ष गंधर्वविद्या (गानविद्या) में प्रवीण (खारवेल) राजाने गीत नृत्य वादित्र आदि द्वारा बहुत उत्सव कराकर नगरमें क्रीडा कराई । चौथे वर्ष विद्याधरोंसे सेवित तथा कलिंगके पूर्व राजपुरुषोंसे वंदनीक धर्मकूटकी पूजा की । तथा चढाये हुए छत्र—

६—भिंगारेहि तिरतनसपतयो सवरठिकभो जकेसादेवे दसयपति । पंचमे च दानिवसे नदराजतिवससतं ओघाटितं तनसुली-

यटाशठी पनाडिनगरं पवेस.......राजसेय संदंसणतो सवकरावणं अनुगहअनेकानि सतसहसानि विसजति पोरजानपदं ।

भृंगारोंसे सर्व राष्ट्रके सरदारोंको मानो रत्नत्रय [सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र] की श्रद्धा प्रदर्शित की । पांचवें वर्ष नंदराजाका त्रिवर्ष सत्र [तीन वर्ष तक चलनेवाली दानशाला अथवा तालाव] उद्घाटित किया । तनसुलियाके मार्गसे एक नहर नगरमें प्रवेश कराई । राज ऐश्वर्य दिखलानेके लिये उत्सव किया । नगर गांव निवासिनी जनतापर लाखों उपकार किये ।.........

७-८-सतमं च वसं पसासतोच....सवोतुकुल...अठमं च वसे...घातापयिता राजगहनपं पीडापयति एतिनं च कमपदानप-नादेनसवत सेनवाहने विपमुंचितु मधुरं अपयातो ।

अर्थात्—आठवें वर्षमें मार द्वारा राजगृहीके राजाको पीडा पहुंचाई । इसके (खार वेलके) चरणप्रवेशके शब्दसे वह (राजगृहीका राजा) अपनी सेना, सवारीको छोडकर मथुरा भाग गया ।

९—नवमं च......पवरको कपरुखो हयगजरथसह यतसवं घरावसथ......यसवागहनं च कारयितुं वमणानं रठिसारं ददाति अरजहि....(निवा) सं महाविजयपासादं कारयति अठतिससत-सहसेहि ।

यानी—नौवें वर्ष....एक बहुत सुंदर अर्हंत भगवानका....निवास महाविजय नामक मंदिर ३८ लाख मुद्राओंसे [रुपयोंसे] बनवाया और कल्पवृक्ष घोडे हाथी रथोंके साथ तथा हावसर्यो.......जिसका ग्रहण करानेमें ब्राह्मणोंको बहुत ऋद्धि दी ।

१०-११-दसमे च वसे....भारधवसपठान.......काराप-यति......डयतानं च मनोरधानि उपलभता.......ल पुवराजनि-वेसितं पाथुंड गदंभनगले नकासयति जनपदभावनं च तेरसवसस-ताक...…दसामरदेहसंघातं ।

भावार्थः—दशवें वर्षमें.......(खारवेलराजा) भारतवर्षकी यात्राको निकला ।......बनवाया।..... जो तयार थे उनके मनोरथको

जानकर गर्दभ नगरमें पूर्व राजाओंसे नियत किये हुए मार्गके कर को (महसूलको) और जनपदभावनको (?) जो तेरहसौ वर्षसे था दूर किया।

१२- वारसमं च व (सं)........हस.......हिवितासयन्तो उतरापथराजानो......मगधानं च विपुलं भयंजनेतो हथिसगङ्गायं पाययति मगधं च राजानं वहुपटिसासिता पादे वन्दापयति नन्द-राजनितस अगजिनस.........गहरतन पडिहारहिअ मगधं वसिवु नयरि, विजाधरु लेखिलं वरानि सिहरानि निवेसयति सतवसदान परिहारेन अभूतमकरियं च हथीनादानपरिहार......आहरापयति इधं सतस.......सिनोवसि करोति।

अर्थात्—बारहवें वर्षमें उत्तरमार्गके राजाओंको दुख देने वाले मगधके लोगोंको वहुत भय उत्पन्न कराकर हाथियोंको गङ्गाका पानी पिलाया और मगधके राजाको कडा दंड देकर अपने पैरों नवाया। नन्दराजासे ली हुई प्रथम जिन (भगवान ऋषभदेव)......मगधमें एक नगर वसाकर....विद्याधरोंसे उकेरे हुए आकाशको छूने वाले शिखर हैं जिसमें (मंदिरमें) उसको स्थापित किया। सात वर्षके त्यागका दान कर तथा अद्भुत अपूर्व (पहले ऐसा कभी नहीं किया ऐसा) हाथियोंका दान किया।.......लिवाया इस प्रकार सौ....... रहने वालोंको वश किया।

१३—तेरसमे वसे सुपवत विजयिचको केमारी पवते अरहतोप (निवासे) वाहिकाय निसिदियायं यपञके......कालेरिखिता.... (स) कतसमायो सुविहितानं च सवदिसानं (यानिनं) तापसा (नं ?)....संहतानं (?) अरहन्तनिषिदियासमीपे पभारे वरका-रुसमथ (थ) पतिहि अनेकयोजनाहि......पटालके चेतके च वेडुरि-यगमे थमे पतिठापयति। पनंतरिय सठि वससते राजमुरियकाले वोछिने च चोयठ अगसति कुतरियं चुपादयति खेमराजा वधराजा स भिखुराजा (ना) म राजा पसन्तो सनतो अनुभवतो (क) लाणानि......गुणविसेम कुसलो सवपासण्डपूजको..........

तानसङ्कारकारको (अ) पतिहत चकिवाहनवलो चकधरो गुत-चको पसन्तचको राजसिवंसकुलविनिगतो महाविजयो राजा खारवेलसिरि ।

यानी—तेरहवें वर्षमें अपने विजयी राजचक्रको बढाया । कुमारी पर्वत [खंडगिरि] के ऊपर अर्हन्त मंदिर के बाहर निषद्यामें (नशिया में)......फालेरक्ष्य......सर्व दिशाओंके महाविद्वानों और तपस्वी साधुओंका समुदाय एकत्र किया था ।......अर्हन्तकी निषद्याके पास पर्वतके शिखर ऊपर समर्थ कारीगरोंके हाथोंसे ......पातालक, चेतक और वैडूर्यगर्भमें स्तम्भ स्थापित कराये । मौर्य राज्यकालके १६५ एकसौ पैंसठवें वर्षमें क्षेमराजका पुत्र वृद्धिराज उसका पुत्र भिक्षुराज नामका राजा शासन करता हुआ (उसने यह) कराया । विशेष गुणोंमें कुशल सर्व पाषण्डपूजक....संस्कार करानेवाला जिसका वाहन और सेना अजेय है चक्रका धारक है तथा निष्कंटक राज्यका भोक्ता है राजर्षि वंशमें उत्पन्न हुआ है ऐसा महाविजयी राजा खारवेलश्री ।

यह सब कोई जानता है कि खंडगिरि उदयगिरि लगभग २५०० वर्षोंसे दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र है । इस तीर्थक्षेत्रकी विद्यमान गुफाओंसे तथा अनेक शिलालेखोंसे प्रमाणित होता है कि यहांपर दिगम्बर जैन साधुओंका निवास प्राचीन समयमें बहुत अच्छी संख्यामें रहा है । उपर्युक्त २१०० वर्षोंके इस प्राचीन शिलालेखसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान महावीर स्वामीका प्रभाव मगध, कलिंग [उडीसा] देशोंमें भी बहुत अच्छा रहा है ।

मगध देशके शासक राजा आजसे २४०० चौवीस सौ वर्ष पहले कलिंग देशपर विजय पाकर वहांसे भगवान ऋषभदेवकी मनोहर पूज्य प्रतिमाको ले आये थे जो कि राजा खारवेलने ३०० तीन सौ वर्ष पीछे मगधके शासक नरपति पुष्पमित्रपर विजय पाकर फिर प्राप्त कर ली । इससे सिद्ध होता है कि २४०० वर्ष पहलेके मगध और कलिंगदेशके राजकुटुंब दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थे ।

मगधदेशका प्राचीन राजवंश (नंदवंश) दिगंबर जैनधर्मानुयायी ही था यह बात संस्कृत नाटक मुद्राराक्षस से जो कि बहुत प्राचीन अजैन नाटक है, सिद्ध होता है। उसमें लिखा है कि नंदराज और उसके मंत्री राक्षसको विश्वासमें फसानेके लिये चाणक्यने एक दूतको जीवसिद्धि नाम रखकर क्षपणक (दिगम्बर मुनि) बनाकर भेजा था। उस जीवसिद्धिके उपदेशको उस नंदराज और राक्षस मंत्रीने बहुत भक्तिपूर्वक श्रवण किया था।

तथैव भगवान् महावीरस्वामीके समयसे अनेक शताब्दियों तक बंगाल देशमें भी दिगम्बर जैन धर्मका प्रभाव बहुत अच्छा रहा है। इस बातकी साक्षी आज दिन भी वहांके स्थान स्थान पर बने हुए अति प्राचीन भग्न दिगम्बर जैन मंदिर तथा मनोहर दिगम्बर अर्हन्त प्रतिबिम्ब दे रहे हैं। इन प्रतिमाओंमें अधिक तर दो हजार वर्षोंसे प्राचीन प्रतिमाएं हैं ऐसा ऐतिहासिक विद्वानोंका मत है।

प्राच्यविद्यामहार्णव, विश्वकोषके रचयिता श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु लिखित (सन् १९१३ में) आरकीलोजिकल सर्वे में उल्लेख है कि बरसई के पास कोसलीके खंडित स्थानोंमें भगवान पार्श्वनाथका एक प्रतिबिम्ब कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओंके समयका दो हजार वर्ष पुराना है। इस प्रतिमा के दोनों ओर चार अन्य मूर्तियां हैं जिनमें से दो खड्गासन और दो पद्मासन हैं।

इसी प्रकार किंचिङ्ग और आदिपुरमें भी कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओं के समयकी दो हजार वर्ष पुरानी प्रतिमाएं विद्यमान हैं। आदिपुर कुसुम्ब राजाओंकी राजधानी थी। बंगाल देशकी ये तथा अन्य सभी अर्हन्त मूर्तियां दिगम्बर नग्न ही हैं। उनपर लंगोट, कृत्रिम चक्षु मुकुट कुन्डल आदि का चिन्ह नहीं है। अधिक तर मनोहर अखंडित पूज्य प्रतिमाओंपर संवत आदि का लेख नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वे प्रतिमाएं अवश्य ही दो हजार वर्ष पुरानी हैं क्योंकि संवत् की प्रथा विक्रमादित्य राजाके समयसे चली है जिसको कि आज १९८६ वर्ष

हुए हैं। विक्रम संवत् चालू हो जानेके पीछे जितनी भी प्रतिमाएं निर्मित हुई–हैं उन सब ही पर संवत् उल्लिखित हैं।

बंगाल देशके वर्द्धमान, वीरभूम, सिंहभूम, मानभूम आदि नगरोंके नामोंसे प्रमाणित होता है कि इस देशमें भी महावीर स्वामी का अच्छा प्रभाव रहा है क्योंकि इन नगरोंके नाम भगवान महावीर स्वामी के अपरनाम वर्द्धमान, वीर आदि के अनुकरण रूप हैं। सिंह महावीर स्वामी का खास चिन्ह है।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि दिगम्बर मत उस समयसे विद्यमान है जब कि श्वेताम्बर मतका नाम भी विद्यमान नहीं था किंतु जैन धर्मका समूचा रूप दिगम्बरीय आकारमेंही था।

अब हम कुछ अजैन ग्रंथोंके प्रमाण और उपस्थित करते हैं जो कि दिगम्बर मतकी प्राचीनताको सिद्ध करते हैं।

दो हजार वर्ष पहले होने वाले राजा विक्रमादित्यकी राजसभाके ९ नौ रत्नोंमें से एक प्रसिद्ध रत्न ज्योतिराचार्य वराहमिहिर अर्हन्तप्रतिमाका आकार वराहमिहिर संहितामें इस प्रकार लिखता है।

आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्सांकः प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः॥

अध्याय ५८ श्लोक ४५

अर्थात्—घुटनों तक लम्बी भुजाओंवाली, छातीके बीचमें श्रीवत्सके चिन्हवाली, शान्तमूर्ति नग्न, तरुण अवस्थावाली, सुन्दर ऐसी जैनियोंके आराध्य देवकी मूर्ति बनानी चाहिये।

वाल्मीकि ऋषिप्रणीत रामायण बालकांडके १४ वें सर्गका २२ वां श्लोक ऐसे लिखा है—

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चापि भुञ्जते॥

अर्थात— राजा दशरथके यज्ञमें ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भोजन करते थे। तापसी (शैवसाधु) भोजन करते थे और श्रमण (नग्न दिगम्बर साधु) भी भोजन करते थे।

रामायणकी भूषणटीकामें श्रमण शब्दका अर्थ यों लिखा है—

" श्रमणा दिगंबरा श्रमणा वातवसना इति निघंटुः "

अर्थात्— श्रमण; दिगम्बर (दिशारूपी वस्त्र पहननेवाले नग्न) अथवा वातवसन (वायुरूपी कपड़े धारण करनेवाले यानी नग्न) साधु होते हैं।

यह रामायण दो हजार वर्ष से भी अति प्राचीन ग्रंथ बतलाया गया है। इस कारण इसके उपर्युक्त श्लोकसे सिद्ध होता है कि कमसे कम वाल्मीकि ऋषिके समयमें भी दिगम्बर जैन साधु पाये जाते थे।

भागवत के ५ वें स्कन्धके ५ वें अध्यायके २८ वें श्लोक में लिखा है—

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशायनार्थं परमसुहृद् भगवानृषभोपदेशोपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परम भागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवनस्वोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज।

अर्थात्—इस प्रकार अपने विनीत पुत्रोंको लोगोंपर प्रभाव रखनेके लिये समझाकर, समस्त जनताके परमप्रिय भगवान ऋषभदेव शान्त-स्वभावी, सांसारिक कार्योंसे विरक्त महामुनियोंको भक्तिवैराग्यवाले परमहंसोंके धर्मकी शिक्षा देते हुए, भाग्यशाली, महापुरुषोंकी सेवामें तत्पर ऐसे सबसे बड़े पुत्र भरतको पृथ्वी पालनके लिये राजतिलक करके शरीर मात्र परिग्रहके धारक, उन्मत्तके समान नग्न दिगम्बर वेश धारण किये, जिनके केश बिखरे हुए हैं ऐसे भग-वान ऋषभ देव ब्रह्मावर्तसे (बिठूरदेशसे) सन्यास लेकर चले गये।

यह भागवत ग्रंथ भी बहुत प्राचीन है। यह भी दिगम्बर सम्प्रदायकी प्राचीनता सिद्ध करता है।

अब हम कुछ बौद्ध ग्रंथोंके प्रमाण भी यहां उपस्थित करते हैं जो कि हमको श्रीयुत बा० कामता प्रसादजी जैन लिखित " महावीर

भगवान और महात्मा बुद्ध" नामक पुस्तकसे प्राप्त हुए हैं। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होगा कि श्री महावीर स्वामी की छद्मस्थ अवस्थामें भी पार्श्वनाथ भगवानके उपदेशका अनुकरण करने वाले मुनि नग्न दिगम्बर वेशधारी ही थे।

"डायोलाग्स ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तकके कस्सप सिंहनादसुत्त में अनेक प्रकारके साधुओंकी क्रियाओंका वर्णन आया है उसमें जैन साधुओंके अनुरूप ऐसा लिखा है—

"वह नग्न विचरता है,....भोजन खड़े होकर करता है, वह अपने हाथ चाटकर साफ करलेता है, ...वह दिनमें एकबार भोजन करता है" इत्यादि।

इस कथनसे दिगम्बर मुनिका आचरण सिद्ध होता है।

७ आर्यसूरकी जातककथाओंमेंसे घटकथामें एक स्थानपर मदिरापानके दोष दिखलाते हुए यों लिखा है—

"इसके (मदिराके) पीनेसे लज्जावान भी लज्जा खो बैठते हैं और वस्त्रोंके कष्टों और बन्धनोंसे अलग होकर निर्ग्रन्थोंकी तरह नग्न होकर वे जनसमूह कर पूर्ण ऐसे राजमार्गोंपर चलते हैं।"

इस लेखसे एक तो जैन साधुका नग्न वेश प्राचीन सिद्ध हुआ। दूसरे 'निर्ग्रंथ' नग्न दिगम्बरको ही कहते हैं यह भी सिद्ध हुआ।

८ दिव्यावदान ग्रंथमें एक स्थानपर लिखा है—

"कथं स बुद्धिमान् भवति पुरुषो व्यञ्जनान्वितः।
लोकस्य पश्यतो योऽयं ग्रामे चरति नग्नकः—"

अर्थात्—वह [निर्ग्रन्थ जैन साधु] अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान कैसे कहा जा सकता है जो देखनेवाले लोगोंके समुदायमें नग्न घूमता है।

यहांपर जैन मुनियोंकी नग्न दशाकी निन्दा की गई है; परन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि जैन साधुओंका नग्नरूप प्राचीन समयसे चला आता है।

६ धम्मपदकथा नामक ग्रंथके विशाखावत्थू प्रकरण में दूसरे भागके ३८४ पृष्ठपर विशाखा नामक एक सेठपुत्रीकी कथा दी है जिसका

कि पिता बौद्ध धर्मावलम्बी था और श्वसुर घर जैन धर्मावलम्बी था तथा वह स्वयं बौद्ध साधुओंमें भक्तिभाव रखती थी।

श्रावस्ती नगरमें अपने श्वसुर [मिगार सेठ] के घर पहुंचनेपर विशाखा को एक दिन ऐसा अवसर मिला कि उसके श्वसुरने अपने घर ५०० निर्ग्रंथ साधुओंको भोजनार्थ आमंत्रित किया। तदनन्तर उस सेठने विशाखासे उन साधुओंके चरणोंपर प्रणाम करनेको कहा। विशाखा निर्ग्रंथ साधुओंका नग्न रूप देखकर भाग आई और उसने कहा कि ऐसे निर्लज्ज नग्न पुरुष साधु नहीं हो सकते।............जब नग्न निर्ग्रंथोंने यह जाना कि बुद्ध मिगार सेठीके घरमें मौजूद है तब उन्होंने उसके घरको घेर लिया। विशाखाने अपने श्वसुरसे बुद्धका सत्कार करनेको कहा। नग्न निर्ग्रन्थोंने सेठको वहां जानेसे रोका।

सुमागधा अवादानमें लिखा है कि—

अनाथपिण्डककी पुत्रीके घरमें बहुतसे नग्न साधु एकत्रित हुए इत्यादि.

इस प्रकार पिटकत्रयादि अनेक प्राचीन बौद्धशास्त्रोंमें निर्ग्रन्थ जैन-साधुओंके नग्न वेशका उल्लेख है। महात्मा बुद्धके समयमें भी जबतक कि भगवान महावीर स्वामीको केवलज्ञान नहीं हुआ था अतएव वे धर्मोपदेश भी नहीं देते थे (क्योंकि तीर्थंकर सर्वज्ञ होनेके पहले उप-देश नहीं देते हैं ऐसा नियम है) नग्न जैन साधु पाये जाते थे। इससे यह यह स्वतः सिद्ध हो जाती है कि श्री पार्श्वनाथ भगवानके उपदेश प्राप्त उनकी शिष्यपरम्पराके साधु भी नग्न ही होते थे; इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रंथोंका यह कथन असत्य तथा निराधार प्रमाणित होता है कि श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरकी शिष्यपरम्पराके महाव्रतधारी साधु वस्त्र पहनते थे।

वॉरनफ साहिबका मत है कि जैनसाधु ही नग्न होते थे और बुद्ध नग्नताको आवश्यक नहीं समझते थे।

श्री सम्मेदशिखर तीर्थक्षेत्रके इंजकशन केसका फैसला देते हुए रांची कोर्टके प्रतिभाशाली प्रख्यात सब जज श्रीयुत फणीसन्द्रलाल जी सेन लिखते हैं कि,

" श्वेताम्बरोंका कहना है कि दिगम्बर आम्नाय श्वेताम्बरोंके पीछे हुई है। परन्तु *There is authoritative pronouncement that the Digamber must have existed from long before the Swetambari sect was formed.*

अर्थात्—इस बात के बहुत दृढ़ प्रमाण हैं कि श्वेताम्बरी जैनियोंके पहले दिगम्बर जैनी बहुत पहलेसे मौजूद थे।

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनियाके ११ वें ऐडीशनके १२७ वे पृष्ठपर लिखा है कि श्वेताम्बर लोग ६ ठी शताब्दीसे पाये गये हैं। दिगम्बरी वही प्राचीन निर्ग्रंथ हैं जिनका वर्णन बौद्धकी पाली पिटकोंमें आया है।

वेदान्तसूत्रके शाङ्करभाष्यमें द्वितीय अध्याय, दूसरा पाद ३३ वें सूत्र " नैकस्मिन्नसंभवात् " की टीकामें यों लिखा है—

" निरस्तः सुगतसमयः विवसनसमय इदानीं निरस्यते। सप्त चैषां पदार्थाः सम्मता जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षा नाम।"

यानी—बौद्ध मतका खंडन किया अब वस्त्र रहित दिगम्बरोंका मत खंडित किया जाता है। इनके सिद्धान्तमें जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ हैं।

इस प्रकार इस ग्रंथमें भी जैनधर्मको दिगम्बरोंके नामसे सम्बोधन किया गया है।

सर विलियम हंटर साहब लिखित ' दी इन्डियन ऐम्पायर ' (भारत राज्य) पुस्तकके २०६ ठे पृष्ठपर लिखा है।

" दक्षिणी बौद्धोंके शास्त्रोंमें भी नग्न जैन दिगम्बरोंके और भले प्रकार बौद्धोंके बीचमें सम्वाद होनेकी एक बात लिखी है।"

' जैनमित्र ' के भाद्रपद कृष्णा द्वितीया वीर सं० २४३५ के (१० वां वर्ष १९–२० वां अंक) १० वें पृष्ठपर मिस्टर बी. डेविस राइस सी. आई. ई. के लेखका सार भाग यों प्रकाशित हुआ है—

" समयके फेरसे दिगम्बर जैनियोंमेंसे एक विभाग उठ खडा

हुआ जो इस प्रकारके कट्टर साधुपनेसे विरुद्ध पडा। इस विभागने अपना नाम ' श्वेताम्बर ' रक्खा। यह बात सत्य मालूम होती है कि अत्यंत शिथिल श्वेताम्बरियोंसे कट्टर दिगम्बरी पहलेके हैं। "

जर्मनीके प्रख्यात विद्वान प्रोफेसर हर्मन जैकोबीने श्वेताम्बरीय ग्रंथ उत्तराध्ययनका अंग्रेजी अनुवाद किया है उसमें दूसरे व्याख्यानके १३ वें पृष्ठपर उन्होंने लिखा है कि—

" जब एक नग्न साधु जमीनपर पडेगा उसके शरीरको कष्ट होगा। "

इसके आगे उन्होंने सातवें व्याख्यानके २९६ वें (२१) वें पृष्ठपर यों लिखा है—

" वह जो कपडे धोता है और संहारता है नग्न मुनि होनेसे बहुत दूर है। "

इस प्रकार एक निष्पक्ष दार्शनिक तत्ववेत्ता विद्वान भी श्वेतांबरीय ग्रंथ द्वारा नग्न दिगम्बर साधुके महत्वका स्पष्ट उल्लेख करता है।

श्रीयुत नारायण स्वामी ऐयर बी. ए. एल. एल. बी. संयुक्त मंत्री थियोसोफिकल सोसायटी अडयार मद्रासने बंबईमें ता. २० से २७ जून सन १९१७ में ' हिंदूसाधु ' के विषयपर व्याख्यान दिये थे उनमेंसे उन्होंने एक व्याख्यानमें जो कहा था उसका हिंदी अनुवाद यह है कि—

" दिगम्बरपना साधुकी सर्वोच्च अवस्था है। साधु उच्च दशापर पहुंचनेके लिये आकाशके समान नग्न हो। "

मिष्टर ई. वेस्टलेक एफ. आर. ए. आई. फोर्डिंग ब्रजने लंदनके डेलीन्यूजमें १८ अप्रैल सन १९१३ में लिखा है कि—

" इस विषयपर अभ्यास करनेसे मैं कह सकता हूं कि जे. एफ. विल्किनसन साहिबका यह कथन कि जो जातियां वस्त्र नहीं पहनतीं उनका सच्चरित्र सबसे ऊंचा होता है यात्रियोंके द्वारा पूर्ण प्रमाणित है। यह सच है कि वस्त्र पहनना कलाकौशल और उच्च दरजेकी सभ्यतामें गाना जाता है। परन्तु इससे स्वास्थ्य और सच्चरित्र

इतनी नीची दशाके रहते हैं कि कोईभी वस्त्रधारी सभ्यजन उच्चतर दशापर पहुंचनेकी आशा नहीं कर सकता।"

इन्डियन सेन्टिकेरी (जुलाई १९००) पुस्तक नं. ३० में अलब्रेट वेवर द्वारा लिखित "भारतमें धार्मिक इतिहास" नामक लेखमें लिखा है कि—

"दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते हैं क्योंकि न केवल ऋग्वेद संहितामें इनका वर्णन "मुनयः वातवसनाः" अर्थात् पवन ही हैं वस्त्र जिनके इस तरह आया है किंतु सिकंदरके समयमें जो हिंदुस्थानके जैन सूफियोंका प्रसिद्ध इतिहास है उससे भी यही प्रगट होता है।"

रे व जे. ष्टेवेन्सन डी. डी. प्रेसीडेन्ट रॉयल एशियाटिक सोसायटीने ता. २० अक्टूवर सन १८५३ को एक लेख पढा था जो कि सुसायटीके जर्नल जनवरी १८५५ में छपा है। इस लेखमें बौद्धोंके ग्रंथोंमें आये हुए 'तित्थिय' (तीर्थक) शब्दका तथा यूनानी ग्रंथोंमें आये हुए जैन सूफी शब्दका अर्थ क्या है? इन दोनों शब्दोंका अर्थ 'दिगम्बर जैन' ही है अथवा और कुछ! इस बात पर विवेचन करते हुए आप एक स्थानपर लिखते हैं कि वे तीर्थक तथा जैनसूफी दिगंबर जैन ही थे।

आपके मूल लेखका अनुवाद यह है—

"इन तीर्थकोंमें दो बडी विशेष बातें पाई जाती हैं तथा जो जैनियोंके सबसे प्राचीन ग्रंथों और प्राचीन इतिहाससे ठीक ठीक मिलती हैं वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियोंका होना और दूसरे पशुमांसका सर्वथा निषेध। इन दोनोंमेंसे कोई बात भी प्राचीन कालके ब्राह्मणों और बौद्धोंमें नहीं पाई जाती है।"

जैन सूफियोंके विषयमें आपने यह लिखा है—

"क्योंकि दिगम्बर समाज प्राचीन समयसे अब तक बराबर चला आ रहा है। (लेखमें इसकी पुष्टिके अन्य कारण भी बतलाये हैं) इससे मैं यह ही तात्पर्य निकालता हूं कि (पश्चिमीय भारत

में जहां जैन धर्म अब भी फैला हुआ है जो जैनसूफी यूनानियोंको मिले थे वे जैन थे; न तो वे ब्राह्मण थे और न बौद्ध। तथा तक्षशिलाके पास सिकन्दरको इनही दिगम्बरियोंका एक संघ मिला था जिन दिग-म्बरियोंमेंसे एक कालानस नामधारी फारस देशतक सिकन्दरके साथ गया था। "

डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता लिखते हैं कि—

" जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। निर्ग्रन्थों तथा नाथपुत्रका वर्णन बौद्धोंके सबसे प्राचीन पालीग्रंथ त्रिपिटक में आया है जो सन ईसवीसे ५०० वर्ष पहलेका है। ...... सन इसवीके १०० वर्ष पहले एक संस्कृतमें ग्रंथ महायान नामका बना है उसमें खास दि-गम्बर शब्द भी आया है। "

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया जिल्द २५ ग्यारहवीं बार (सन १९११ में) प्रकाशित उसमें इस प्रकार उल्लेख है—

" जैनियोंमें दो बडे भेद हैं एक दिगम्बर दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोडे कालसे शायद बहुत करके ईसाकी ५ वीं शताब्दीसे प्रगट हुआ है। दिगम्बर निश्चयसे लगभग वेही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धोंकी पाली पिटकोंमें (पिटकत्रय ग्रंथमें) आया है। इस-कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसासे ६०० वर्ष पहलेके तो होने ही चाहिये।

राजा अशोकके स्तम्भोंमें भी निर्ग्रंथोंका उल्लेख है (शिलालेख नं. २०) श्री महावीरजी और उनके प्राचीन मानने वालोंमें नग्न-भ्रमण करनेकी एक बहुत बाहरी विशेषता थी जिससे शब्द ' दिग-म्बर ' है। इस क्रियाके (नग्न भ्रमण करनेके) विरुद्ध गौतम बुद्धने अपने शिष्योंको खास तौरसे चिताया था। तथा प्रसिद्ध यूनानी शब्द जैनसूफीमें इसका (दिगम्बर का) वर्णन है। मेगस्थनीज ने (जो राजा चन्द्रगुप्तके समय सन ईसवी से ३२० वर्ष पहले भारत

वर्षमें आया था) इस शब्दका व्यवहार किया है । यह शब्द [दिगम्बर शब्द] बहुत योग्यताके साथ निर्ग्रन्थोंको ही प्रगट करता है " ।

इसी प्रकार विलसन साहब (*H. H. Vilson M. A.*) अपनी पुस्तक) " *Essoysand lecturs on religion of jains* " में कहते हैं कि—

जैनियोंके प्रधान दो भेद हैं दिगम्बर और श्वेतांबर । दिगम्बरी बहुत प्राचीन मालूम होते हैं और बहुत अधिक फैले हुए हैं । सर्व दक्षिणके जैनी दिगम्बरी मालूम होते हैं । यही हाल पश्चिमी भारतके बहुत जैनियोंका है । हिन्दुओंके प्राचीन धार्मिक ग्रंथोंमें जैनियोंको साधारणतासे दिगम्बर या नग्न लिखा है ।

डाक्टर बोगेलने अपनी सन १९१० की रिपोर्टमें लिखा है कि—

" अब मैं जैनियोंके २४ तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंके विषयमें लिखता हूं । मथुरामें जैनियोंका मुख्य कंकाली टीला है जहां डाक्टर फुरहरने बहुतसी मूर्तियां निकाली हैं जो लखनऊके अजायबघरमें हैं । तीर्थंकरों की मूर्तियां पवित्र भारतीय कारीगरी है । इनके आसनोंपर जो शिला लेख हैं उनसे यह कुशान राज्यसे बहुत पहलेकी मालूम होती हैं । सबसे असाधारण बात जो तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंमें है वह उनका नग्नपना है । इसी चिन्हसे बौद्ध मूर्तियोंसे भिन्नता मालूम हो जाती है । यह बात वास्तवमें दिगम्बरी मूर्तियोंके विषयमें ही कही जा सकती है । क्योंकि श्वेताम्बरी अपनी मूर्तियोंको वस्त्र पहनाते हैं और उनको मुकुट तथा आभूषणोंसे सजाते हैं । मथुराके अजायबघरमें जो मूर्तियां हैं वे सब दिगम्बराम्नायकी ही हैं । "

मथुराके कंकाली टीलेसे निकली हुई उक्त प्राचीन प्रतिमाओंके विषयमें श्वेताम्बरी सज्जनोंका कहना है कि डाक्टर फुरहर के कथनानुसार ये समस्त प्रतिमाएं श्वेताम्बरीय हैं. अतः हमारा श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदायसे प्राचीन है । ऐसा ही श्वेताम्बर मुनि आत्मानंदजीने अपने " तत्वनिर्णयप्रासाद " ग्रंथमें लिखा भी है ।

किन्तु श्वेताम्बरी सज्जनोंकी ऐसी धारणा बहुत भूलभरी हुई है। क्योंकि प्रथम तो इन प्रतिमाओंमें से एक-दोके सिवाय प्रायः सब-ही नग्न हैं। उनके शरीरपर वस्त्रका चिन्ह रंचमात्र भी नहीं है। इस कारण दिगम्बरीय मूर्तिविधानके अनुसार वे दिगम्बरी ही हैं। यदि वे श्वेताम्बरी होतीं तो उनपर कम से कम चोलपट्ट (कंदोरा—लंगोट) का चिन्ह तो अवश्य होता। किन्तु उनपर वह बिलकुल भी नहीं है। इस कारण नियमानुसार वे प्रतिमाएं दिगम्बरी ही हैं।

यदि प्रतिमाओं परके लेखमें 'कोट्टिक गण' शब्द लिखा हुआ होनेके कारण उन प्रतिमाओंको श्वेताम्बरीय कहनेका साहस किया जावे तो भी गलत है क्योंकि प्रतिमाओंके निर्माण समयमें कोट्टिकगण श्वेताम्बरीय होता तो प्रतिमाओंकी आकृति भी अन्य श्वेताम्बरीय मूर्तियोंके अनुसार होती। श्वेताम्बरी लोगोंको या तो अपने शास्त्रोंमें यह दिखलाना चाहिये कि अरहन्त प्रतिमा का आकार नग्न रूपमें होता है, वस्त्र का लेशमात्र भी उसके ऊपर नहीं होता। तो तदनुसार वस्त्र मुकुट कुंडल आदि चिन्हों वाली जो मूर्तियां आज श्वेतांबरोंके यहां प्रचलित हैं वे श्वेताम्बरीय नहीं ठहरती हैं। अथवा वस्त्रसहित मूर्तियोंका निर्माण ही श्वेतांबर सम्प्रदायके शास्त्रानुसार होता है ऐसा यदि श्वेतांबर कहें तो इन मथुरासे निकली हुई नग्न मूर्तियोंको श्वेतांबरीय मूर्ति माननेकी भूल हृदयसे निकाल देनी चाहिये। नग्न मूर्ति और वह श्वेतांबरीय हो ऐसा परस्पर विरुद्ध कथन हास्यजनक भी है।

दूसरे प्रतिमाओंपर जो संवत् उल्लिखित हैं उन संवतोंसे वे मथुरा की प्रतिमाएं केवल १७०० सत्रह सौ वर्ष प्राचीन ही सिद्ध होती हैं उससे अधिक नहीं, जब कि इससे पहलेही जैन सम्प्रदायके दिगम्बर, श्वेताम्बर रूपमें दो विभाग हो चुके थे। प्रतिमाओंपर जो संवत है वह प्रायः (कुशान) शक संवत् है क्योंकि जिन राजाओंका वहां उल्लेख है उनका समय अन्य आधारोंसे भी वह ही प्रमाणित होता है। शक संवत् विक्रम संवतसे १३७ वर्ष पीछे तथा वीर संवतसे ६०० छह सौ

वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। वसुदेव संवत् उससे भी ७७ वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। इस कारण उल्लिखित संवतोंसे ये प्रतिमाएं श्वेतांबर सम्प्रदायकी, दिगम्बर सम्प्रदायसे प्राचीनता सिद्ध करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं। क्योंकि इनसे भी सैकड़ों वर्ष पुराने श्रवणबेलगुल व खंडगिरिके शिलालेख दिगम्बर सम्प्रदायका पुरातनत्व सिद्ध कर रहे हैं।

भूगर्भसे प्राप्त प्राचीन दिगम्बर जैन मूर्तियां.

यों तो अभी जहां कहीं भी प्राचीन जैन प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं सब ही दिगम्बर जैनमूर्तियां हैं। उनपर श्वेताम्बरीय प्रतिमाओं सरीखा लंगोटका चिन्ह किसीपर भी नहीं खुदा है। किन्तु अभी ७-८ वर्ष पहले भरतपुर राज्यान्तर्गत बयाना तहसीलके नारोली ग्राममें एक स्थानपर खुदाई हुई थी उसमें संवत् १२ की प्रतिष्ठित दिगम्बर जैन अर्हन्त प्रतिमाएं उपलब्ध हुई थी।

प्रतिमाएं १० थीं जिनमेंसे एक प्रतिमाका चिन्ह मालूम नहीं हुआ शेष ९ प्रतिबिंब श्री ऋषभनाथजी, श्री संभवनाथजी, श्री सुपार्श्वनाथजी, श्री चन्द्रप्रभजी, श्री श्रेयांसनाथजी, श्री शांतिनाथजी, श्री नेमिनाथजी, श्री पार्श्वनाथजी और श्री महावीरजी के हैं। ये सभी प्रतिबिंब आषाढ सुदी १ सं. १२ में जयपुर नगरके प्रतिष्ठित हैं। ये समस्त प्रतिबिंब इस समय बयानाके मंदिरजीमें विराजमान हैं।

उसी नारोली ग्राममें भरतपुर राज्यसे स्वीकारता लेकर गत वर्ष (वीर सं. २४५४) में फिर खुदाई हुई तो १४ प्रतिमाएं फिर निकली जिनमें एक श्री चंद्रप्रभकी, चार श्री पार्श्वनाथजीकी, आठ श्री महावीरस्वामीकी और एक श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकरको मस्तकपर उठाये हुए पद्मावती देवीकी मूर्ति है।

इस प्रकार ये प्रतिबिम्ब पौने दो हजार वर्ष पुराने हैं।

इस कारण इन पूर्वोक्त प्रमाणोंसे अच्छी तरह प्रमाणित होता है कि दिगम्बर सम्प्रदायका रूप जैनधर्मके प्रारम्भ समयसे चला आ रहा है और श्वेताम्बर सम्प्रदायका उदयकाल श्री भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पीछे १२ वर्षके दुष्कालका निमित्त पाकर केवल दो हजार वर्ष से हुआ है।

उपसंहार.

१–जैनधर्म वीतरागताका उपासक है। उसके धार्मिक नियम वीतरागताके उद्देशपर निर्माण हुए हैं। इस कल्पमें जैनधर्मको जन्म देनेवाले भगवान ऋषभदेव भी उत्तम वीतराग थे–नग्न साधु थे। उस वीतराग मार्गका समूल रूप दिगम्बर सम्प्रदायमें विद्यमान है इस कारण दिगम्बर सम्प्रदाय ही पुरातन जैनधर्मका सच्चा स्वरूप है।

२–श्वेताम्बर सम्प्रदाय श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामीके स्वर्गारोहण होनेके पीछे और विक्रम संवत्से लगभग ३०७ वर्ष पहले उत्पन्न हुआ है। उत्तर भारत प्रदेशमें १२ वर्षका घोर दुर्भिक्ष पड़नेके कारण जो जैन साधु मालवा प्रान्तमें रह गये थे उन्होंने नगरमें रहकर अपने सामने आई हुई अनिवार्य आपदाओंको दूर करनेके लिये वस्त्र, दंड, पात्र आदि परिग्रह स्वीकार कर लिया था। उनमेंसे कुछ साधुओंने तो दुर्भिक्ष समाप्त हो जानेपर दक्षिण देशसे अपने समस्त संघके साथ लौटे हुए श्री विशाखाचार्यके उपदेशानुसार प्रायश्चित्त लेकर अपना चारित्र परिग्रह छोड़कर फिर पहलेके समान शुद्ध बना लिया। किंतु जो साधु शिथिलाचारी हो गये थे उन्होंने दुराग्रह वश अपने चारित्रमें सुधार नहीं किया और उन्होंने अपने वेशकी पुष्टि तथा प्रचारके लिये श्वेताम्बर सम्प्रदायकी नींव डाली।

३–दिगम्बर सम्प्रदायको पुरातन सिद्ध करनेवाले अनेक साधन हैं।

क–जैनधर्मके प्रारम्भ समयसे प्रचलित वीतरागता दिगम्बर संप्रदायके ही आराध्य अर्हन्तदेवमें, उनकी प्रतिमाओंमें, महाव्रतधारी साधुओंमें तथा शास्त्रोंमें यथार्थ रूपसे पाई जाती है। वह वीतरागता श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नहीं है।

ख–पुरातन बौद्ध, सनातनी, यूनानी आदि अजैन ग्रंथोंमें जहां कहीं भी जैन साधुओंका तथा पूज्य अर्हन्त प्रतिमाओंका वर्णन आया है वहांपर नग्न दिगम्बर रूपका ही उल्लेख है।

ग–प्रख्यात भारतीय तथा यूरोपीय ऐतिहासिक विद्वान दिगम्बर सम्प्रदायको श्वेताम्बर सम्प्रदायसे पुरातन बतलाते हैं।

४—केवलज्ञान प्रगट हो जानेपर अर्हन्त भगवानको भूख नहीं लगती। अनन्तसुख, अनन्तबल प्रगट हो जानेसे किसी भी प्रकारकी शारीरिक तथा मानसिक पीडा नहीं होती। इस कारण प्रमादजनक कवलाहार वे नहीं करते हैं।

५—केवलज्ञानी अनन्तसुखसम्पन्न होते हैं इस कारण उनके ऊपर मनुष्य, देव, पशु आदिके द्वारा किसी भी प्रकार उपद्रव होकर उनको दुःख प्राप्त नहीं हो सकता।

६—अर्हन्त भगवानकी प्रतिष्ठित प्रतिमापर मुकुट, कुंडल, हार, आदि आभूषण तथा चमकीले वस्त्र पहनाना जैनसिद्धांतके विरुद्ध है—अर्हन्त भगवानका अवर्णवाद है; क्योंकि अर्हंतदेव पूर्ण वीतराग होते हैं तथा उनकी प्रतिमा बनवाकर दर्शन, पूजन, स्तवन आदि करनेका उद्देश भी वीतरागता प्राप्त करना है।

७—मुक्ति प्राप्त करनेका साधन उत्तम साधु बनकर तपस्या करना है। ऐसा करनेसे ही यथाख्यात चारित्र, उत्तम शुक्लध्यान प्राप्त होता है। उत्तम साधु [जिनकल्पी मुनि] वस्त्ररहित नग्न ही होता है। और साधुके नग्न वेशके निमित्तसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। अत एव अनेक दोष जनक वस्त्रोंको धारण करनेवाली स्त्रियां मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं क्योंकि उनके शरीरके अंगोपांगोंकी रचना इस प्रकार होती है कि वे नग्न होकर तपस्या नहीं कर सकती हैं और न उनमें घोर निश्चल तपश्चरण करनेकी उत्तम शक्ति ही होती है। इस कारण स्त्रीको मुक्ति कहना असत्य बात है।

८—जैन सिद्धांतके अनुसार (श्वेतांबरीय सिद्धांत शास्त्रोंके अनुसार भी) तीर्थंकर पद पुरुषको ही प्राप्त होता है। इस कारण स्त्रीको तीर्थंकर पदधारिणी कहना भी असत्य है।

९—जैनधर्म स्वीकार किये विना मनुष्यको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता और जैन सिद्धांतके अनुसार आचार धारण किये विना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता इसलिये अजैन मार्गका अनुसरण करते हुए (अन्यलिङ्ग धारण करते हुए) मनुष्यको मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

१०—मुक्ति प्राप्त करनेके लिये परिग्रहका पूर्ण रूपसे त्याग करना अनिवार्य है। गृहस्थ परिग्रहका पूर्णरूपसे त्याग कर नहीं सकता इस कारण गृहस्थाश्रमसे मनुष्यको मुक्ति प्राप्त होना असंभव है।

११-तीन माससे भी आठ दिन कम का कच्चा शरीर पिण्ड एक माताके गर्भाशयसे निकाल कर अन्य माताके उदरमें रख देना असंभव है क्योंकि ऐसा करनेसे नाभितन्तु टूट जाते हैं और गर्भस्थ जीवकी मृत्यु हो जाती है। इस कारण महावीर स्वामीके गर्भको देवानंदा ब्राह्मणीके उदरसे निकालकर त्रिशलादेवीके गर्भाशयमें पहुचानेकी और वहांपर वृद्धि होनेकी बात सर्वथा असत्य है।

१२—श्वेताम्बरीय शास्त्रोंमें अछेरे बताये गये हैं जिनका कि वास्तविक अर्थ 'आश्चर्य कारक बातें' होता है। उन अछेरोंमेंसे १--केवली भगवानपर उपसर्ग २--ब्यासी दिनके गर्भका अपहरण, ३--स्त्री तीर्थंकर, ४--सूर्य चन्द्रका अपने विमानों सहित उतर कर मध्यलोकमें आना, ५--हरिवंशकी उत्पत्ति और ६—चमरेन्द्रका उत्पात ये अछेरे प्रकृतिविरुद्ध, जैन सिद्धान्त विरुद्ध, असंभवित कल्पनाओंके रूपमें हैं इस कारण सर्वथा असत्य हैं।